सामवेद का परिशीलन

ब्राह्मण ग्रन्थों का परिशीलन

ओम प्रकाश पाण्डेय

सामवेद का परिशीलन

ॐ

सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन

[A Comprehensive Study of the Sāmavedic Brāhmaṇas]

लेखक

डॉ० ओम्‌प्रकाश पाण्डेय

डी० लिट्०

प्राध्यापक, संस्कृत तथा प्राकृत विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

भारत भारती अनुष्ठानम्

प्रकाशक : श्रीमती निर्मलमोहिनी पाण्डेय
भारत-भारती अनुष्ठानम्
३४६, कानूनगोयान
बाराबंकी (उ० प्र०)

प्रकाशन काल : १९९१

मूल्य : रू० २००/-

मुद्रक : सीमा प्रेस
ईश्वरगंगी (भरत मिलाप कालोनी)
वाराणसी

समर्पणम्

'हे पुत्र! पाठं पठ तावकीन–'
मित्यादिना यैश्च सुप्रेरितोऽहम्।
नालोक्य पुत्र – प्रगतिं परञ्च
ते कीर्त्तिशेषाः पितरो बभूवुः॥

स्वजीवने पुत्र – कलत्रतोऽपि
येषां प्रियासीत् सुरभारतीयम्।
तेषां समर्प्य स्मृतये प्रबन्धम्
कृतार्थतां याति च काञ्चिदेषः॥

पूज्य पितृपाद स्व० पं० केशवराम पाण्डेय, साहित्याचार्य की पावन स्मृति में सश्रद्ध समर्पित।

—ओम्प्रकाश पाण्डेय

ॐ नमः सामवेदाय

संस्तुतिः

बेकुरानामासि जुष्टा देवेभ्यो नमो वाचे नमो
वाचस्पतये देविवाग्यत्ते वाचो मधुमत् तस्मिन् माधाः ।।

* * *

संवर्चसा पयसा सन्तपोभिरगन्महि मनसा
संशिवेन संविज्ञानेन मनसश्च सत्यैर्यथा वोऽहं चारुतमं वदानि ।।

* * *

विष्णोः शिरोऽसि यशोधा यशो मयि धेहि ।।
—(तां०ब्रा० १.३.१; १.३.९ तथा १.१.८)

* * *

नीलोत्पलदलाभासं सामवेदं हयाननम् ।
अक्षमालान्वितं वन्दे वामे कम्बुधरं सदा ।।

———

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में अनेक मनीषियों की कृतियों से सहायता प्राप्त हुई। सामवेदीय साहित्य की यशस्वी सम्पादकत्रयी प्रो० बी० आर० शर्मा, पं० ए०एम० रामनाथ दीक्षित तथा पं० पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री ने महत्त्वपूर्ण सुझाव देने के साथ ही बहुविध शंकाओं का निराकरण किया। डॉ० एच० डब्लू० बोडेवित्स (नीदरलैण्ड्स्) तथा डॉ० अस्को परपोला (फिनलैण्ड) ने भी इस कार्य में महती रुचि ली, जैमिनीय ब्राह्मण के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दीं तथा अपने एवम् अन्य अनेक शोध-पत्रों की प्रतियाँ उपलब्ध कराईं। इसी क्रम में श्रद्धेय पं० बलदेव उपाध्याय, ठा० जयदेव सिंह, प्रो० पी० एन० कवठेकर, प्रो० जे० पी० सिनहा, प्रो० शिवशेखर मिश्र, डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, डॉ० वी० के० वर्मा, प्रो० कृष्णलाल, प्रो० डांगे-दम्पति, डॉ० चक्रधर बिजल्वान, प्रो० मानसिंह तथा श्री रमेशचन्द्र रस्तोगी जी उल्लेख्य हैं। विविध सहायताओं के सन्दर्भ में इन सभी के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

आदरणीया माताजी श्रीमती रामकुमारी द्विवेदी (झांसी) ने इस ग्रन्थ के लेखनकाल में साथ रहकर तथा अनेक कष्ट सहकर भी मुझे सुख-सुविधा पहुँचाई। प्रभु के चरणों में प्रार्थना है कि उनकी अनुग्रह-दृष्टि मुझ पर सदैव बनी रहे। शोध-अवधि में मेरी पत्नी श्रीमती निर्मल मोहिनी एवं बच्चों चि० मनीष, मानस एवं महिम्न प्रकाश तथा पुत्री आयुष्मती प्रज्ञा ने जो उपेक्षा सही, तदर्थ वे भी प्रीति एव आशीस् के आस्पद हैं।

कलकत्ता की श्रीमती सरला वसन्त कुमार बिड़ला (अधिष्ठात्री, श्री बृजलाल बियाणी फाउण्डेशन) का भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनकी उदार सहायता इस कार्य के निमित्त मुझे प्राप्त हुई।

श्री आनन्द मिश्र 'अभय', श्री गोपीचन्द्र त्रिपाठी, डॉ० सूर्य प्रकाश टण्डन, श्री कौशल किशोर शुक्ल, डॉ० चन्द्रकान्त द्विवेदी, डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी, डॉ० श्रद्धानन्द तथा अनुजकल्प श्री दर्शनानन्द के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता की अनुभूति कर रहा हूँ।

'ब्रह्म सत्यं च पातु माम्।' (देवताध्यायब्राह्मण ४.५)

ओम् प्रकाश पाण्डेय

संक्षेप-सूची

अथ० सं०	:	अथर्ववेदसंहिता
आ० श्रौ० सू०	:	आश्वलायनश्रौतसूत्रम्
आप० श्रौ० सू०	:	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
आ० क०	:	आर्षेयकल्पः
आ० ब्रा०	:	आर्षेयब्राह्मणम्
ऋ० सं०	:	ऋक् संहिता
ऐत० ब्रा०	:	ऐतरेयब्राह्मणम्
काठ० सं०	:	काठकसंहिता
कात्या० श्रौ० सू०	:	कात्यायनश्रौतसूत्रम्
कौषी० ब्रा०	:	कौषीतकिब्राह्मणम्
गो० गृ० सू०	:	गोभिलगृह्यसूत्रम्
छा० उप०	:	छान्दोग्यउपनिषद्
जैमि० उप० ब्रा०	:	जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणम्
जैमि० ब्रा०	:	जैमिनीयब्राह्मणम्
जैमि० श्रौ० सू०	:	जैमिनीयश्रौतसूत्रम्
तां० ब्रा०	:	ताण्ड्यब्राह्मणम्
तै० सं०	:	तैत्तिरीयसंहिता
तै० ब्रा०	:	तैत्तिरीयब्राह्मणम् ।
देव० ब्रा०	:	देवताध्यायब्राह्मणम्
द्रा० श्रौ० सू०	:	द्राह्यायणश्रौतसूत्रम्
ना० शि०	:	नारदीया शिक्षा
नि० सू०	:	निदानसूत्रम्
ब्रा०	:	ब्राह्मणम्

बौ० गृ० सू०	:	बौधायनगृह्यसूत्रम्
बौ० श्रौ० सू०	:	बौधायनश्रौतसूत्रम्
मी० सू०	:	मीमांसासूत्रम्
मै० सं०	:	मैत्रायणी संहिता
वाज० सं०	:	वाजसनेयिसंहिता
ला० श्रौ० सू०	:	लाट्यायनश्रौतसूत्रम्
शत० ब्रा०	:	शतपथब्राह्मणम्
शाङ्खा० ब्रा०	:	शाङ्खायनब्राह्मणम्
षड्० ब्रा०	:	षड्विंशब्राह्मणम्
संहितो० ब्रा०	:	संहितोपनिषद्ब्राह्मणम्
सामवि० ब्रा०	:	सामविधानब्राह्मणम्
सा० सं०	:	सामवेदसंहिता

विषयानुक्रम

पुरोवाक्

प्रथम परिच्छेद

सामवेदीय साहित्य का परिचयात्मक विवरण 17–54

1. सामवेद का महत्त्व
2. 'साम' का अभिप्राय
3. ऋक्-साम-सम्बन्ध
4. साम का त्रैविध्य
5. सामवेद का स्वरूप
6. आर्चिक एवं गान भाग की व्यवस्था और विन्यास
7. साम-प्रचारगत विवरण
8. सामवेद की शाखाएँ
9. सामवेदीय साहित्य—

कौथुमशाखीय आर्चिक एवं गानग्रन्थ, जैमिनीय शाखा के आर्चिक और गान ग्रन्थ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, साम-लक्षणग्रन्थ–आर्षेयकल्प, क्षुद्रकल्पसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, कल्पानुपदसूत्र, उपग्रंथसूत्र, अनुपदसूत्र, निदानसूत्र, उपनिदानसूत्र, द्राह्यायण श्रौतसूत्र, सामवेदीय गृह्यसूत्र और उनके वर्ण्यविषय, गौतमधर्मसूत्र, यागेतर सामलक्षणग्रन्थ—पुष्पसूत्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र, ऋक्तन्त्र, सामवेद के अप्रकाशित लक्षण ग्रन्थ, छन्दोगपरिशिष्ट—पञ्चविधसूत्र, मात्रालक्षण, स्तोभानुसंहार, गायत्र-विधानसूत्र, शिक्षाग्रन्थ—नारदीय शिक्षा आदि।

10. सामवेदीय साहित्य का अनुक्रम

द्वितीय परिच्छेद

ब्राह्मण–साहित्य के अन्तर्गत सामवेदीय ब्राह्मणों का स्थान और उनका विशिष्ट प्रतिपाद्य 55–88

1. 'ब्राह्मण' शब्द तथा उसका अर्थ
2. ब्राह्मण ग्रन्थों का विवेच्य विषय
3. सामवेदीय ब्राह्मण ग्रंथों की संख्या

4. सामवेद के अनुपलब्ध ब्राह्मण
5. सामवेदीय अनुब्राह्मण
6. सामवेदीय ब्राह्मण और उनका विशिष्ट प्रतिपाद्य—

ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण वंशब्राह्मण, जैमिनिशाखीय ब्राह्मण—जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण।

7. जैमिनीय और ताण्ड्य ब्राह्मणों के मध्य पौर्वापर्यभाव
8. निष्कर्ष।

तृतीय परिच्छेद

सामगान की प्रक्रिया, ऋषि, देवता एवं छन्द 89–123

1. पूर्वगान अथवा प्रकृतिगान—ग्रामेगेयगान तथा अरण्येगेयगान, महानाम्नीपर्व
२. उत्तरगान – ऊह तथा ऊह्यगान
3. योनि
4. गानों का प्रयोजन एवं प्रक्रिया
5. साम-गान की भक्तियाँ
6. पर्व
7. साम-विकार
8. स्तोत्र, स्तोम एवं विष्टुति
9. विंशति भाव-विकार
10. साम-गान की सांगीतिक प्रक्रिया—

साम–संगीत के अध्येता, तीन मूल स्वर, उदात्तादि के साथ षड्जाति स्वरों का तादात्म्य- सामस्वरों के साथ लौकिक स्वरों का समन्वय, साम-स्वरों का विकास-क्रम, त्रिविध स्वर-विस्तार, श्रुति–पञ्चक, अवनर्दन–प्रक्रिया, गात्र–वीणा, वाद्यवृन्द, निष्कर्ष।

11. सामवेद के ऋषि, आचार्य तथा उनकी वंश-परंपरा
12. सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित दैवतविज्ञान
13. छन्दोविचित।

चतुर्थ परिच्छेद

सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ-सम्पत्ति, अभिचार कर्म एवम् अन्य अनुष्ठान 124–261

1. श्रौतयाग—

अवतरणिका. यज्ञों की प्रकृतिविकृतिरूपता, सामब्राह्मणों के अनुसार यज्ञसंस्था का उद्भव, निरूपित श्रौतयाग, सोमयागों का वैशिष्ट्य, अग्निहोत्र, सोमयाग-निरूपण, ऋत्विक् और उनके कर्म, सोमयाग में सोमलता और उसका विकल्प, सोमयागों का वर्गीकरण, अग्निष्टोम की विविधरूपता, देवयजन की रूपरेखा, पञ्चविंश और षड्विंश में निरूपित श्रौत यागों का विहंगमावलोकन, यागों का ताण्ड्योक्त क्रम, जैमिनीय ब्राह्मणगत याग-क्रम ।

अग्निष्टोम :

नामकरण, अनुष्ठानकाल, प्रयोजन, सोमप्रवाकविधि, वरण और अर्घ्यादि, दीक्षणीया, महावीर-संभरण, प्रायणीया, आतिथ्येष्टि, प्रवर्ग्य, उपसद्, औदुम्बरी-उच्छ्रयण, चतुर्थदिन, पशुयाग, प्रातरनुवाकोपाकरण, पञ्चम दिन, एकधन-आनयन, प्रोहणादिकृत्य, सोमरसग्रहण एवं समर्पण, ऋत्विग्वरण-संसर्पण, प्रवृत होम, उपह्वानादि, यजमान-वाचन, माध्यन्दिन सवन, सायंसवन, शस्त्रों एवं स्तोत्रों का संहृत विवरण, स्तोत्रों का औचित्य, स्तोम-विधान का औचित्य, अवभृथ ।

उक्थ्यसंस्थ ज्योतिष्टोम

अतिरात्रसंस्थ ज्योतिष्टोम

अग्निष्टोम प्रकरण में विहित क्षुद्रयाग

व्यूढद्वादशाह :

प्रयोजन, दीक्षाएँ, उपसद् एवं प्रसुत, अनुष्ठान के अधिकारी; प्रथमादि दिनों के अनुष्ठेय का विवरण, दक्षिणा ।

गवामयनसत्र :

दीक्षाकाल, अनुष्ठान-अवधि के पूर्वोत्तर पक्षों का विस्तृत विवरण, महाव्रत, उदयनीय अतिरात्र, दक्षिणा ।

एकाह :

छः एकाह, चार साहस्र, पाँच साद्यस्क्र, चार व्रात्ययज्ञ, पाँच अग्निष्टुत, तीन त्रिवृत्स्तोम, चार चातुर्मास्य, राजसूय, द्वन्द्वसोम, 13 अतिरात्र ।

अहीन :

तीन द्विरात्र, छः त्रिरात्र, चार चतूरात्र, तीन पञ्चरात्र, तीन षड्रात्र, सात सप्तरात्र, दो नवरात्र, चार दशरात्र ।

सत्र :

दो त्रयोदशरात्र, तीन चतुर्दशरात्र, चार पञ्चदशरात्र, षोडशाद्वि-विंशतिरात्र, दो एकविंशतिरात्र, दो चतुर्विंशतिरात्र, तीन त्रयस्त्रिंशद्रात्र, सात एकोनपञ्चाशद्रात्र, आदित्यों से लेकर शाक्त्यों के अयन तक सात अयन, शतसंवत्सर, अग्नि का सहस्र, तीन सारस्वत सत्र, दो इष्ट्ययन, सर्प-सत्र, त्रिसंवत्सर, प्रजापति का सहस्रसंवत्सर सत्र, विश्वसृजामयन ।

2. षड्विंशोक्त विशिष्ट श्रौतयाग—

वैश्वदेव त्रयोदशाह

3. अभिचारयाग—

श्येन, इषु, सन्दंश तथा वज्रयाग

4. ताण्ड्योक्त प्रायश्चित्तयाग
5. षड्विंशोक्त प्रायश्चित्तयाग
6. सामविधान ब्राह्मणगत प्रायश्चित्त-प्रयोग
7. सामविधान ब्राह्मणगत काम्यकर्म
8. सामविधानोक्त आभिचारिक प्रयोग
9. सामविधान ब्राह्मणोक्त काम्य एवम् आभिचारिक अनुष्ठानों का विश्लेषण
10. सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त यज्ञ-विधान का विश्लेषण और विवेचन

पञ्चम परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित सांस्कृतिक शेवधि 262–290

1. ताण्ड्य ब्राह्मणकालीन भारत की भौगोलिक स्थिति और

उसके प्रमुख जनपद

2. आर्थिक एवं सामाजिक जीवन—

आर्थिक स्थिति, वर्ण-व्यवस्था, शिक्षा-प्रणाली, पारिवारिक सुख-सौमनस्य, शृंगार-प्रसाधनों के प्रति आकर्षण, आमोद-प्रमोद, संगीत, नृत्य ।

3. व्रात्य-मीमांसा
4. यति
5. राजनैतिक तत्त्व
6. धार्मिक जीवन—

उपासनाएँ : साम और उसकी भक्तियों की उपासना, मधुविद्या गायत्री द्वारा ब्रह्मोपासना, गायत्र्याख्य ब्रह्म की उपासना के अंगरूप में प्राणोपासना, नादोपासना, शाण्डिल्य-विद्या, विराट् कोशोपासना, जीवन

की यज्ञ रूप में उपासना, ब्रह्म की मन, आकाश और आदित्य रूप में उपासना, अग्नि और पञ्चाग्नि विद्याएँ, नेत्रस्थ पुरुष की उपासना, प्राणविद्योपासना, वैश्वानर आत्मा की उपासना, नामोपासना, वाङ्मयी उपासना, मन-संकल्प आदि की उपसनाएँ, हृदय-कमल में ब्रह्म की उपासना इत्यादि ।

7. निष्कर्ष

8. जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण ।

षष्ठ परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों का साहित्यिक अनुशीलन 291–305

1. भूमिका
2. ब्राह्मण ग्रंथकारों की कलात्मक चेतना
3. मधुमयता की ओर आकर्षण
4. ताण्ड्यब्राह्मण में 'कवि' और 'काव्य' शब्द
5. ताण्ड्यब्राह्मणों में सुलभ काव्यात्मक सौन्दर्य की रूपरेखा—

लाक्षणिकता, उपमा और रूपकादि अलंकारों का प्रयोग, याग और उसके कृत्यों को स्पष्ट करने वाली उपमाएँ, साम-गान अथवा स्तोत्रादि के सन्दर्भ में व्यवहृत उपमाएँ, आध्यात्मिक प्रसंगों में उदाहृत उपमाएँ उपमाओं का वैशिष्ट्य, रूपक-विधान, सर्वाधिक दीर्घरूपक, नर-नारी सम्बन्ध पर आधृत रूपक, पदावृत्ति और अक्षरावृत्तिजन्य लालित्य, प्राञ्जल गद्य, संश्लिष्ट प्रस्तुति ।

6. निष्कर्ष ।

सप्तम परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों का भाषाशास्त्रीय एवं निर्वचनात्मक अध्ययन 306–329

(क) भाषा

1. ब्राह्मणों की भाषा की उपादेयता
2. सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा का विहंगमालोकन
3. सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा का अन्तरंग विश्लेषण—

ध्वनितत्त्व, सन्धियाँ, नामरूप, तिङन्तरूप, कृदन्तरूप, वाक्य-रचना, अप्रचलित शब्दावली ।

4. ताण्ड्य एवं षड्विंश ब्राह्मणों की भाषा का अन्तरंग विश्लेषण—

सन्धियाँ, नामरूप, समास, विशुद्ध वैदिक शब्दों का प्रयोग, तिङन्तरूप, कृदन्त रूप, वाक्य-रचना।

5. जैमिनीय और कौथुमीय ब्राह्मणों की भाषा की तुलनात्मक विवेचना
6. शेष ब्राह्मणों की भाषा का अन्तरंग परिचय
7. भाषा पर संगीत का प्रभाव
8. निष्कर्ष।

(ख) निर्वचन

भूमिका
1. निर्वचन के प्रमुख सिद्धान्त
2. साम-नामों के निर्वचन
3. अन्य निर्वचन, याग और लोकवाचक शब्द
4. क्रिया में क्रिया का सन्धान
5. छन्दों के नाम-निर्वचन
6. निष्कर्ष।

अष्टम परिच्छेद

आख्यायिकाएँ और उनका औचित्य 330–358

1. आख्यायिका : प्रयोजन एवं विभिन्न नाम
2. दैवत एवं पुरातन कथा
3. वैदिक आख्यानों की प्रकृतिमूलकवादी व्याख्या की अपूर्णता
4. ब्राह्मणोक्त आख्यानों की संरचना के प्रमुख तत्त्व
5. सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्य आख्यायिकाओं का प्रमुख प्रतिपाद्य और संख्यात्मक आकलन
6. ताण्ड्य ब्राह्मणगत आख्यायिकाएँ और उनकी मूल विषय-वस्तु—

प्राकृतिक घटनापरक, ऐतिहासिक घटना या व्यक्तिपरक आख्यायिकाएँ, सामाजिक तथा नैतिक दोषों और अपराधों की मूलविषय-वस्तु पर आधृत आख्यायिकाएँ, सामाजिक संस्थाओं के उद्भव और विकासमूलक आख्यायिकाएँ, विद्या तथा श्रद्धाभावना की प्रशंसा, देवस्वभाव विषयक आख्यायिकाएँ, सृष्टि एवं वाणी विषयिणी आख्यायिकाएँ, स्निग्ध स्वर में साम-गान की प्रतिपादक आख्यायिकाएँ।

7. कतिपय रोचक आख्यायिकाएँ

दस्यु का हृदय-परिवर्तन, गन्धर्व और अप्सराओं की प्रेम-लीला, असितधाम्न्य की कन्या और ऋषि गौरिवीत की प्रणयाख्यायिका, इन्द्र

और रानी उपमा की प्रणयाख्यायिका, अवैधकाम-सम्बन्ध पर आधृत आख्यायिका।
8. षड्विंश ब्राह्मणगत आख्यान
9. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मणगत आख्यायिकाएँ
10. छान्दोग्योपनिषद्गत आख्यायिकाएँ।

नवम परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित दार्शनिक तत्त्व और आचार दर्शन 359–365

1. सृष्टि-प्रक्रिया-निरूपण
2. आचार-दर्शन

परिशिष्ट

1. ताण्ड्यादि ब्राह्मणोक्त सामों की सूची 366–373
2. ग्रन्थ-सूची 374– 382

पुरोवाक्

वैदिक वाङ्मय में सर्वोपरि स्थान का आस्पद होने पर भी सामवेद अपनी दुरूह प्रविधि के कारण शोधप्रज्ञों का अधिक अवधान आकृष्ट न कर सका। संहिता (आर्चिक और गानग्रन्थ), ब्राह्मण और लक्षणग्रन्थ—सभी की प्रायः एक-सी स्थिति है। इसके अधोलिखित कारण प्रतीत होते हैं—

(1) साम और ऋक् संहिताओं में अत्यधिक आर्चिक साम्य होने के कारण ऋग्वेद पर विभिन्न दृष्टियों से शोध कार्य करके सामवेद को भी कृतकार्य मान लिया गया।

(2) साम-गान की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। स्थान-भेद से उसमें किञ्चिद् वैभिन्न्य भी है। सामगों की संख्या अतिन्यून है और वे भी अनुसन्धित्सुओं की सहायता से प्रायः विमुख दिखलाई देते हैं। पारम्परिक रुढ़ियोंवश साम-गान के ध्वन्यङ्कन (Tape Recording) के निमित्त सरलता से तत्पर नहीं होते। यद्यपि केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति आदि स्थानों पर ध्वन्यङ्कन का कार्य अंशतः हुआ है किन्तु अधिकांश अवशिष्ट है।

(3) विश्व विद्यालयीय वैदिक अध्ययन-अध्यापन की पद्धति में साम-गान सामवेदीय ब्राह्मण और लक्षण ग्रंथों का किञ्चिदपि समावेश नहीं है।

इस स्वल्पचर्चित सामवेदीय साहित्य विषयक सम्पूर्ण अनुसन्धान-कार्य के त्रिविध पक्ष ये हैं—

(1) आर्चिक और गानग्रन्थों पर आधृत कार्य।
(2) ब्राह्मणग्रन्थों से सम्बद्ध कार्य।
(3) सामलक्षण ग्रन्थों पर आश्रित कार्य।

स्वसाधनों की सीमा और अनेक कठिनाइयों की प्रतीति होने पर भी हमने ब्राह्मणग्रंथों से सम्बद्ध कार्य करने का निश्चय इसलिए किया कि यह क्षेत्र शोध-दृष्टि से प्रायः अस्पृष्ट-सा ही है।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुशीलन की दिशा में पूर्ववर्ती शोध-कार्य का वृत्त इस प्रकार है—

पाश्चात्त्य बिद्वानों ने यागीय क्रिया-कलापों को पौनःपुन्येन नीरस बतलाते हुए भी कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्पादन, अनुवाद और समालोचन का कार्य अति

अध्यवसाय पूर्वक किया है । इस सन्दर्भ में आउफ्रेक्ट तथा हाग (ऐतरेय ब्राह्मण), वेबर तथा एगलिंग (शतपथ ब्राह्मण), गास्ट्रा और ब्लूमफील्ड (गोपथ ब्राह्मण) तथा कीथ के ऋग्वेदीय ब्राह्मणगत कार्य समुल्लेख्य हैं।

साम ब्राह्मणों के क्षेत्र में आर्थर कोक बर्नेल, थियोडार बेनफे, रिचर्ड सिमान और विलेम कालन्द की शोध-शेमुषी प्रथमतः प्रवृत्त हुई। कालन्द ने पञ्चविंश ब्राह्मण का सर्वप्रथम आङ्ग्ल भाषा में अनुवाद किया। एच० ओर्टल (H. Oertal) के साथ सम्मिलित रूप से उन्होंने जैमिनीय ब्राह्मण का भी आंशिक भाषान्तर प्रस्तुत किया था। बर्नेल ने आर्षेय, सामविधान, देवताध्याय, संहितोपनिषद् तथा वंश ब्राह्मण का सम्पादन किया। सिमान ने सामलक्षणग्रंथों की ओर अपने को केन्द्रित किया। इसी अनुक्रम में ईलसिंह और बोली ने षडविंश ब्राह्मण तथा बोंडेवित्स (H. W. Bodewitz) ने जैमिनीय ब्राह्मण के अग्निहोत्र एवं प्राणाग्निहोत्र-प्रकरण (1.65 तक) के आङ्ग्लभाषा में अनुवाद प्रस्तुत किये हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन की दिशा में पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त अवदान की श्लाघा करने पर भी उसे पूर्ण और अन्तिम नहीं माना जा सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(1) प्रतीच्य देशों की धार्मिक व्यवस्थाओं में यज्ञसंस्था सदृश कोई कल्पना नहीं हैं। अतएव यज्ञ-विवेचनबहुल ब्राह्मण ग्रंथों के प्रति समग्रतया न्याय कर पाना तत्तद्-देशीय विद्वानों के लिए सामान्यतः अस्वाभाविक ही है।

(2) तुलनात्मक देवशास्त्र की दृष्टि से भी ब्राह्मणग्रथों में विशेष भारोपीय-सामग्री नहीं है।

इन्हीं कारणों से पाश्चात्य मनीषियों का मन जहाँ ऋग्वेद में बहुत रमा है, वहीं ब्राह्मणों में कम। ब्राह्मणों में उन्हें विशेषताएँ कम दिखी हैं, और विकृतियाँ अधिक। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थ विषयक उनके अभिमत वास्तविक जिज्ञासु के अन्तःकरण के साथ स्वारस्य नहीं स्थापित कर पाते।

सामवेदीय साहित्य पर आधुनिक युग में जिन प्राच्यविपश्चितों ने गवेषणा की है, उनमें श्री आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश, पं० सत्यव्रत सामश्रमी, श्रीपाद सातवलेकर आचार्य रघुवीर, प्रो० वी० एम० आप्टे, पं० चिन्नस्वामि शास्त्री, पं० ए० एम० रामनाथ दीक्षित, डा० बेल्लिकोत्तु रामचन्द्र शर्मा, डा० लोकेशचन्द्र, पं० विभूतिभूषण भट्टाचार्य और पं० पट्टाभिराम शास्त्री अग्रगण्य हैं।

सामश्रमी और सातवलेकर ने सामवेद के आर्चिक और गानग्रंथों के संस्करण साध्यवसाय सम्पादित किये। इनमें से सामश्रमी ने अनेक साम-ब्राह्मणों को भी सम्पादित, अनूदित और प्रकाशित किया। आचार्य रघुवीर ने जैमिनीय सामवेद

संहिता और जैमिनीय ब्राह्मण के सुसम्पादित संस्करण सुलभ कराये। डा० लोकेश चन्द्र का भी शोध-कार्य जैमिनीय ब्राह्मण पर ही है। पं० चिन्नस्वामि शास्त्री ने ताण्ड्य महाब्राह्मण का ससायण-भाष्य दो भागों में सम्पादन किया, जिसमें उनका सहयोग पं० पट्टाभिराम शास्त्री ने किया। विद्वन्मूर्धन्य पं० ए० एम० रामनाथ दीक्षित ने विकृतिगानों (ऊह-ऊह्यगान ग्रन्थ) का सम्पादन कर ताण्ड्यानुशीलन की दिशा प्रशस्त की। उनके द्वारा सम्पादित 'सामतन्त्रम्' और उसकी भूमिका भी उपादेय है। डा० बे० रा० शर्मा ने षड्विंश, सामविधान, देवताध्याय, आर्षेय, संहितोपनिषद्, वंश, जैमिनीयार्षेय तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के साथ ही आर्षेयकल्प, क्षुद्रकल्प, पुष्पसूत्र, प्रतिहारसूत्र, पञ्चविधसूत्र, मात्रालक्षण, द्राह्यायण श्रौतसूत्र, गायत्रविधानसूत्र तथा सामवेदार्षेयदीप के सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण प्रस्तुत कर सामवेदानुशीलियों पर अवर्ण्य उपकार किया है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने सायण-कृत सामभाष्योपक्रमणिका के सुसम्पादन के साथ ही स्वकीय 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' शीर्षक ग्रंन्थ में सामवेदीय साहित्य पर पर्याप्त सामग्री दी है। इसी शृंखला में डा० सूर्यकान्त के 'ऋक्तन्त्रम्' तथा 'कौथुमगृह्यम्' और डा० कैलाशनाथ भटनागर के 'निदानसूत्रम्' के संस्करण भी उल्लेख्य है। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य मनीषियों के भी इस दिशा में प्रकीर्ण कार्य हैं।

उपर्युक्त पूर्ववर्ती साहित्य की विवृति से यह स्पष्ट है कि कतिपय साम-ब्राह्मणों का सम्पादन ओर आङ्लानुवाद होने पर भी उनकी समालोचना का महत्कार्य अद्यावधि अवशिष्ट था। सामवेद-प्रेमियों को इस अभाव की तीव्र अनुभूति हो रही थी, जिसकी पूर्ति के लिए प्रकृत अनुसन्धान-कार्य की योजना नियोजित हुई है।

सामवेदीय ब्राह्मणों में सोमयागों और सामगान के साथ ही सांस्कृतिक, साहित्यिक, भाषा और निर्वचनात्मक तथा आख्यायिकाविषयक पुष्कल सामग्री निहित है, जिसकी समीक्षात्मक प्रस्तुति के निमित्त प्रकृत परिशीलन अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ। इसका प्रयोजन उल्लिखित सामग्री का विवेचन तथा विश्लेषण है। इस प्रकार प्रस्तुत अनुसन्धान-कार्य के माध्यम से लेखक का उद्दिष्ट वस्तुतः सम्पूर्ण सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित तत्त्वसम्पत् का अत्यन्त व्यापक पटल पर उपस्थापन, विश्लेषण और विन्यास है। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक का ज्ञान है, अद्यावधि इस प्रकार का कोई संहत कार्य नहीं हो सका है।

इन पंक्तियों के लेखक ने षड्विंश, सामविधान, देवताध्याय, संहितोपनिषद्, आर्षेय उपनिषद् और वंशाख्य कौथुमशाखीय ही नहीं, जैमिनीय ब्राह्मणों का भी यथाशक्य अनुशीलन कर विषय के प्रति पूर्णतया न्याय करने की चेष्टा की हैं।

सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध नौ परिच्छेदों और दो परिशिष्टों में विभक्त हैं।

प्रथम परिच्छेद में सामवेदीय साहित्य के परिचयात्मक विवरण की समीक्षात्मक प्रस्तुति की गयी है। प्रारम्भ में सामवेद के महत्त्व, 'साम'-अभिप्राय, ऋक्-साम-सम्बन्ध, साम-त्रैविध्य, सामवेद के स्वरूप, आर्चिक एवं गान भागों की व्यवस्था और विन्यास, साम-प्रचारगत विवरण और सामवेद की शाखाओं पर विस्तृत विमर्श है। तदनन्तर संहिता, ब्राह्मण और सामलक्षण ग्रंथों का सर्वाङ्गीण परिचय उपन्यस्त है।

इस प्रचलित धारणा का यहाँ युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है कि सामसंहिता ऋक्संहिता से उद्धृत की गयी है और उसका कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है।

परिच्छेद के अन्त में सामवेदीय साहित्य के अनुक्रम पर नये सिरे से विचार किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में समस्त ब्राह्मण-साहित्य के सन्दर्भ में सामवेदीय ब्राह्मणों का स्थान निर्धारण और उसके विशिष्ट प्रतिपाद्य का विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत है। प्रारम्भ में 'ब्राह्मण' शब्द तथा उसके अर्थ, ब्राह्मणों के विवेच्य विषय, साम-ब्राह्मणों की संख्या, अनुपलब्ध साम ब्राह्मणों तथा अनुब्राह्मणों पर विस्तार से विचार किया गया हैं। तदनन्तर ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों के विशिष्ट प्रतिपाद्य की समीक्षात्मक प्रस्तुति है। परिच्छेद के अन्त में जैमिनीय और ताण्ड्य ब्राह्मणों के मध्य पौर्वापर्यभाव की विवेचना है।

तृतीय परिच्छेद वस्तुतः चतुष्पादात्मक हैं। प्रथम चरण में साम-गान की शास्त्रीय विधि और सांगीतिक प्रकिया की समीक्षा की गयी है। इस सन्दर्भ में प्रकृति और विकृति गानों के स्वरूप तथा प्रयोजन, सामयोनि मन्त्र, गान-प्रक्रिया, विभक्तियों, पर्वों, स्तोभादि सामविकारों, स्तोत्र, स्तोम तथा विष्टुतियों और विंशति भावविकारों का निरूपण किया गया है। द्वितीय चरण में साम-गानगत सांगीतिक प्रक्रिया के अन्तर्गत मूलस्वरों, उदात्तादि के साथ षड्जादि स्वरों के तादात्म्य, लौकिक स्वरों के साथ सामस्वरों के समन्वय, सामस्वरों के विकास-क्रम, त्रिविधस्वर-विस्तार, श्रुतिपञ्चक, अवनर्दन-प्रक्रिया, गात्रवीणा और वाद्य-वृन्द की सविस्तर मीमांसा की गई है।

इस परिच्छेद पर कार्य करते समय यह अनुभव हुआ कि साम-गान-प्रक्रिया वस्तुतः एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है, जिसके सम्पूर्ण प्रस्तवन के लिए निम्न-लिखित कार्य आवश्यक है —

(1) विभिन्न शाखाओं के भिन्न-भिन्न स्थानगत छन्दोगों के साम-गान का ध्वन्यङ्कन;

(2) पुष्पसूत्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्र और उपग्रंथ सूत्रादि साम-लक्षण ग्रन्थों में प्राप्य साम-गानगत विवरण की एकत्र प्रस्तुति,

(3) शास्त्रीय विवरण की वर्तमान साम-गान-पद्धति से तुलना।

इसके साथ ही संगीत की अभिज्ञता भी आवश्यक है। इस प्रकार सम्पूर्ण साम गान-प्रक्रिया की विवेचना के लिएन्यूनतम एक दशक की कालावधि और अनेक सामगों का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है।

साम-गान की सांगीतिक प्रक्रिया के विषय में संगीतज्ञों के सम्मुख जिज्ञासाएं व्यस्त करने पर प्राय नैराश्यपूर्ण और परस्पर विरोधी उत्तर ही उपलब्ध हुए। यहाँ तक कि लब्ध प्रतिष्ठित संगीत-मनीषी स्व० श्री ठाकुर जयदेव सिंह जी ने भी साम-गान की वर्तमान पद्धति को 'सस्वरपाठमात्र' ही बतलाया। इन अपरिहार्य कारणों वश सामगान-विषयक प्रचुर सामग्री अवरुद्ध कर ली गयी है और प्रबन्ध में केवल वही सामग्री सम्मिलित की गई है, जो निर्विवाद है और ब्राह्मण ग्रंथों के अनुशीलन की दृष्टि से जिसकी उपादेयता अविसंबादी है। अवरुद्ध सामग्री के विषय में यही प्रतिश्रुति है कि भविष्य में यथावसर और सौविध्य के अनुरूप उसके विस्तृत विश्लेषण और विवेचन की चेष्टा की जायेगी।

इसके अनन्तर सामवेद के ऋषियों, आचार्यों तथा उनकी वंश परम्परा का विमर्श है।

तृतीय और चतुर्थ पाद क्रमशः दैवतविज्ञान तथा छन्दोविचितविषयक है।

चतुर्थ परिच्छेद में सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ-सम्पत्ति, अभिचार कर्मों और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों की समीक्षा की गयी है। श्रौतयागों का विधान ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमुख उद्दिष्ट है, अतएव यह परिच्छेद प्रकारान्तर से सम्पूर्ण प्रबन्ध का मेरुदण्ड है।

प्रारम्भ में यज्ञानुष्ठानगत सामान्य विवरण है, जिसमें यज्ञों की प्रकृति-विकृति-रूपता, सामब्राह्मणों के अनुसार यज्ञसंस्था के उद्भव, सोमयागों के वैशिष्ट्य, अग्निहोत्र निरूपण, ऋत्विकों तथा उनके कार्यों (आर्त्विज्य), सोम और उसके विविध विकल्पों, सोमयागों के वर्गीकरण, अग्निष्टोम की विविधरूपता और देवयजन की रूपरेखा प्रभृति विषयों की विस्तृत मीमांसा की गई है। पंचविंश और षड्विंश ब्राह्मणोक्त यागों का विहंगमावलोकन तथा पंचविंश तथा जैमिनीय ब्राह्मणगत याग-क्रम की भिन्नता पर विचार किया गया है। तदनन्तर अग्निष्टोम से विश्वसृजामयन तक ताण्ड्योक्त समस्त सोमयागों, जिसमें एकाह, अहीन और सत्र सभी सम्मिलित हैं, का पृथक् निरूपण है। इनमें अग्निष्टोम, द्वादशाह, गवामयन, साद्यस्क्र एकाह, व्रात्ययज्ञ, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, त्रिरात्र, सारस्वत सत्र, सर्पसत्र और विश्व-

सृजामन विशेष उल्लेख्य हैं। षड्विंशोक्त श्येन, इषु, सन्दंश और वज्राख्य अभिचार-यागों, सामविधानोक्त काम्य, प्रायश्चित्त और अभिचारिक अनुष्ठानों की भी विशद विवेचना की गई है।

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित समस्त श्रौतयाग, प्रायश्चित्त प्रयोग काम्यकर्म और आभिचारिक अनुष्ठान, इस परिच्छेद के 150 से भी अधिक पृष्ठों में विवेचित है। इस सन्दर्भ में ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त आर्षेय और क्षुद्र कल्पसूत्रों, लाट्यायन और द्राह्यायण श्रौतसूत्रों तथा इनके वरदराज प्रभृति व्याख्याकारों का भी गम्भीर आलोडन किया गया है। याग-प्रक्रिया को समझने में पं० चिन्नस्वामि शास्त्री के 'यज्ञतत्त्वप्रकाश', विश्वनाथशास्त्रिकृत 'श्रौतपदार्थनिर्वचनम्' तथा 'श्रौतकोश' प्रभृति ग्रंथों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है।

परिच्छेद के अन्त में यज्ञतत्त्व की आन्तरिक संरचना को स्पष्ट करने के लिए अनुसन्धाता विचेष्टित रहा है।

पञ्चम परिच्छेद का उद्दिष्ट ताण्ड्य ब्राह्मण में निहित सांस्कृतिक शेवधि का का उद्घाटन है। सर्वप्रथम ताण्ड्य ब्राह्मणयुगीन भारत की भौगोलिक स्थिति और उसके प्रमुख जनपदों का परिचय प्रस्तुत है। तदनन्तर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवम् आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध सामग्री का समीक्षात्मक उपस्थापन है। इस सन्दर्भ में व्रात्य-समस्या और यतियों के स्वरूप का विवेचन विशेष उल्लेख्य हैं। धार्मिक जीवन के अन्तर्गत धर्म के त्रिस्कन्ध स्वरूप के साथ ही विभिन्न उपासना-प्रणालियों की भी मीमांसा की गई है। अन्त में जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण की विवेचना और धर्म के त्रिधारात्मक स्वरूप का समुन्मीलन निष्कर्ष के अन्तर्गत है।

षष्ठ परिच्छेद में सामवेदीय ब्राह्मणों का साहित्यिक दृष्टि से अनुशीलन है। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही पक्षों के सन्दर्भ में ताण्ड्यगत साहित्यिक चेतना के सन्धान की चेष्टा की गई है। लाक्षणिकता, उपमा और रूपक-विधान, पदावृत्ति तथा अक्षरावृत्तिजन्य लालित्य, प्राञ्जलगद्य, संश्लिष्ट प्रस्तुति प्रभृति इस अनुशीलन के प्रमुख विन्दु हैं।

सप्तम परिच्छेद की सार्थकता सामवेदीय ब्राह्मणों के भाषाशास्त्रीय अध्ययन के सन्दर्भ में है। यह परिच्छेद वस्तुतः दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा का विहंगमावलोकन तथा ध्वनि, सन्धि, नामरूप, तिङन्तरूप, कृदन्त, वाक्यरचना और शब्दावली के प्रचलन की दृष्टि से अन्तरंग विश्लेषण है और द्वितीय में ताण्ड्यादिगत निर्वचनों का मीमांसन।

अष्टम परिच्छेद सामवेदीय ब्राह्मणों में उपलब्ध आख्यायिकाओं के विवेचन विश्लेषण, वर्गीकरण और औचित्य-निरूपण की दृष्टि से अन्वर्थ है ।

प्रारम्भ में आख्यायिका के प्रयोजन, विभिन्न नामों और उसकी संरचना के प्रमुख तत्त्वों की समालोचना है । तदनन्तर विविध दृष्टियों से उनका वर्गीकरण है । कतिपय रोचक आख्यायिकाओं को प्रस्तुत भी किया गया है ।

इस परिच्छेद में आख्यायिकाओं की विवेचना ताण्ड्य, जैमिनीय, षड्विंश, जैमिनीयोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद्गत आख्यान-आख्यायिकाओं के तुलनात्मक सन्दर्भ में की गई है ।

इन आख्यायिकाओं की संरचना समझने में डा० प्रभाकरनारायण कवठेकर के 'नीति कथा का उद्गम एवं विकास' शीर्षक ग्रंथ से उल्लेखनीय सहायता प्राप्त हुई है । तदर्थं लेखक उनके प्रति आभारी है ।

नवम परिच्छेद का उद्देश्य ताण्ड्यब्राह्मणगत दार्शनिक विषयवस्तु का विवेचन है । प्रारम्भ में छान्दोग्य उपनिषद्गत दार्शनिक सामग्री पर भी इस परिच्छेद के अन्तर्गत विचार करने की योजना थी क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् मूलतः उपनिषद् ब्राह्मण के साथ सम्बद्ध है, किन्तु कालान्तर से इसका परिहार करना पड़ा, क्योंकि ब्राह्मण और उपनिषद्गत तत्त्वज्ञान में उल्लेखनीय अन्तर है ।

अतएव इस परिच्छेद में केवल ताण्ड्य और षड्विंशगत सृष्टि-प्रक्रिया और आचार-दर्शन ही समाविष्ट हैं।

यह परिच्छेद शोध प्रबन्ध का उपसंहार भी है, क्योंकि ज्ञान की परिणति भारतीय विचार-परम्परा के अनुसार आचार में ही होनी चाहिए । आचाररहित ज्ञान निष्फल वृक्ष और वन्ध्या स्त्री के समान है । अभिप्राय यह कि प्रकृत प्रबन्ध आचारगत फलश्रुति के साथ पूर्णता को प्राप्त करता है ।

प्रबन्ध के परिशिष्ट में ताण्ड्यगत सामों की सूची दे दी गई है जो 'कटकादि-विभूषणम्' के सदृश है।

— ओम प्रकाश पाण्डेय

प्रथम परिच्छेद

सामवेदीय साहित्य का परिचयात्मक विवरण

सामवेद का महत्त्व

वैदिक वाङ्मय में सामवेद का सर्वाधिक महत्त्व सदैव सर्वमान्य रहा है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार जैसे वाक्य-रचना में छन्द, छन्दों में काव्य, काव्यों में गीत और गानों में तान-संलाप प्रशंस्य हैं, वैसे ही समस्त वाङ्मय में वेद, वेदों में सामवेद और सभी सामों में उनके सर्वस्वभूत गान प्रशंसित हैं।[1]

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी साम और उसके आवयवों का वैशिष्ट्य बहुत विस्तार से अनेक रम्य रूपकों के माध्यम से प्रदर्शित है। उद्‌गीथ दृष्टि से ओङ्कार और सामों की उपासना-विधि के प्रसंग में प्राप्य अर्थवादात्मिका आख्यायिकाएँ और रूपक सामवेद की विभूतिमत्ता का उद्‌घाटन अत्यन्त आवर्जक रीति से करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर सामश्रुतियों की मधुकररूपता तथा सामवेदविहित कर्मों की पुष्परूपता का उल्लेख कर कहा गया है कि अभितप्त सामवेद से ही यश, तेज, ऐन्द्रिक सामर्थ्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ—

'सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पम्। तानि वा एतानि सामान्येत्' सामवेदमभ्यतप 'स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत्।'[2]

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेदीय है, अतएव उसमें उसकी प्रशंसा स्वाभाविक ही है, किन्तु उसके अतिरिक्त वैदिक मन्त्र-संहिताओं, इतिहास-पुराणों और स्मृतियों में भी सामवेद की भूयसी प्रशंसा उपलब्ध होती है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है—

ऋगादि मन्त्र-संहिताओं में साम-प्रशंसा :

ऋक् संहिता के अनेक मन्त्रों में कहीं अङ्गिरसों के साम की प्रशंसा है[3] और कहीं पक्षियों का गान सामवेदगान से उपमित है।[4] एक मंत्र में कहा गया है कि जागरणशील को ही साम सुलभ होते हैं, सोते हुए को नहीं—'यो जागार तमु

---

1. छा. उप. 1.1.2
2. वही. 3.3.1-2
3. ऋ सं., 1.107.2 तथा 10.78.5
4. वही. 2.43.2-1

सामानि यन्ति ।'[1] अन्यत्र कथन है कि सभी विद्वान् साम-गायक की प्रशंसा करते हैं और गीयमान साम गायक के संरक्षक सिद्ध होते हैं ।[2] ऋग्वेद में इनके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी सामश्रुतियों का संस्तवन समुपलब्ध है ।[3] ऋग्वत् यजुर्वेद[4] और अथर्ववेद[5] में भी विभिन्न सामों की बहुविध प्ररोचना प्राप्त होती है । इससे प्रतीत होता है कि ऋक् और अथर्वसंहिताओं के समय सामगान निःसन्देह अत्यन्त समृद्ध रूप में विद्यमान था । ऋग्वेद में वैरूप, बृहत्, गौरिवीति, रैवत, अर्क, गायत्र, श्लोक और भद्र प्रभृति सामों के नाम प्राप्त होते हैं । यजुर्वेद में भी रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, यज्ञायज्ञीय, शाक्वर, रैवत गायत्र, गौरिवीति, अभीवर्त्त, क्रोश, सत्रस्यर्द्धि, प्रजापतेर्हृदय, श्लोक, अनुश्लोक, भद्र, राजन, अर्क्य और इलान्द इत्यादि सामों के नाम उपलब्ध होते हैं ।

महाभारतादि इतिहास-ग्रन्थों में साम-संस्तुति :

महाभारतान्तर्गत भगवद्गीता में सामवेद का उल्लेख भागवत-विभूतियों के अन्तर्गत हुआ है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि (10.22) । इन साम-प्रशंसापरक वाक्यों पर विचार करने से प्रकट है कि इनमें सामवेदीय शब्द ब्रह्म की विशिष्ट भूतिमत्ता गानरूप सामवेद की श्रीसम्पन्नता, तान के संयोग से मन्त्र-पर्वों की समूर्जितता तथा विकारादि के अनुसन्धान से सामवेद के वैभव का स्पष्ट रूप से उद्घाटन किया गया है । अन्ततः विचार्य बिन्दु यह है कि त्रयीस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में किसी एक वेद के प्रति इतना अधिक ममत्व और पक्षपात क्यों प्रदर्शित किया ? इसके दो कारण प्रतीत होते हैं—प्रथमतः वेणुनाद से सबको आकृष्ट और विलुब्ध करने वाले श्रीकृष्ण की सामवेद पर एतादृशी भक्ति स्वाभाविक ही है, अन्यतः सामवेद भी भगवान् के सदृश त्रयीरूप है, क्योंकि इसमें सामयोनिमन्त्र के रूप में ऋचाएँ, 'महन्मेवोचः' प्रभृत्ति यजुष् और गीत्यात्मक साम संकलित हैं–इस त्रयीरूप सामवेद का त्रयी-रूप प्रभु-रूप से अत्यन्त साम्य है—और सभी का अपने स्वरूप के प्रति पक्षपात होता ही है ।

स्मृतियों और पुराणों में साम-प्रशस्ति :

याज्ञवल्क्य स्मृति में कथन है कि अपने गान के द्वारा साम-गायक परब्रह्म की अनुभूति कर लेता है—

1. ऋ. सं. 5.44.14
2. वही. 10.107.6; तथा 8.81.5
3. वही. 5.54.14; 8.95.7; 8.98.1; 10.36.5 इत्यादि
4. यजु. सं. 10.10-11; 13; 12.4 इत्यादि
5. अथर्व. सं. 8.9.4; 9.6.2 इत्यादि

'यथाविधानेन पठन् साम-गानमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥'[1]

भागवत में सामवेदियों के लिए 'छन्दोग' शब्द व्यवहृत है ।[2] अन्य पुराणों में सामवेद के लिए 'सर्वगेयपुरस्सर' तथा 'गीतिभूषण भूषित' इत्यादि विशेषण आये हैं ।[3] वहाँ सामवेद का आविर्भाव ब्रह्मा के पश्चिम मुख से माना गया है । आविर्भाव के अनन्तर इसका सम्भरण विश्वावसु प्रभृति गन्धर्वों ने किया । आग्नेय[4] काण्व, गवांव्रत[5], गायत्र, ज्येष्ठ, देवव्रत, पञ्चनिधन, बृहत्, भारुण्ड, रक्षोघ्न, रथन्तर, रौरव, रौहिण, वामदेव्य, विकर्ष, वेदव्रत, वैराज तथा शैशवप्रभृति विभिन्न साम पुराणों में विविध कर्मानुष्ठानों के प्रसंग में विनियुक्त हैं । कूर्मपुराण में एक स्थल पर श्राद्धयोग्य ब्राह्मण के लिए 'ज्येष्ठसामा' पद का प्रयोग हुआ है ।[6] कहा गया है कि शैवों को ज्येष्ठसाम बहुत प्रिय है । लिङ्गपुराण में यह शिवलिङ्ग स्नान के सन्दर्भ में विहित है ।[7]

अभिप्राय यह कि वैदिक और वैदिकोत्तर समस्त साहित्य में सामवेद के गौरव-ज्ञापक वचन सुप्राप्य हैं । बृहद्देवतागत यह उक्ति कि सामविद् ही वस्तुतः वेद का तत्त्ववेत्ता होता है, इसी की संहतरूप में प्रस्तुति है—

'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम् ।[8]

वैदिक भाष्यकारों की दृष्टि में सामवेद की उपादेयता :

याज्ञिक दृष्टि से सामवेद की प्रयोजनशीलता पर विचार करते हुए सायणाचार्य का कथन है कि अध्वर्यु के द्वारा यज्ञ के शरीर का निर्माण सम्पन्न हो जाने पर होतृगण उसे शस्त्र, याज्या और अनुवाक्याओं से अलङ्कृत करता है, तदनन्तर उद्गातृ-वृन्द यज्ञदेह को आज्य-पृष्ठादि स्तोत्रों से विभूषित करता है । सामों की स्थिति यज्ञ-देह को मण्डित करनेवाली मणियों और मुक्ताओं के सदृश है—

'शस्त्रयाज्यानुवाक्याभिर्होताऽलङ्कुरुतेऽध्वरम् ।
आज्यपृष्ठादिभिः स्तोत्रैरुद्गाताऽलङ्करोत्यमुम् ॥

....

---

1. याज्ञ. स्मृति, 3.4.112
2. भागवतपुराण, 12.6.53 पर श्रीधर स्वामी की व्याख्या
3. प्रभास क्षेत्र. 2.26-27
4. मत्स्य पुराण, 93.123-132
5. वही. 58.36
6. कूर्मपुराण, 2.21.5
7. लिङ्गपुराण, 1.27.43
8. बृहद्देवता, 8.130

जाते देहे भवत्यस्य कटकादिविभूषणम् ।
आश्रितं मणि-मुक्तादिकटकादौ यथा तथा ॥

यजुर्जाते यज्ञ-देहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ॥
सामाख्या मणि-मुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिता : ॥'[1]

'साम' का अभिप्राय :

छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में प्राप्त उक्तियों से ज्ञात होता है कि साम ऋगाश्रित होता है ।[2] 'साम' शब्द का निर्वचन भी यही प्रदर्शित करता है—'सा च अमश्च तत् साम्नः सामत्वम् ।[3]' 'सा' का अर्थ है 'ऋक्, उससे सम्बद्ध 'अम' षड्जादि स्वरों का उपलक्षक है । तात्पर्य यह कि सामवेद गानस्वरूप है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद केवल मन्त्रात्मक हैं, किन्तु सामवेद मात्र तद्वत् नहीं है । वह ऋगाश्रयभूत होते हुए भी प्रधानतः गानमय ही है, जैसाकि जैमिनि का सूत्र है—'गीतिषु सामाख्या ।'[4] 'साम' संज्ञा मन्त्रगत गीतियों की ही है, केवल मन्त्र की नहीं । छान्दोग्य उपनिषद् के शालावत्य-दाल्भ्य-संवाद में कहा गया है—'का साम्नो गतिरिति ? स्वर इति होवाच ।'[5] बृहदारण्यक उपनिषद् में पुनः यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साम का स्वर ही उसका अपना स्वरूप है—'तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति, हास्य स्वं तस्य स्वर एव स्वम् ।'

ऋक्-साम सम्बन्ध :

जैसाकि ऊपर कहा गया है, ऋगाश्रित गान ही सामवेद में उपलब्ध हैं । इससे व्यक्त होता है कि ऋक् और साम का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । पूर्वमीमांसा के प्रवर्तक जैमिनि ने इस सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही सर्वप्रथम ऋक् का लक्षण

---

1. सामवेदभाष्यभूमिका, 8, 12-13 (पृष्ठ)
2. ऋचि अध्यूढं साम गीयते (छा. उप., 1.6.1; अमोऽहमस्मि सात्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् । ताविह संभवाव, प्रजामाजनयावहे –अथर्व. सं. 14.2.71; ऐत. ब्रा. 8.27; बृहदा. उप. 6.4.20
3. बृहदा. उप. 1.3.22 तथा जैमि, उप. ब्रा. 1.53.5
4. जैमिनि–सूत्र, 2.1.37; इस पर शबरस्वामी का भाष्य है—'विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते', तथा 'गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका साम शब्दाभिलप्या सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते' (मी. सू. 9.2.29 पर भाष्य)
5. छा. उप. 1.8.3.4

किया, तत्पश्चात् साम का। 'यजुष्' का लक्षण उन्होंने अन्त में किया[1] जबकि शतपथादि में ऋगनन्तर यजुर्वेद ही उल्लिखित है, सामवेद का नाम तृतीय स्थान पर है—'त्रयो वेदा अजायन्त–अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः ।[2]

सम्प्रति सामवेदीय मन्त्रों में से 99 मन्त्रों को छोड़कर अवशिष्ट सभी मन्त्र ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं—इन 99 मन्त्रों के विषय में कहा जाता है कि ये ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा में रहे होंगे। स्व० पं० सातवलेकर ने भी इससे साहमत्य व्यक्त किया है।[3] किन्तु इससे मैक्डॉनेल, विण्टरनित्स प्रभृति के उस अभिमत[4] की पुष्टि नहीं होती, जिसके अनुसार ऋग्वेद से सामवेद उद्धृत है। सामवेदियों की यह दृढ़ मान्यता है कि सामवेद संहिता का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है। वह ऋग्वेद की किसी वर्तमान या लुप्त संहिता से उद्धृत नहीं की गई। इस सन्दर्भ में पं. रामनाथ दीक्षित का कथन उल्लेख्य है—'ततश्च गृत्समदादीनां मण्डलदृष्टदृणां काले सामवेद आसीदेव। अतएव ऋग्वेदसंहिताया भिन्नामिमां संहिताम्, ऋग्वेदसंहिता-व्याख्यया अस्या अगतार्थतां च मन्यमानेन सायणाचार्येण पृथक् व्याख्यानाय प्रयत्न आश्रीयते स्म। अपि न स जानाति ऋग्वेदादत्र मन्त्रा उद्धृता इति। ततश्चेयं संहिता यजुर्वेदसंहितेव स्वतन्त्रैव भवेदिति युक्तमुत्पश्यामि।'[5] अपनी मान्यता के समर्थन में इन मनीषियों के प्रमुख तर्क ये हैं—

1. पश्चिमी विद्वानों के ही अनुसार गृत्समदादि के द्वारा दृष्ट मण्डल प्राचीन हैं—इन गृत्समद ऋषि को सामवेद का ज्ञान है।[6] प्रश्न है कि ये साम, जिनसे गृत्समदादि अवगत हैं, किन ऋचाओं पर आश्रित हैं? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि 'प्रजापतेर्हृदयम्' प्रभृति छिन्नगान (लुप्तर्च साम) उस समय

---

1. तेषामृग्यत्रार्थवशेनपादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः शब्दः—मी. सू. 2.1.35-37
2. शत. ब्रा. 11.5.8.3
3. 'शाङ्खायनादिषु ऋग्वेदीयशाखास्वन्यासु पाठभेदभिन्ना एते मन्त्रा भवेयुरिति यत्कैश्चिन्मन्यते तदेव समीचीनमिव प्रतिभाति'।
   —श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; साम. संहिता की भूमिका, पृ. 8।
4. History of Ancient Indian Literature, p. 136.
5. ऊह–ऊह्यगानम्, भूमिका, पृ. 5
6. सामवेद का महत्व निरूपित करते समय ऐसे ऋङ्मन्त्र उल्लिखित किये जा चुके हैं। कतिपय ऐसे ऋङ्मन्त्रों के, जिनमें सामों का स्पष्ट उल्लेख है, सन्दर्भ ये हैं–ऋ. सं. 2.23 16-17; 2.5.3; 2.43.1-2

भी थे, तो पश्चिमी विद्वानों का यह कथन निरस्त हो जाता है कि भाषा और विषय-वस्तु की दृष्टि से ऋक्संहिता सर्वप्राचीन है। उन ऋग्वेदीय मन्त्रों को, जिनमें सामों के साथ उनकी गान-विधि का भी उल्लेख है, प्राचीन और उनमें वर्णित विषय—साम-गान-को अर्वाचीन मानना कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ?

2. सायणादि प्राचीन भाष्यकार यह नहीं मानते कि ऋक् संहिता की व्याख्या करने से साम संहिता की व्याख्या भी हो गई। उन्होंने साम संहिता पर स्वतन्त्र रूप से भाष्य-प्रणयन किया है।

उपर्युक्त युक्तियाँ इस दिशा में नये सिरे से विचार करने के लिए बाध्य कर देती हैं। पश्चिमी विद्वानों की विचार-प्रक्रिया के विपरीत अब इतना तो माना ही जाने लगा है कि यदि कोई मन्त्र ऋग्वेद के साथ अन्य मन्त्र-संहिताओं में भी है, तो वहाँ उसका स्वतन्त्र रूप है। उसके स्वरादि भिन्न होते हैं। प्राचीन भाष्यकार उसकी व्याख्या भी विशेष रूप से उस विशिष्ट संहिता के सन्दर्भ में ही करते हैं।

'ऋचि अध्यूढं साम गीयते'—का मात्र इतना ही अभिप्राय है कि ऋक् और साम के मध्य परस्पर आधार और आधेय भाव विद्यमान है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साम-संहिता ऋक्संहिता से उद्धृत की गई। 'ऋक्' का अर्थ ऋङ् मन्त्र मात्र है, ऋग्वेद नहीं। ये ऋङ् मन्त्र सामवेद के ही आर्चिक ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने ग्रन्थ 'त्रयी परिचय' में विस्तार से प्रतिपक्ष के तर्कों का निराकरण करते हुए यही सिद्ध किया है कि जैसे ऋक्संहिता में सूक्त हैं, उसी प्रकार सामवेद में दशतियाँ हैं—फिर कैसे कहा जाये कि किसको कहाँ से उद्धृत किया गया !

छान्दोग्य उपनिषद् प्रभृति में ऋक्-साम-सम्बन्ध विषयक जो अनेक मनोरम दृष्टान्त दिये गये हैं।[1] वे इसी के उपलक्षक हैं। अभिप्राय यह है कि सामान्यतः 'साम' शब्द व्यापक दृष्टि से संहितागत ऋङ्मन्त्र और तदाधृत गान दोनों के लिए व्यवहृत होता है, किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये, तो वह केवल साम-

1. इयमेवर्गग्निः साम; अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम, द्यौरेवर्गादित्यः साम, नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम; अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम छा. उप, 1.6.1-5

गान का ही ज्ञापक है, जैसा कि प्रो० बे० रा० शर्मा ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है।[1]

'साम' का त्रैविध्य :

साधारणतया गानस्वरूप साम तीन प्रकार के हैं—(1) केवल ऋङ्मन्त्रों पर आश्रित साम, (2) केवल स्तोभों पर आधृत साम; (3) ऋङ्मन्त्र और स्तोभ दोनों पर आधृत साम।

पारिभाषिक दृष्टि में इनमें से प्रथम कोटि के साम 'आविर्गान', द्वितीय प्रकार के साम छिन्नगान तथा तृतीय श्रेणी के साम 'लेशगान' कहलाते हैं, जैसाकि वाञ्छिनाथ का कथन है—

'ऋग्विहीनं छिन्नगानं लेशं स्तोभमृचा सह।
आविर्गानं स्तोभहीनमेवं गानत्रयं विदुः॥'

सामवेद का स्वरूप :

सामवेद के दो मुख्य भाग हैं—आर्चिक तथा गान। 'आर्चिक' शब्द ऋक्-समूह का वाचक है, जिसको भी अवान्तरतः दो भागों में विभक्त किया गया है—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। सामवेद-संहिता में अन्य वेदों के समान विकृतिपाठ नहीं है। इसमें केवल सामयोनि मन्त्र सङ्कलित हैं जो साम-गान के लिए उपादान या आधार सामग्री के रूप में मान्य हैं। इन्हीं मन्त्रों के आश्रय से ऋषियों ने अनेकविध गान प्रदर्शित किये हैं। साम-संहितागत मन्त्र पर स्थित अंक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के बोधक हैं; ये गान के स्वर नहीं हैं। ऋग्वेद में जिस अनुदात्त का प्रदर्शन अधोरेखा से होता है, उसे सामवेद में '3' के अंक से चिन्हित किया जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में जहाँ अनुदात्त के अनन्तर आने वाले उदात्त पर कोई चिह्न नहीं होता, उसे यहाँ '1' के अंक से प्रदर्शित किया जाता है। ऋग्वेद में स्वरित का प्रदर्शन ऊर्ध्वरेखा से होता है, किन्तु सामवेद में उसे '2' के अंक से दिखलाया जाता है। प्रचय पर कोई चिह्न नहीं होता। 'सन्नतरस्वर' रूप अन्तिम अनुदात्त

1. The word 'Sāman' is a comprehensive term implying the samhitā as well as the gānas based on the samhitā text. But strictly speaking the word 'sāman' stands for the 'sāma gāma' and not for the verse-text though it is loosely used to mean both. —Pushpa Sūtram, Intro., p. 11.

की ही भाँति अधोरेखा से प्रदर्शित किये जाते हैं। ये प्रचय और सन्नतर स्वर जहाँ होते हैं, यथाक्रम स्वरित के ही अनुगामी बनते हैं।

आर्चिक भाग की व्यवस्था और विन्यास :

पूर्वार्चिक को 'छन्द आर्चिक' भी कहा जाता है। इसमें छह प्रपाठक अथवा अध्याय हैं; प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध (खण्ड) हैं, प्रत्येक अर्ध में एक 'दशति' है। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इसमें दस ऋचाएँ होनी चाहिए, किन्तु किसी में कुछ कम हैं और किसी में अधिक। दशतियों में संकलित मन्त्रों में प्रायेण देवता तथा छन्दोगत ऐक्य विद्यमान है। ऋक्संहिता में जो ऋचाएँ एक ही देवता से सम्बद्ध होने पर भी विभिन्न ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत होने के कारण पृथक्-पृथक् मण्डलों में अवस्थित हैं, वे भी सामवेद संहिता में एकत्र सुलभ हैं। अग्नि-विषयक मंत्र-समूह के संकलन के कारण प्रथम प्रपाठक आग्नेय काण्ड (अथवा पर्व) कहलाता है। इसके 12 खण्डों में कुल 114 मन्त्र हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठकों तक इन्द्रदेव का आधिपत्य है, जिसे 'ऐन्द्र काण्ड' कहा जाता है। इसमें कुल 352 मन्त्र हैं। पञ्चम अध्याय 'पावमान काण्ड' कहलाता है। इन सभी मन्त्रों का सम्बन्ध सोम से है, जो ऋग्वेद के नवम मण्डल में भी समग्रतया विद्यमान हैं। पावमानकाण्ड की मन्त्र-संख्या है 119। सातवलेकर के संस्करण में पूर्वार्चिक (छन्द आर्चिक) यहीं समाप्त हो जाता है। षष्ठ अध्याय आरण्यकाण्ड है। इसमें देवों और छन्दों का वैविध्य है। साम्य केवल गान-विषयक है। आरण्यपर्व के अनन्तर 'महा-नाम्न्यार्चिक' है, जिसमें मात्र 10 ऋचाएँ हैं—इसे परिशिष्ट के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस प्रकार पूर्वार्चिक में समग्र रूप से 650 ऋङ्मन्त्र संकलित हैं। गान की दृष्टि से पूर्वार्चिक के प्रथम पाँच प्रपाठक 'ग्रामेगेय गान' या 'वेयगान' के अन्त-र्गत हैं। आरण्यपर्व पृथक् रूप से 'अरण्ये गान' के नाम से अभिहित होता है।

उत्तरसंहिता या उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक हैं। प्रथम पाँच प्रपाठक दो-दो भागों में विभक्त हैं—ये प्रपाठकार्ध कहे जाते हैं। अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध हैं। यह व्यवस्था राणायनीयगत है। कौथुमशाखीय छन्दोग इन अर्धों को अध्याय तथा दशतियों को खण्ड कहते हैं। उत्तरार्चिक में कुल 1225 मन्त्र हैं, जिन्हें पूर्वा-र्चिक के 650 मन्त्रों से युक्त करने पर कुल मन्त्र-संख्या 1875 हो जाती है। पूर्वार्चिक के 267 मन्त्र उत्तरार्चिक में पुनः उल्लिखित हैं। ऋग्वेद और सामवेद के आर्चिक भाग में प्रायः समान रूप से उपलब्ध होने वाले मन्त्रों की संख्या 1504 है। 99 ऋचाएँ ऐसी हैं, जो वर्तमान ऋक् संहिता में नहीं प्राप्त होतीं—ये पूर्णतया नवीन हैं।

पुराणोक्त सामप्रचारगत विवरण :

भागवत, विष्णु और वायुपुराणों में सामवेद के प्रचार-प्रसार की विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। तदनुसार महर्षि व्यास ने अपने शिष्यों में से जैमिनि को सामवेद की शिक्षा प्रदान की। जैमिनि की सामशिष्य-परम्परा में तीन नाम प्रमुख हैं—सुमन्तु, सुत्वान् और सुकर्मा। इनमें सुकर्मा ने सर्वाधिक साम-प्रचार किया। वायुपुराण के अनुसार इन्होंने सभी शाखाओं का अध्ययन किया था—**'स सहस्र-मधीत्याशु सुकर्माऽप्यथ संहिताः।'**[1] सुकर्मा के दो निष्ठावान् शिष्य हुए—पौष्यञ्ज और हिरण्यनाभ कौसल्य। पौष्यञ्ज के शिष्य उदीच्य सामग तथा हिरण्यनाभ के शिष्य प्राच्य सामग के रूप में विख्यात हुए। प्रश्नोपनिषद् में हिरण्यनाम का उल्लेख कोसल के राजकुमार रूप में है, अतएव उनकी शिष्य-परम्परा का पूर्व में विस्तार होना स्वाभाविक ही है। पौष्यञ्ज को 'आवन्त्य' कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे संभवतः अवन्ति जनपद (वर्तमान उज्जैन के समीप) के निवासी रहे होंगे। इन दोनों शिष्यों के नामों में विभिन्न पुराणों में वर्तनीगत भिन्नता प्राप्त होती है। पौष्यञ्ज की शिष्य-परम्परा में लौगाक्षि का नाम उल्लेख्य है, जिनके नाम से काठक गृह्यसूत्र सम्बद्ध किया जाता है। राणायनि को इन्हीं लौगाक्षि का शिष्य बतलाया गया है। कुथुमि को भी पौष्यञ्ज का ही शिष्य माना जाता है, जिन्होंने आगे कौथुम शाखा का प्रवर्तन किया। हिरण्यनाभ के शिष्यों में आचार्य कृत का नाम उल्लेख्य है।[2] इनकी शिष्य-परम्परा ने भी सामवेद के प्रचार में महती भूमिका का निर्वाह किया, जैसाकि वायुपुराण में उल्लिखित है—

'सामगानां तु सर्वेषां श्रेष्ठौ द्वौ प्रकीर्तितौ।
पौष्यञ्जिश्च कृतश्चैव संहितानां विकल्पकौ॥'[3]

---

1. वायु पुराण, 61-27
2. जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः। सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम्॥ सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान्। सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः॥ हिरण्यनाभः कौसल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः। शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः॥ उदीच्याः सामगाः शिष्याः आसन् पञ्चशतानि वै। पौष्यज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते॥ लौगाक्षिर्माङ्गलिः कुल्यः कुसीदः कुक्षिरेव च। पौष्यञ्जिशिष्याः जगृहु संहितास्ते शतं शतम्॥ कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशति संहिताः। शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषाः आवन्त्यआत्मवान् —भाग० पु. 12.6.75-80
3. वा. पु. 61-48

नामों में कुछ भिन्नता होने पर भी पुराणों में सामवेद के प्रचार का यह विवरण सत्य प्रतीत होता है। इसमें त्रुटि केवल यह है कि इसमें 'संहिता' और 'शाखा' को पर्याय मान लिया गया है, जिसका निराकरण आगे किया जायेगा।

सामवेद की शाखाएँ :

'सहस्राध्वा सामवेदः'[1] अथवा 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'[2] प्रभृति उल्लेखों से प्रतीत होता है कि सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ होनी चाहिए; किन्तु इस सन्दर्भ में विद्वानों में प्रायः ऐकमत्य है कि 'अध्वा' अथवा 'वर्त्मा' पद शाखावाचक न होकर सामगान की विभिन्न पद्धतियों का द्योतक है; जैसाकि मीमांसा-सूत्र 'अर्थैकत्वाद् विकल्पः स्यात्'[3] पर भाष्य करते हुए शबरस्वामी का कथन है—

"सामवेदे सन्ति सहस्रं गीत्युपायाः। आह। कतमे ते गीत्युपाया नाम उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका सामशब्दाभिलप्या सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षर विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे समधिगताः समाम्नायन्ते।"[4]

इस प्रकार मूलतः सामवेद की 13 शाखाएँ ही प्रतीत होती हैं, जिनके नाम 'सामतर्पण' में प्राप्य हैं—

"राणायनिसात्यमुग्रिव्यासा भागुरिरौलुण्डी गौल्गुलविर्भानुमानौपमन्यवो दारालो गार्ग्यः सावर्णिर्वार्षगण्यश्च ते दश। कुथुमिश्च शालिहोत्रश्च जैमिनिश्च त्रयोदश। इत्येते सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः।"[5]

'चरणव्यूह' में भी 13 शाखाओं का उल्लेख है, किन्तु उनके नाम कुछ भिन्न हैं; वे है–आसुरायणीया; वासुरायणीया, वार्त्तान्तिवेया, प्राञ्जला, राणायनीया, शाट्यायनीया. सत्यमुद्गला, खल्वला, महाखल्वला, लाङ्गला, कौथुमीया, गौतमी, जैमिनीया '।[6]

---

1. षड्गुरुशिष्य के द्वारा किसी प्राचीन 'चरणषट्क' से उद्धृत। सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 'त्रयीपरिचय' में उल्लिखित।
2. व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
3.4 मीमांसा—सूत्र 9.2.29 और उस पर भाष्य।
5. वंशब्राह्मण की दक्षिण भारत में प्राप्त कतिपय पाण्डुलिपियों में 'सामतर्पण' को प्रथम पटल के रूप में रखा गया है, किन्तु प्रो० बे० रा० शर्मा ने उसे परिशिष्ट में ही अपने संस्करण में रखा है।
6. चरणव्यूह; खण्ड—3

तां० ब्रा० में उल्लिखित सामशाखाएँ :

तां० ब्रा० में भी कतिपय साम-शाखा-नाम सुलभ होते हैं; यथा—'भाल्लवि शाखा'—इसमें त्रिवृत्स्तोम की परिवर्तिनी विष्टुति का विशेष महत्व रहा है—'तामेताम्भालवय उपासते।'[1] सामतर्पण में प्रवचनकर्त्ताओं के मध्य 'वाल्लवि' नाम का उल्लेख है। संभव है, दोनों में समानता हो। ताण्ड्य में इसके अतिरिक्त 'त्रिखर्व्वा',[2] 'अभिप्रतारी'[3] 'करद्विष्'[4] 'प्रावाहण्य'[5] आदि शाखाओं के नाम भी उल्लिखित हैं। इनमें से त्रिखर्व्वा शाखीय सप्तदशस्तोमक दशसप्ता विष्टुति के द्वितीय प्रकार के, अभिप्रतारी समास्थिता विष्टुति के, करद्विष एकविंशस्तोम तथा त्रिणवस्तोम की उद्यती नाम्नी विष्टुति के तथा प्रावाहण्य एकविंशस्तोम की प्रतिष्टुति नाम्नी के विष्टुति विशेष भक्त बतलाये गये हैं। अभिप्रतारी नाम्नी शाखा के विषय में कहा गया है कि किसी राजा के नाम पर इसका नामकरण हुआ।

इसके अतिरिक्त आपस्तम्बश्रौतसूत्र, संहितोपनिषद् तथा पुष्पसूत्र में नैगी[6], कालबवी एवं शैलाली प्रभृति शाखाओं का उल्लेख भी मिलता है। संहितोपनिषद् ब्राह्मणगत 'ग्रामेगेयं च लाङ्गलानामेवैके बहुलम्'[7] पर द्विजराजभट्ट के भाष्याव-लोकन से ज्ञात होता है कि कालबवी और शाट्यायनी शाखाएँ मूलतः लाङ्गलशाखा के अन्तर्गत हैं, और यह लाङ्गलशाखा भी वस्तुतः राणायनी शाखा की ही मध्य-वर्तिनी रही है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में 'शैलना गायन्ति'[8] कहकर शैलना शाखानुयायियों के मत का भी प्रस्तवन है।

इन सभी शाखाओं का अस्तित्व साम-गान की किन्ही विशिष्टताओं पर आधृत रहा होगा।

---

1. तां० ब्रा०, 2.2.4
2. वही, 2.8.3
3. वही, 2.9.4
4. वही, 2.15.4 तथा 3.6.4
5. वही, 2.16.5
6. ऋक्तन्त्र—भूमिका, पृष्ट 2 पर डॉ० सूर्यकान्त द्वारा उल्लिखित।
7. संहि० ब्रा०,3.6
8. जैमि०उप०ब्रा० 1.1.2.3

सामवेद की, इस प्रकार प्रभूत शाखाओं[1] के साक्ष्य सुलभ होने पर भी सम्प्रति केवल तीन शाखाएँ ही उपलब्ध होती हैं—कौथुमी, राणायनीया और जैमिनीया।

कौथुम एवं राणायनीय शाखाएँ :

संहिता की दृष्टि से इनमें मन्त्र-क्रमजन्य भिन्नता नहीं है, केवल गणनापद्धति-गत भेद हैं।[2] एक में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक और दशतियों के माध्यम से गणना की जाती है, जबकि अन्य शाखा में अध्याय, खण्ड और मन्त्रों के द्वारा। दोनों ही शाखाओं में आंशिक स्वरोच्चारणजन्य वैभिन्न्य भी है। कौथुमीय जहाँ 'हाउ' कहते हैं, वहीं राणायनीय शाखियों का 'हावु' उच्चारण है, तथा 'राइ' के स्थान पर 'रायि'। ऋग्वेदीय और कौथुमीय 'वाजेषुनो' कहते हैं, अन्य शाखाध्यायी 'वाजेषुणों।' ऐसे ही कतिपय अन्य उच्चारणगत-भेद हैं। अनेक मनीषियों का विचार है कि 'कुसुम' शब्द से व्युत्पन्न 'कौसुम' शब्द 'कौथुम' का पूर्वरूप है, क्योंकि सामवेदीय लक्षण ग्रन्थ पुष्पसूत्र के नामान्तर 'कुसुमसूत्र' या 'कौसुम सूत्र' भी हैं। पुष्पसूत्र का विशेष सम्बन्ध कौथुमी शाखा से ही है।

सर्वाधिक प्रचार इन्हीं कौथुमी और राणायनी शाखाओं का ही रहा है। कौथुम का प्रचलन विन्ध्य के उत्तर में और राणायनी का दक्षिण भारत में रहा है, जैसा

---

1. इन सभी शाखाओं में मूलत. एक ही मन्त्रसंहिता (आर्चिक ग्रन्थ) प्रचलित रही है। हाँ, काल-भेद, स्थान-भेद और उच्चारणादिजन्य भेदों से कुछ मन्त्रों का न्यूनाधिक्य, पौर्वापर्य भले ही हो, किन्तु वास्तविक संहिता-भिन्नता कदापि नहीं रही है, जैसा कि पं० सत्यव्रत सामश्रमी का स्पष्ट विचार है—
तदित्थमेकैकस्य वेदस्य बहुशाखत्वेऽपि एकैकस्याः शाखाया अध्ययनत एवं भवेदधीत एवैकैकोऽपि भेदः, सर्वास्वेव शाखासु मूलसंहितैक्यदर्शनात्, किञ्चित् पाठन्यूनातिरिक्तेन, किञ्चित् पाठक्रमोच्चारणभेदेन, किञ्चिदनुष्ठानपद्धति-भेदादिना च न ह्येवाभवत् वास्तविकः संहिता-भेदः।'
साम-शाखाओं के विषय में तो उनकी धारणा अधिक ही प्रसंगोपात्त है—'वस्तुतः सामवेदस्य गीतिकौशल बहुत्त्वादेव बहुशाखावत्त्वम्, शाखासंख्या तु त्रयोदशैवेत्यस्माकमपि सम्मतमेव'—(दोनो ही उद्धरण 'ऐतरेयालोचन' के पृष्ठों क्रमशः 124 एवं 127 से)।

२. पं० रामनाथ दीक्षित का है—'मन्त्रक्रमे नास्ति भेदः कौथुम राणायनीयानाम्'—(जैमिनीय सामगानम्, भूमिका)।

कि पं० रामनाथ दीक्षित ने—'विन्ध्यस्योत्तरे भारते यज्ञकन्या कौथुमी, दक्षिणे राणायनी शाखा यज्ञधुरं बिभर्त्ति इति प्रामाणिका वर्णयन्ति।'[1] गुर्जरप्रदेश और नागरब्राह्मणों में कौथुम शाखा विशेष प्रचलित रही है। महाराष्ट्र में राणायनी का विशेष प्रचार बतलाया जाता है। प्रा० कालन्द के अनुसार सामवेदीय लक्षण-ग्रन्थों के विख्यात व्याख्याकार वरदराज राणायनीय शाखा के ही अनुयायी थे।[2] डॉ० बे० रा० शर्मा के कथनानुसार किसी समय दक्षिण भारत में राणायनी शाखा का बहुत प्रचार था, किन्तु सम्प्रति केवल आन्ध्र और उत्तरी कर्णाटक में ही उसके कतिपय अनुयायी अवशिष्ट हैं। आन्ध्र प्रदेश में राणायनीय शाखा के दो पाठ हैं—गुर्जरपाठ और ताम्रपर्णी पाठ। सम्प्रति राणायनीय शाखाध्यायी कौथुमीय पाठ को ही अपने सामने रखते हैं। डॉ० शर्मा का अभिमत है कि गुर्जरपाठ अधिक प्राचीन और प्रामाणिक है। उन्हीं की यह भी सूचना है कि मैसूर के दक्षिणी कनारा जिले में जैमिनीय शाखाध्यायी भी कौथुमशाखीय ग्रामेगेय गान और आरण्यक गान को ही आधार मानकर गान करते हैं।

पं० बलदेव उपाध्याय का यह कथन कि 'पुराणों में उदीच्य तथा प्राच्य सामगों का वर्णन होने पर भी आजकल न उत्तर भारत में साम का प्रचार है, न पूर्वी भारत में',[3] सत्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उ०प्र० के उन्नाव जनपद का बड़ौरा ग्राम केवल अपने सामवेदियों के कारण ही प्रसिद्ध है। उक्त ग्राम के सामवेदियों ने साम-गान की यथावत् परम्परा आज भी सुरक्षित बनाये रखी है। स्व० डॉ० राघवन् के द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार दरभंगा के पूर्व महाराज ने बिहार में साम-गान के प्रचलन-हेतु गहरी रूचि ली थी और उनकी सहायता से दक्षिण भारतीय छन्दोगों के द्वारा साम-गान प्रशिक्षण की परम्परा भी पड़ी थी।[4]

कौथुम शाखा का ही दूसरा नाम 'छन्दोगसाम' है, जो तमिलनाडु और कर्नाटक क्षेत्रों में प्रचलित है। ताण्ड्य कौथुम की ही अवान्तर शाखा है। शंकराचार्य ने इस शाखा के समस्त उद्धरण प्रायेण 'ताण्डिनाम् श्रुतिः' कहकर ही दिये हैं।[5]

---

1. जैमिनीय सामगानम्, भूमिका-पृष्ठ-ञ
2. पंचविंश ब्राह्मण का आंग्लानुवाद, भूमिका, पृष्ठ 20
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 155
4. Dr. V. Rāghavan : Present Position of Vedic Recitation and Vedic Shākhās--Kumbhakonam, 1962.
5. (क) अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिन· छा०उप०, शां० भाष्य 3.3.27)
(ख) यथा ताण्डिनामुपनिषदि··· (शांकर-भाष्य 3.36—छाँ० उप०)

जैमिनीय शाखा और उसका वैशिष्ट्य :

यद्यपि इस शाखा के अनुयायियों की संख्या अतिन्यून है और इसका प्रचलन मात्र केरल और तमिलनाडु में बतलाया जाता है; तथापि इनका अपना वैशिष्ट्य है इसका प्राचीन नाम तलवकार है। जिसके अस्तित्व का प्राचीन तमिल अभिलेखों में उल्लेख है। जैमिनीय सामगान के मूलगुरु वेङ्कटराम मखिन् माने जाते हैं।[1]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कौथुम और राणायनीय शाखाओं में मात्र स्वरोच्चारणगत तथा कतिपय मंत्रों के क्रम में ही अन्तर है; इसके विपरीत जैमिनीय शाखा उपर्युक्त दोनों शाखाओं से गान-व्यवस्था, सामों की संरचना और अक्षरजन्य विकृतियों की दृष्टि से प्रभूत भिन्न है। जैमिनीय सामग साम-गान में सभापति-कृत 'धारणा लक्षण' (पाणिक्रियातन्त्र) ग्रन्थ के अनुयायी हैं। कहा जाता है कि जैमिनीय शाखा में अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं—जिन्हें अन्यत्र प्रायः विस्मृत-सा कर दिया गया है। कालन्द[2] तथा बे० रा० शर्मा[3] प्रभृति विद्वानों का इस विषय में साहमत्य है कि जैमिनीय शाखा में प्राचीनतम परम्परा और भाषा-रूप तथा वैयाकरणिक विशेषताएँ एवं विस्मृतप्राय शब्द-शैली सुरक्षित हैं। इस शाखा में प्राचीन रूपों की यह सत्ता तत्शाखीय संहिता और ब्राह्मण तथा

---

1. कलौ तलवकारस्य शाखा येन समुद्धृता। श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यवस्मदगुरुमहं भजे ।। विश्वामित्रकुलाब्धिकौस्तुभमणिः कारुण्यपाथोनिधिः। साग्नस्सुन्दर-गीतरागमिति यत्प्रख्यातनामक्षितौ। गम्भीरध्वनिगानवैभवकृते यो यायजू-काग्रणीः। तं श्री वेङ्कटनाथ दीक्षितमहं वन्दे गुरुं सन्ततम्। श्रीमद्वेङ्कटनाय दीक्षितसुतो बालाग्निहोत्री कविः। सोऽयं जैमिनि सामगो विजयते साहित्य-रत्नाम्बुधिः ।।
2. Caland, Pancāvimsha Brāhmaṇa (Eng. Translation). Introduction p. XX.
3. We may, however, not be wrong if we assume some extent the tradition and also the languages uncontaminated with all its grammatical peculiarities and obseure vocables, besides its style. The reason for this comparative uncontamination must be because of its having very few followers and its subsequent less popularity.

   —Jaiminiāyarsheya Brahmaṇa, Introduction. 8-6.

सूत्रग्रन्थों से भी अभिप्रभाणित होती है, जिसका विस्तृत उपपादन भाषा वाले परिच्छेद में किया जायेगा।

सामवेदीय साहित्य

संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र ग्रन्थों को मिलाकर सामवेद का विस्तृत साहित्य उपलब्ध होता है। 'गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका' में कौथुम-शाखीय सामवेद के अन्तर्गत 52 ग्रन्थों का परिगणन किया गया है।[1] इनमें से आर्चिक और गान-ग्रन्थों तथा ताण्ड्यादि कतिपय ब्राह्मणों को छोड़कर अनेक ब्राह्मणग्रंथों और लक्षणग्रन्थों का सम्बन्ध सामवेद की किसी एक शाखा से नहीं है।

---

1. द्विपञ्चाशत् इमे ग्रन्था. शाखायाः कौथुमेरिह।
प्रोक्ताः सामोदधौ यस्मात् श्रौते स्मार्ते सुनिश्चिताः
वेआरण्यकमहोऽत्र रहस्यं गानमुच्यते।
छन्दस्याण्येके चैवम् मन्त्रः सोत्तरकः स्मृतः॥

छन्दस्यादित्रयं स्तोभः सपदं स्याच्चतुष्टयम्।
अष्टमोपनिषच्चैव ब्राह्मणे समुदाहृताः।
नारदी लोमशी शिक्षा गौतमी चेति वै त्रिधा।
कल्पसूत्रम् तथा क्षुद्रं लाट्यायनकमेव च॥

उपग्रंथाः पञ्चविधो निदानम् ताण्ड्यलक्षणम्।
अनुपद् स्यात् अनुस्तोत्रम् कल्पानुपदमेव च॥
एतत् दशविधं सूत्रम् सामगेषु च विश्रुतम्।
ऋक्तन्त्रं सामतन्त्रं च संज्ञालक्षणमेव च॥

धातु लक्षणकं च स्याद् इति व्याकरणानि च।
अनुक्रमणिका चेति नेगेयं च ततः परम्॥
फुल्लं गोभिलगृह्यं च मन्त्रलक्षणकं तथा।
गायत्रादिविधानं च ततः स्तोभानुसंहरः॥

छन्दोगपरिशिष्टं तु गृह्यसंग्रह एव च।
श्राद्धकल्पे ततो वेद्यासाधनं गोभिलीयकम्॥
स्नानविधिर् उपाकर्म श्रावणेन परो विधिः।
द्विपञ्चाशत् इमे ग्रन्थाः वृषोत्सर्गान्तिगाः स्मृताः॥

इति कौथुमसंज्ञायां ग्रन्थसंख्या यथाक्रमात्।
एतानधीत्य निखिलं वेदोक्तं ज्ञातुमर्हति॥

वे सभी शाखाओं से सामान्यतः सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, जैसाकि अनेक मनीषियों ने इंगित किया है ।[1]

ऊपर 'सामवेद का स्वरूप' शीर्षक के अन्तर्गत प्रदत्त विवरण कौथुमशाखीय सामवेद के आर्चिक भाग का है । यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि कौथुम और राणायनीय शाखाओं के आर्चिक स्वरूप में विशेष भिन्नता नहीं है ।

शेष साहित्य का विवरण इस प्रकार है—

गान-ग्रन्थ

गान-ग्रन्थ वस्तुतः दो प्रकार के हैं—(1) प्रकृतिगान और (2) विकृतिगान । इनमें से प्रकृतिगान के भी दो भाग हैं—ग्रामेगेयगान अथवा वेयगान तथा अरण्येगेयगान । जैसाकि नाम से स्पष्ट है, ग्रामेगेय का गान ग्रामों तथा नगरों में और अरण्येगेय का गान वनों में विहित है । प्रकृतिगान सप्तगानात्मक है, जिसमें से प्रथम चार गान ग्रामेगेयगान के अन्तर्गत हैं और अर्कादि गान अरण्येगेयगान के । अरण्येगेय के अर्क, द्वन्द्व और व्रत--ये तीनों पर्व मिलकर एक गान समझे जाते हैं । प्रकृतिगान का षष्ठ गान है शुक्रियपर्व; और महानाम्नी सप्तम गान है, जो परिशिष्ट के रूप में मान्य है; जैसा कि सर्वानुक्रमणी में कहा गया है—

'गायत्रं प्रथमं गानम् आग्नेयं तु द्वितीयकम् ।
तृतीयमैन्द्रं गानं स्यात् पावमानं चतुर्थकम् ॥
अर्कद्वन्द्वव्रतं चेति त्रीणि पर्वाणि पञ्चमम् ।
षष्ठं च शुक्रियं गानं महानाम्नीति सप्तमम् ॥
एतानि सप्तगानानि प्रकृतेः कथितानि च ।'

प्रकृतिगान का अनेकधा प्रकाशन हो चुका है ।

---

1. From all this it is clear that these general works in sāman technical literature do not expressly profess affinity to any one recension and that they are manuals serving the needs of all shākhās. Again, it may be said that it cannot be firmly concluded on the date of verses and gānas prescribed for rituals that these works belong to any shākhās absolutely.

—Ārsheyakalpa (edited by B. R. Sharma). Intro., p. 55,

विकृतिगान :

यह ऊह तथा ऊह्यगानात्मक रूप से द्विविध है। ऊहगान में सात पर्व हैं—दशरात्र, सम्वत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्रपर्व। ऊह्यगान में भी सात ही पर्व हैं और नामकरण भी ऊह की ही भाँति हुआ है। ऊहगान 23 प्रपाठकों और उह्यगान 16 प्रपाठकों में विभक्त है। इनका भी प्रकाशन हो चुका है।

गानग्रन्थों और गान-प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण द्वितीय परिच्छेद में किया जायेगा।

जैमिनीय शाखा के आर्चिक और गान-ग्रन्थ

जैमिनीय शाखा की सामवेद-संहिता (डॉ० रघुवीर के द्वारा सम्पादित) में 1687 मन्त्र हैं। कौथुमशाखीय संहिता से इसमें 192 मन्त्र कम हैं। मन्त्रों में पाठ-भेद का भी बाहुल्य है। उत्तरार्चिक में कौथुम शाखा की अपेक्षा अनेक नवीन मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० भा० प्र० त्रिपाठी 'वागीश' का यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता कि 'कौथुमीय सामवेद संहिता से जैमिनीय साम-संहिता के पाठ में सर्वथा भेद नहीं है।[1] ऊपर के विवरण से दोनों में स्पष्ट अन्तर व्यक्त है।

जैमिनीय सामवेद का आर्चिक ग्रन्थ चार प्रभागों में विभक्त है। इसके दो भागों में समस्त क्रतुओं के माध्यन्दिन और तृतीय सवनों में विनियुक्त सामों की योनिभूत ऋचाएँ संगृहीत हैं। दूसरे भाग की आख्या आरण्यक है, जिससे ज्ञात होता है कि इस भाग में अरण्य-गेय सामों की आधारभूत ऋचाएँ संकलित है। इससे भिन्न ऋचाएँ प्रथम भाग में समाम्नात हैं। देव-भेद से ये तीन पर्वों में विभक्त हैं—आग्नेय, ऐन्द्र और पावमान काण्ड। आर्चिक के तृतीय भाग में प्रातः सवनादि तीनों सवनों में विनियुक्त सामों की आधारभूत स्तोत्रियाएँ समाम्नात हैं।

प्रथम भाग के आग्नेय पर्व में 12 खण्ड हैं। खण्डों का विभाग छन्दों के आधार पर है। प्रत्येक खण्ड में सामान्यतः 10 ऋचाएँ स्वाध्यायार्थ संगृहीत हैं। इसी कारण इनकी प्रसिद्धि दशति के रूप में है—भले ही किसी खण्ड में ऋचाओं का न्यूनाधिक्य हो। आग्नेयपर्व में कुल 116 मन्त्र हैं अर्थात् कौथुमशाखीय आग्नेय पर्व से इसमें दो मन्त्र अधिक हैं। ऐन्द्र पर्व में भी कौथुम शाखा के समान 352 मन्त्र हैं। पावमान काण्ड की मन्त्र-संख्या (119) भी समान है। छन्दों के विषय में एक यह तथ्य उल्लेखनीय है कि छन्दः शास्त्र में गायत्री के पश्चात् उष्णिक्, ककुभ्

1. 'कौथुमीयसामवेदसंहितातः जैमिनीयसामवेदसंहितापाठे सर्वथा भेदो नास्ति'—'जैमिनीय सामगानम् की भूमिका', पृष्ठ 6 (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित)

अनुष्टुप् का निर्देश है, किन्तु यहाँ क्रम में परिवर्तन है। वह यों कि गायत्री के अनन्तर बृहती और त्रिष्टुप् छन्दस्क मन्त्र दिये गये हैं। पं० रामनाथ दीक्षित के अनुसार इसका याज्ञिक प्रयोजन है। सोमयाग में प्रातःसवनगत मन्त्र गायत्री छन्दस्क होते हैं। वहीं बहिष्पवमान और आज्य स्तोत्रों में साम भी विहित हैं। गायत्री, बृहती और त्रिष्टुप्—ये छन्द माध्यन्दिन सवन को प्रदीप्त करते हैं——माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र में ये ही तीनों छन्द निर्धारित हैं। पृष्ठस्तोत्रों का सम्पादन गायत्री सहित तीन बृहती छन्दों से होता है। तृतीयसवनगत आर्भवपवमानस्तोत्र में गायत्री, ककुप् उष्णिक्, अनुष्टुप् और जगती छन्दों की अपेक्षा होती है, जैसा कि षड्विंशब्राह्मण में कथित है—'पञ्च छन्दः।'

जैमिनीय शाखा के गानग्रन्थ (प्रथम भाग) का भी प्रकाशन हो चुका है। पाठ-भेद और क्रम-भेद के कारण दोनों के गान-ग्रन्थों में भी अन्तर है। जैमिनीय साम-गान के आग्नेय पर्व में कौथुम की अपेक्षा दो गान अधिक हैं। यों भी जैमिनीय साम-गान में अधिक गान हैं, जिनका विवरण द्वितीय परिच्छेद में प्रस्तुत्य हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

सामवेद के आठ ब्राह्मण ग्रन्थों की मान्यता सुदीर्घकाल से है, जैसा कि सायणाचार्य का कथन है——

'अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः, प्रौढं ब्राह्मणमादिमम्।
षड्विंशाख्यं द्वितीयं स्यात् ततः सामविधिर्भवेत्।
आर्षेयं देवताध्यायो भवेदुपनिषत् ततः।
संहितोपनिषद् वंशो ग्रन्था अष्टावितीरिताः॥[1]

सायण से भी पूर्व, कुमारिलभट्ट ने भी सामवेद से सम्बद्ध आठ ही ब्राह्मण ग्रंथ माने हैं —

'ब्राह्मणानि हि यान्यष्टौ सरहस्यान्यधीयते।
छन्दोगास्तेषु सर्वेषु न कश्चिन्नियतः स्वरः॥'[2]

इस प्रकार ताण्ड्य महाब्राह्मण के साथ ही षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, छन्दोग्य तथा संहितोपनिषदाख्य ब्राह्मणों का भी सम्बन्ध कौथुम शाखा से बतलाया जाता है।

जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध अब तक प्रकाशित ब्राह्मण ये हैं—जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण।

---

1. सामवि. ब्रा. भाष्य (वेदार्थ-प्रकाश)-उपक्रमणिका (6-7)
2. तन्त्रवार्तिक, 1·3·12, आनन्दाश्रम—संस्करण, पृ. 140

इनका विस्तृत परिचय यथावसर आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

आरण्यक

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण की प्रसिद्धि तलवकार आरण्यक के रूप में भी है। सामवेद से सम्बद्ध यही एक मात्र आरण्यक ग्रन्थ है। इसमें चार अध्याय और 154 खण्ड हैं।

उपनिषद्

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 16 उपनिषदों का सम्बन्ध समावेद से है, किन्तु सामवेदीय उपनिषदों के रूप में प्रसिद्ध दो ही हैं—छान्दोग्य तथा केन।

यद्यपि कतिपय संस्करणों में दोनों को ही तलवकार शाखीय बतलाया गया है[1], क्योंकि दोनों का शान्तिपाठ एक ही है, तथापि छान्दोग्य का सम्बन्ध निर्विवाद रूप से कौथुम शाखा से है। इस विषय में प्रमुख तर्क ये हैं—

1. उपनिषद्गत शान्ति-पाठ शाखानुसार नहीं हैं।
2. शंकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण प्रायः ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर-भाष्य में 'ताण्डि-श्रुति' के रूप में ही दिये हैं; यथा—'अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः'।[2]—'अश्व इव रोमाणि'[3] ताण्डिनामुपनिषदि[4]—स आत्मा तत्त्वमसि'[5], इत्यादि।
3. छान्दोग्य उपनिषद् मूलतः छान्दोग्य ब्राह्मण की अंशभूत है। सामवेदीय परम्परा वास्तव में उसे ताण्ड्य महाब्राह्मण का ही अन्तिम भाग मानती है।

जहाँ तक केनोपनिषद् का प्रश्न है, बर्नेल ने उसे जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण का अन्तिम भाग (दशम अनुवाक) जब बतलाया,[6] तब पश्चिमी[7] ही नहीं, पौरस्त्य पण्डितों ने भी बिना अधिक विचार किये उसे मात्र तलवकारशाखीय रूप में ही स्वीकार कर लिया—तब से वह भ्रान्ति निरन्तर बनी हुई है। यहाँ तक कि बर्नेल

---

1. छा. उप. के गीता प्रेस, गोरखपुर के संस्करण (चतुर्थ) की प्रस्तावना।
2. ब्रह्मसूत्र-भाष्य, 3.3.26
3. छा. उप. 8.13.1
4. ब्रह्मसूत्र - भाष्य, 3.3.36
5. छा. उप., 6.8.7
6. Burnell, Arthur coke, 1877, a letter Published in "The Academy 12, p. 317, Col. 3 (Sept. 29).
7. केनोपनिषद् को केवल तलवकार शाखीय मानने वाले पाश्चात्य विद्वानों में ए० बी० कीथ, ह्विटनी, पाल डायसन, कालन्द तथा असको परपोला आदि प्रमुख हैं।

के मत को अन्तिम सत्य समझकर शंकराचार्य के इस कथन को कि 'केनोपनिषद् नवम अध्याय का आरम्भ है,'[1] भी अस्पष्ट (Vague) घोषित कर दिया ।[2]

हमारे विचार से केनोपनिषद् का सम्बन्ध छान्दोग्योपनिषद् के ही साथ मुख्यतः रहा है, संभव है, तलवकार शाखा में भी यह स्वीकृत रही हो, किन्तु शंकराचार्य ने इसे छान्दोग्य उपनिषद् के ही आगे का अंश माना है । उनका कथन अस्पष्ट न होकर अत्यन्त स्पष्ट है—उसे भ्रम समझना हमारा ही भ्रम सिद्ध होगा ।

इस सन्दर्भ में प्रमुख तथ्य और तर्क ये हैं—

1. शंकराचार्य ने अपने भाष्यों (ब्रह्मसूत्र के भाष्य सहित) में सामवेद की कौथुम शाखा (-ताण्ड्य) से ही उद्धरण दिये हैं । उनका कोई भी उद्धरण जैमिनीय शाखागत नहीं है ।[3]

2. केन उपनिषद् विषय-वस्तु की दृष्टि से छान्दोग्य उपनिषद् के आगे का अंश प्रतीत होती है । छान्दोग्य उपनिषद् में आठ अध्याय हैं, अतएव केनोपनिषद् की भाष्य-भूमिका में उसे नवमाध्याय का आरम्भ बतलाना यही सूचित करता है कि शंकराचार्य उसे छान्दोग्य उपनिषद् का ही अंश बतलाना चाहते थे, न कि जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण का, जिसमें मात्र चार अध्याय हैं । शंकराचार्य

---

1. 'केनेषित' मित्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्येति नवमस्याध्यायस्यारम्भः । प्राग् एतस्मात् कर्माण्यशेषतः परिसमापितानि, समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि, कर्माङ्गसामविषयाणि च अनन्तरम् च गायत्रसामविषयम् दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यम् । सर्वमेतद् यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितम् निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति'—केनोपनिषद्गत शांकर-भाष्य का अंश ।

2. 'Sankara's description is rather Vague'.—
Dr. ASKO PARPOLA : The Literature and Study of The Jaiminiya Samaveda in retrospect and prospect (a Paper published in Studia Orientalia. XLIII : 6, Helsinki, 1973).

3. जैमि. उप. ब्रा. (3·1·2·2) की अभिप्रतारी-काक्षसेनि विषयिणी आख्यायिका के श्लोक छा. उप. (4·3·5) में कुछ पाठान्तरों के साथ हैं । शंकराचार्य उनकी व्याख्या पाठान्तरों का उल्लेख किये बिना ही मात्र छान्दोग्यगत पाठ के आधार पर करते हैं ।
ब्र. सू.—शांकरभाष्य में ताण्ड्य शाखागत पंचविंश एवं षड्विंश दोनों से ही उद्धरण दिये गये हैं । इसके विपरीत उसमें जैमिनीय ब्राह्मण से कोई उद्धरण नहीं प्राप्त होता ।

का कथन छान्दोग्य उपनिषद् की विषय–वस्तु से सम्पूर्णयता अन्वित हो जाता है।

3. शान्ति-पाठ को एकला वाला पूर्व पक्ष का तर्क हमारे पक्ष में भी चरितार्थ हो जाता है।

4. जब तक कोई विशेष कारण न हो, शंकराचार्य की सूचना को अस्पष्ट (Vague) क्यों कहा जाय ?

इतना स्वीकार करने में हमें कोई हानि नहीं प्रतीत होती कि संभव है केन उपनिषद् ताण्ड्य के साथ ही तलवकार शाखा से भी सम्बद्ध रही होगी।

साम-लक्षण ग्रन्थ

श्रौतसूत्र :

सामवेद से सम्बद्ध प्रमुख श्रौतसूत्रों में मशक गार्ग्यकृत आर्षेयकल्प, क्षुद्र कल्प, लाट्यायन श्रौतसूत्र, द्राह्यायण श्रौतसूत्र एवं जैमिनीय श्रौतसूत्र हैं; जिनका परिचय इस प्रकार है —

आर्षेयकल्प :

सामान्यत: श्रौतसूत्रों और विशेष रूप से साम-लक्षण ग्रन्थों के मध्य इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालन्द के अनुसार आर्षेयकल्प लाट्यायन और द्राह्यायण श्रौतसूत्रों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं।[1]

इसमें एकाह से लेकर सहस्रसंवत्सरसाध्य तक विभिन्न सोमयागों की स्तोम-क्लृप्तियाँ दी गई हैं, जिनसे उनका औद्गात्र पक्ष सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इसमें विविध सामों और उनकी स्तोत्रिय ऋचाओं की सूची मात्र प्रदत्त है, जो किसी सीमा तक याग-परम्परा में रुचि न रखने वाले को नीरस भी प्रतीत हो सकती है। प्रारम्भ गवामयन से है। यह पूर्णतया ताण्ड्य ब्राह्मण के क्रम का अनुसर्त्ता है। 361 दिनों में सम्पद्यमान गवामयन सत्र के अनन्तर इसमें एकाह, अहीन और सत्रयागों से सम्बद्ध औद्गात्र विवरण दिया गया है। श्येन, इषु, संदंश और वज्र प्रभृति अभिचार यागों के निरूपण में, जो पंचविंश में न निरूपित होकर षड्विंश में विहित हैं, आर्षेयकल्प यजुर्वेदीय क्रम का अनुयायी है, जहाँ श्येन का उल्लेख साद्यस्क् के, इषु का बृहस्पतिसव के तथा सन्दंश और वज्र का एकाह-यागों के अनन्तर हुआ है। सोमयागों में गान-विनियोग प्रायेण नियमतः ऊह और ऊह्यग्रन्थों से है, किन्तु इसके कतिपय अपवाद भी हैं, जहाँ ग्रामेगेय और अरण्येगेय से भी गान विहित हैं। आर्षेयकल्प में बतलाया गया है कि तत्तत् सोमयागों के विभिन्न स्तोत्रों में किन सामों का गान किया जाना चाहिए और उनकी स्तोत्रिय

1. Pancaviṃsha Brāhmaṇa Eng. Trans Intro. Page IX.

ऋचाएँ कौन-सी हैं ? प्रतीक ऋक् के प्रथम पाद से उल्लिखित हैं, किन्तु वे उस प्रतीक से प्रारम्भ होने वाले सम्पूर्ण तृच के द्योतक हैं। कल्पकार जब यह अनुभव करते हैं कि ताण्ड्य ब्राह्मण में किसी याग की विस्तार से स्तोम-क्लृप्ति दी गई है, तब वहाँ वे पुनरुक्ति नहीं करते। हाँ, भाष्यकार वरदराज अवश्य उस स्थल पर आवश्यक और अपेक्षित विवरण जुटाकर न्यूनता की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

आर्षेय कल्प के सम्पादन का श्रेय प्रा० कालन्द और बे० रा० शर्मा को है।

क्षुद्रकल्पसूत्र :

यह भी मशक गार्ग्य-कृत है और वस्तुतः आर्षेय कल्प का द्वितीय भाग है, जिसे कालान्तर से, अन्य सामवेदीय ग्रन्थों की भाँति व्याख्याकारों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लिया।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन प्रपाठकों तथा छः अध्यायों में विभक्त है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें क्षुद्र श्रौत यागों (–सोम यागों–) का निरूपण है। प्रथम और द्वितीय अध्यायों (प्रथम प्रपाठक) में विभिन्न प्रकार के काम्ययाग और प्रायश्चित्त वर्णित हैं। द्वितीय प्रपाठक के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में वर्णकल्प, उभयसामयज्ञ, प्रवर्ह्याग, अग्निष्टोम, चतुर्थ अध्याय में पृष्ठ्यषड्हानुकल्प, द्वादशाहानुकल्प तथा तृतीय प्रपाठकगत पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में विभिन्न द्वादशाहगत विकल्प याग निरूपित हैं। इस प्रकार क्षुद्रकल्पसूत्र में 85 एकाहयागों, 22 पृष्ठ्यषडहों तथा अनेकविध द्वादशाहों का वर्णन है। ताण्ड्य ब्राह्मण का अनुसरण इसमें केवल काम्य और प्रायश्चित्त-निरूपण के सन्दर्भ में ही है। प्रायश्चित्त यागों के सन्दर्भ में नराशंस और उपदंशन जैसे कतिपय याग छूट भी गये हैं।

आर्षेय की तुलना में, क्षुद्रकल्प में विस्तार से यागक्लृप्ति दी गयी है। इसमें विष्टुतियों और सम्मत् (विभिन्न छन्दस्क सामों की अक्षर-गणना) का भी उल्लेख है। इस सन्दर्भ में इसका साम्य सामवेदीय ब्राह्मणों से हैं।

उल्लेख है कि क्षुद्रकल्पसूत्र में प्रायश्चित्त यागों की कल्प-सम्पत्तिजन्य विवरण देने के पश्चात् किसी अन्य शाखा का भी अनुसरण किया गया है।[1]

इसमें कतिपय ऐसे यागों का विवरण है जो सामान्यतः अन्य श्रौतसूत्रों में अनुल्लिखित हैं, यथा-ऋत्विगपोहन[2], (जिसका नामान्तर आवापवानग्निष्टोम भी है), पुरस्तात् ज्योति तथा शुक्रजातयः इत्यादि।

---

1. अतः परं क्षुद्रतन्त्रोक्तानां साम्नां शाखान्तरानुसारेण कल्पमाह-क्षुद्रकल्पसूत्रम्, पृष्ठ 98 (होशियारपुर–संस्करण)।
2. क्षुद्रकल्प, 2.9

भाषा और वर्णन-शैली की दृष्टि से यह, विशेष रूप से इसका अन्तिम भाग, सूत्रग्रन्थों के सदृश न होकर ब्राह्मणग्रन्थों के समान है। व्याख्याकार श्रीनिवास ने इसे कहीं-कहीं 'उत्तरकल्पसूत्र' भी कहा है।

ग्रन्थ का समापन द्वादशाहों के आनन्त्य–निरूपण से हुआ है–'एतेन प्रदेशेनापार एव द्वादशाहानां विद्यते न पार इति। न पार इति।'

इसका सम्पादन भी पूर्वोक्त मनीषियों—कालन्द तथा बे० रा० शर्मा ने ही किया है।

लाट्यायन श्रौतसूत्र :

'गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका' की उपर्युक्त सूची के अनुसार कौथुमशाखीय सामवेदीय श्रौतसूत्रों में इसका तृतीय स्थान है। इसमें 10 प्रपाठक हैं। ब्राह्मणोक्त-विधियों के स्पष्टीकरण के लिए सायणाचार्य सदृश भाष्यकार प्राय: इसी को उद्धृत करते हैं।

अग्निस्वामी की व्याख्या के साथ प्रथम बार इसका सम्पादन आनन्दचन्द्र ने कलकत्ता से किया था।

कल्पानुपदसूत्रम् :

इसमें दो प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक 12 पटलों में विभक्त है। कालन्द के अनुसार यह आर्षेयकल्प और क्षुद्रसूत्र का परिशिष्ट है, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों से प्रायः बिना नाम्ना उल्लेख किये उद्धरण दिये गये हैं। केवल एक बार मशक के नाम का उल्लेख है। संभवतः अद्यावधि इसका प्रकाशन नहीं हो सका है।

उपग्रन्थ सूत्र :

इसमें 4 प्रपाठक हैं। कल्पसूत्र सदृश स्वरूप वाले इस ग्रन्थ में, विभिन्न श्रौत-यागों में विनियुक्त सामों की सम्पत् - सिद्धि, प्रायश्चित्त, पृष्ठानुकल्प आदि का निरूपण है। बे० रा० शर्मा के अनुसार यह पूर्वोत्तर भाग सहित आर्षेयकल्प तथा द्राह्यायण और लाट्यायन श्रौतसूत्रों को मिलाकर बने किसी श्रौतसूत्र का परिशेष प्रतीत होता हैं। प्रतिहारसूत्र इसी का अन्तिम भाग अर्थात् चतुर्थ प्रपाठक है जिसमें प्रतिहार भक्ति पर विशेष रूप से विचार किया गया हैं और जिसे सुदीर्घकाल से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की मान्यता प्राप्त है। इसके रचयिता कात्यायन माने जाते हैं, जैसा कि सायण का कथन है—'अयं त्रिष्टुप्सम्पत्तिप्रकारो भगवता कात्यायनेनोपग्रन्थे दर्शितः।'[1] प्रतिहार भाग पर वरदराज–कृत 'दशतयी' व्याख्या प्राप्त होती है। इसका प्रथम बार सम्पादन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने किया था। बे० रा० शर्मा ने केवल अन्तिम भाग 'प्रतिहारसूत्रम्' का सम्पादन किया है।

---

1. तां० ब्रा० (7.4.8) पर सायण-भाष्य।

अनुपदसूत्र :

इसमें 10 प्रपाठक हैं। कालन्द का कथन है कि यह ताण्ड्य ब्राह्मण पर एक प्रकार की वृत्ति (Running Commentry) मात्र है।

निदानसूत्र :

यह भी 10 प्रपाठकों में विभक्त है। सायण ने ताण्ड्य ब्राह्मण-भाष्य में पतञ्जलि के नाम से जो उद्धरण दिया है,[1] वह निदानसूत्र में है।[2] इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के रचयिता पतञ्जलि हैं। इसके प्रथम प्रपाठक (1–7 खंड) को 'छन्दोविचिति' के नाम से भी जाना जाता है। 'छन्दोविचिति' के विभिन्न हस्तलेखों में विभिन्न प्रकार से निदानसूत्र को पतञ्जलि-प्रणीत बतलाया गया है।[3] विभिन्न व्याख्याकारों तथा संपादकों –प्रा० कालन्द प्रमुख—ने भी यही माना है।[4] अनेक आधिकारिक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के मतों की प्रस्तुति के कारण श्रौतयागों के विवेचन की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालन्द ने व्याकरण और कोश की दृष्टि से भी इसकी उपादेयता स्वीकार की है।[5]

'निदान' शब्द 'नि' पूर्वक 'दा' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है आदि-कारण। ऋ० सं० के कतिपय स्थलों पर यही अर्थ मान्य है; किन्तु प्रकृत सन्दर्भ में इसका अर्थ बौद्ध-वाङ्मयगत 'निदानसूत्र' में अभीष्ट अर्थ से, (यद्यपि उससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है), साम्य रखता है। वहाँ इसका प्रयोग किसी विशेष विषय का विवेचन करने वाले सूत्र ग्रन्थ के सन्दर्भ में है। बृहद्देवता[6] तथा वसिष्ठ धर्मशास्त्र[7]

---

1. 'तथा निरालम्बकमता भगवता पतञ्जलिनोक्तम्: सप्तमेऽहन्यर्कः कृताकृतो भवत्यब्राह्मणविहितवाद इति'—तां० ब्रा० 16-5-12 पर सायण-भाष्य।
2. निदानसूत्रम्, 4.7।
3. 'निदानं पतञ्जलिकृतसूत्रम्'; 'पतञ्जलिकृतनिदानसूत्रे छन्दोविचितिः समाप्ता'—इत्यादि।
4. छन्दोविचिति के व्याख्याकार हृषीकेश का कथन है—
   'सामगानां निदानस्था पतञ्जलिकृता हि सा।' 'तत्त्वबोधिनी' कार तातप्रसाद की भी यही सम्मति है –'विघ्नेशं भारतीमीशमाचार्यं च पतञ्जलिम्। नत्वा निदानसूत्रस्य वृत्तिं कुर्वे यथामति ॥'
5. आर्षेयकल्प की भूमिका।
6. एष एव परामृष्टो भाल्लवी ब्राह्मणे द्वृचः।
   निदानसंज्ञके ग्रन्थे छान्दोगानामिति श्रुतिः॥ — बृहद्देवता, 5.23।
7. अथापि भाल्लविनो निदाने गाथामुदाहरन्ति। —वसिष्ठ धर्मशास्त्र, 1.14

के वचनों के आधार पर प्रा० कालन्द ने इसका सम्बन्ध भाल्लवि शाखा से होने की संभावना व्यक्त की है, किन्तु अत्यन्त प्राचीनकाल में ही इसे कौथुम शाखीय रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। 'गृह्यकर्मप्रकाशिका' के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है। यागनिरूपण की दृष्टि से ताण्ड्य ब्राह्मण के साथ निदानसूत्र घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। निदानसूत्र में 'एवमिव ब्राह्मणम्' तथा 'यथा ब्राह्मणम्' कहकर ताण्ड्य ब्राह्मण से उद्धरण दिये गये हैं। निदानसूत्र में कतिपय यागों के वे सभी प्रभेद नहीं दिये गये हैं, तो ताण्ड्य ब्राह्मण में प्राप्त होते हैं; यथा–'चतूरात्र के 'अत्रेश्चतूरात्रम्', 'जामदग्नेश्चतूरात्रम्' 'वसिष्ठस्य चतूरात्रम्' और 'विश्वामित्रस्य चतूरात्रम्' प्रभेदों का उल्लेख निदानसूत्र में नहीं है। लाट्यायन श्रौतसूत्र के विपुलांशों से भी इसका साम्य है। इसके वर्ण्य-विषयों में मुख्यतः छन्दो-विचय, स्तोम और उनके विभिन्न विभाग, सामगानविषयक अन्य सूक्ष्म विवरण तथा सोमयाग होने पर भी इसमें ऊहगान के आर्ध कृतित्व और प्रगाधप्रक्रिया सदृश महत्त्वपूर्ण विषयों पर गम्भीरता से विचार किया गया है। धनञ्जय, गौतम, वसिष्ठ, भरद्वाज, शाण्डिल्यायन प्रभृति नामों का उल्लेखकर उनके मतों को प्रस्तुत किया गया है।

उपनिदानसूत्र :

यह यागेतर लक्षण ग्रन्थ दो पटलों अथवा आठ अध्यायों में विभक्त है। हस्त-लेखों में इसके विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं; यथा—छन्दोविचयः, सामगानां छन्दः, छन्दः परिशिष्ट, छन्दोगपरिशिष्ट। इसमें छन्दोविषयक सामग्री है, जो मूलतः निदान-सूत्र पर आधृत प्रतीत होती है, जैसा कि अन्त में कहा गया है।[1] कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के समान इसके आद्यन्त (8 वें अध्याय) में छन्दोविषयक सामान्य विवरण दिया गया है, तत्पश्चात् साम-संहिता की छन्दोऽनुक्रमणी प्रस्तुत की गई है। ग्रन्थारम्भ भी निदानसूत्रवत् हुआ है –'अथातश्छन्दसां विचयं व्याख्यास्यामः।'

द्राह्यायण श्रौतसूत्र :

इसका सम्बन्ध राणायनीय शाखा से माना जाता है। यह प्रायः लाट्यायन के सदृश है, केवल कुछ सूत्र अधिक हैं। डॉ० बे० रा० शर्मा ने ही इसका भी सम्पादन किया है।[2]

सामवेदीय गृह्य सूत्र

सम्प्रति सामवेद के तीन गृह्य सूत्र उपलब्ध हैं—(1) गोभिल गृह्यसूत्र, (2) खादिर गृह्यसूत्र तथा (3) जैमिनीय गृह्यसूत्र। इनमें से गोभिल का सम्बन्ध कौथुम

---

1. ब्राह्मणात् ताण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः।
   निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्॥
2. गंगानाथ झा के० सं० विद्यापीठ; प्रयाग से प्रकाशित।

से, खादिर का राणायनीय से और जैमिनि का जैमिनीय शाखा से है। इनके अतिरिक्त डॉ० सूर्यकान्त ने 'कौथुमगृह्यम्' के नाम से एक अन्य तथाकथित साम-वेदीय गृह्यसूत्र को खोजकर प्रकाशित कराया है किन्तु विद्वानों का मत है कि यह मूलतः किसी गृह्यसूत्र की टीका अथवा पद्धति मात्र है।

गोभिलगृह्यसूत्र :

यह चार प्रपाठकों एवं 39 खण्डों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में 9 खण्ड हैं तथा अन्यों में 10–10। प्रपाठक-क्रम से ये वर्ण्यविषय हैं--**प्रथम प्रपाठक**—सर्वकर्म सामान्यविधान, होमाधिकारी-निर्णय, अग्न्याधान, नित्यहोम-काल, उपवीक्षविधि, आचमनविधि, वैश्वदेवविधि, बलि-हरण, दर्शपौर्णमास तथा यागान्त्य कर्म। **द्वितीय प्रपाठक**–विवाहकाल-निरूपण, कन्या-परीक्षण, ज्ञाति-कर्म, परिणयविधि, पाणिग्रहण, उत्तर-विवाह, वध्वानयन, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तकरण, सोष्यन्ती होम, जातकर्म, मेधाजनन, निष्क्रमण, नामधेय, पौष्टिक कर्म, मूर्द्धाभिघ्राण और उपनयन।

तृतीय प्रपाठक—गोदान, ब्रह्मचारि-कृत्य, उपाकर्म, अनध्यायविधि, अद्भुतविधि, (अपूर्व घटना घटित होने पर प्रायश्चित्त विधान), स्नातकविधि, समावृत्तविधि, गोपालनविधि, श्रवणाकर्म, आश्वयुजीकर्म, नवयज्ञ, आग्रहायणीकर्म, अष्टकाविधि, अन्वष्टक्य।

चतुर्थ प्रपाठक—पिण्डपितृयज्ञ, शाकाष्टका, वपा-होम, ऋणहोम, हलाभियोग, ब्रह्मवर्चसादिजन्य काम्यकर्म, वस्तुनिर्माणकर्म, वास्तयाग, प्रसादकामकर्म, स्थण्डिल होम, यशस्कामकर्म, पुरुषाधिपत्यादिकाम्यकर्म, स्नातक स्वस्त्ययन विष्टरादिग्रहण-विधि, बद्धगोमुक्तिप्रकार और अर्हणीयपरिगणन। इस प्रकार प्रथम प्रपाठक में अनुष्ठानों की केवल सामान्य विधियों का ही उल्लेख है। द्वितीय प्रपाठक में संस्कारों का विधान प्राप्य है। यशस्काम कर्म, पुरुषाधिपत्यकर्म, वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म और पौष्टिक कर्म आदि कुछ ऐसे कर्मों का इसमें वर्णन है जो अन्य गृह्यसूत्रों में नहीं आये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वर्ण्यविषयों की दृष्टि से इस गृह्यसूत्र का विषयफलक अत्यन्त व्यापक है। गृह्यसूत्रों के मध्य इसे अत्यन्त प्राचीन गृह्यसूत्र माना जाता है। इसमें विनियुक्त मंत्र ब्राह्मण में संगृहीत हैं।

हेमाद्रि ने अपने 'श्राद्धकल्प' में गोभिल का उल्लेख राणायनीय सूत्रकार के रूप में किया है। यों 'गोभिल गृह्यकर्मप्रकाशिका' में इसे कौथुम शास्त्रीय ही माना गया है। इस सन्दर्भ में डॉ० सूर्यकान्त का मत है कि कभी कौथुम शाखा का अपना कौथुमगृह्यसूत्र रहा होगा। कालान्तर में अपनी सुव्यवस्था के कारण गोभिल गृह्य-सूत्र ने कौथुम शाखा में अपना स्थान बना लिया होगा।[1]

---

1. कौथुमगृह्यम् की भूमिका, पृष्ठ 4।

खादिरगृह्यसूत्र :

यह राणायनीय शाखा से सम्बद्ध माना जाता है। प्रा० कालन्द और डॉ० सूर्यकान्त के मतानुसार यह मूलतः गोभिल गृह्यसूत्र का संक्षिप्त रूप है।[1] इस पर रुद्रस्कन्द की वृत्ति प्राप्त होती है। कतिपय विद्वान् गोभिल गृह्यसूत्र को इसका विस्तार मानते हैं। इसके रचयिता आचार्य खादिर माने जाते हैं। इस पर रुद्रस्कन्द की व्याख्या है, जिन्होंने अपने विषय में कहा है—

'नारायणस्य पुत्रेण मखवाटनिवासिना ।
रुद्रस्कन्देन संक्षेपाद् व्याख्यातं गृह्यशासनम् ॥'

खादिर गृह्यसूत्र चार पटलों में विभक्त है, जिसके वर्ण्यविषय ये हैं—

प्रथम पटल—गृह्यकर्मसमुद्देश, सामान्य अनुष्ठानकाल, यज्ञोपवीत, आचमन, दर्भासन, दिग्विधि, होमस्थान, स्नान, हस्त, मन्त्र, पाकयज्ञ, ब्रह्मा, उपलेपनादि, प्रपदान्त प्राक्होमीय कर्म, विवाह, गर्भाधान, गृह्याग्नि और वैश्वदेव।

द्वितीय पटल—दर्शपूर्णमास, आग्नेय स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्तीहोम, निष्क्रमण, नामकरण, चौल, उपनयन, गोदानादिव्रत।

तृतीय पटल—आप्लवन (स्नान), पुष्टिकाम का उपदेश, उपाकर्म, अनध्याय, आश्वयुजीकर्म, आग्रहायण, अष्टकाएँ।

चतुर्थ पटल—ब्रह्मवर्चसादिपरक काम्यकर्म, पुष्टिकामार्थक कर्म, मधुपर्कयोग्य व्यक्तियों का उल्लेख।

जैमिनीयगृह्यसूत्र :

इसमें दो अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में अनेक कण्डिकाएँ हैं। इनकी कुल संख्या 33 है। प्रथम अध्याय में संस्कार निरूपित हैं और दूसरे में श्राद्ध, अष्टकाएँ, अन्त्येष्टि और शान्तिकृत्य है। यह गोभिल गृह्यसूत्र से अनेक रूपों में सम्बद्ध है। उद्धृत मन्त्रों की संख्या बड़ी है और उनमें से कुछ ही मन्त्रब्राह्मण में प्राप्त होते हैं। इस पर श्री निवासध्वरी द्वारा रचित सुबोधिनी टीका प्राप्त होती है।

कौथुमगृह्यम् :

इसका सम्पादन डॉ० सूर्यकान्त ने किया है और प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से हुआ है। वर्ण्यविषयों के क्रम की दृष्टि से यह गोभिल से बहुत भिन्न है। गोभिल गृह्यसूत्र के प्रारम्भ में जहाँ अनुष्ठान के सामान्य धर्मों का उल्लेख है, वहीं इसमें प्रायश्चित्त-कर्म उल्लिखित हैं—'अथातः प्रायश्चित्तानि।'

---

1. Kauthuma Grihyam, Intro., P. 39.
   Introduction to P. B., P. 19.

यह गृह्यसूत्र बहुत संक्षिप्त है, पाठ भी अत्यन्त भ्रष्ट है, अतः विद्वानों का विचार है कि यह किसी लुप्त पद्धति का ही भ्रष्ट रूप है।[1]

सामवेद के अप्रकाशित गृह्यसूत्र :

गौतम गृह्यसूत्र और छान्दोग्य गृह्यसूत्र नामक दो सामवेदीय गृह्यसूत्र अद्यावधि अप्रकाशित बतलाये जाते हैं।

अन्य गृह्य-स्मार्त्त साहित्य :

(1) कर्मप्रदीप (अथवा कात्यायन स्मृति)—इसमें 3 प्रपाठक हैं। (2) गृह्य-संग्रह—दो प्रपाठक हैं। इसका सम्पादन पहली बार एम० ब्लूमफील्ड ने और तदनन्दर सत्यव्रत सामश्रमी ने किया। (3) गोभिल गृह्यकर्मप्रकाशिका। (4) द्राह्यायणगृह्य परिशिष्ट।

इनके अतिरिक्त अनेक पद्धतियाँ, श्राद्धकल्प, सन्ध्यासूत्र, स्नान-विधि, गौतम-पितृमेधसूत्र तथा गौतमस्मृति आदि भी सामवेद से सम्बद्ध हैं।

गौतम धर्मसूत्र

धर्मसूत्र भी गृह्यसूत्रगत पाकयज्ञ, उपनयन, विवाह तथा श्राद्धादि का वर्णन करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि अनुष्ठानों के विधान पर न रहकर कर्तव्यकर्म और व्यवहार पर रहती है। धर्मसूत्रकारों का विशेष ध्यान चातुर्वर्ण्यधर्म, राजधर्म तथा प्रायश्चित्त-विधान पर रहा है। विभिन्न प्रकार के पुत्रों के मध्य सम्पत्ति-विभाजन तथा नियोगादि भी इनके वर्ण्य-विषय हैं।

धर्मसूत्रों के मध्य गौतमधर्मसूत्र प्राचीनतम माना जाता है। कुमारिल ने इसे सामवेद से सम्बद्ध बतलाया है। गोभिल ने अपने गृह्यसूत्र में गौतम को उद्धृत किया है। बौधायन धर्मसूत्र की प्रायश्चित्तविषयक सामग्री गौतम धर्मसूत्र से गृहीत प्रतीत होती है। वसिष्ठ धर्मसूत्र का 12 वाँ अध्याय भी गौतम धर्मसूत्र के 19 वें अध्याय से प्रभावित है।

गौतमधर्मसूत्र में कुल 28 अध्याय हैं, जिनमें वर्णों के कर्तव्य, राजधर्म, नित्य-कर्म तथा प्रायश्चित्तों का विशेष निरूपण है। याज्ञवल्क्य, कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य और मेधातिथि ने इसे उद्धृत किया है। इसका समय सामान्यत : 600 वि० पू० और 400 वि०पू० के मध्य निर्धारित किया जाता है। इस पर हरदत्त की व्याख्या और आचार्य मस्करि का भाष्य है।

यागेतर साम-लक्षण ग्रन्थ

पुष्पसूत्रम् :

इसकी गणना सामवेदीय प्रातिशाख्य ग्रंथों के अन्तर्गत की जाती है। यह कौथुम और राणायनीय दोनों शाखाओं से सम्बद्ध माना जाता है। अन्य प्रातिशाख्यों में

1. Dr. Ram Gopal : India of Vedic kalpa Sutras.

जहाँ संहितागत सन्धि प्रभृति वैयाकरणिक रूपों एवं नियमों की विवेचना है, वहीं पुष्पसूत्रम् का सम्बन्ध मात्र सामगान से है। सामवेद के अन्य तीन प्रातिशाख्यों-ऋक्तन्त्रम्, अक्षरतन्त्रम् और सामतन्त्रम् में से भी ऋक्तन्त्र ही मूलतः प्राति-शाख्यों की सामान्यतः वैयाकरणिक विषय-विवेचन-परम्परा का निर्वाहक है।

साम-गान-विवेचन की दृष्टि से, विद्वानों के मतानुसार साम-लक्षण ग्रन्थों में इसका वैसे ही शीर्षस्थ स्थान है, जैसे संस्कृत-व्याकरण में अष्टाध्यायी का।[1]

'पुष्प' अथवा 'फुल्ल' का अभिप्राय है—अक्षरजन्य विस्तार; सामवेद की परि-भाषिक नामावली में जिसे 'स्तोभ' कहा जाता है। ऋचा को सामस्वरूप देने के क्रम में इस अक्षर जन्य विस्तार से वर्ण वैसे ही उत्फुल्ल या पुष्पसदृश हो जाता है, जैसे खिलने पर कली।

ऊह और ऊह्यगानों के सन्दर्भ में पुष्पसूत्र का संज्ञाप्रकरण ताण्ड्य ब्राह्मण के याग-क्रम का ही अनुयायी है। पुष्पसूत्र का सम्प्रति जो स्वरूप हमारे सम्मुख है, उसमें 10 प्रपाठक हैं, जिनमें से प्रथम दो प्रपाठक भूमिकास्वरूप अर्थात् संज्ञाप्रक-रणाख्य हैं। सिर्मोन का मत है कि नवम और दशम प्रपाठक बाद में जोड़े गये।[2] कतिपय विपश्चित् पुष्पसूत्र की रचना अन्य सामवेदीय सूत्रग्रन्थों की अपेक्षा कुछ परवर्ती मानने के पक्ष में हैं, किन्तु बर्नेल का कथन है कि यह पाणिनीय अष्टा-ध्यायी की भी अपेक्षा प्राचीन है क्योंकि पुष्पसूत्र की भाषा ऐन्द्र व्याकरण के अनुरूप है, जो पाणिनीय व्याकरण की तुलना में अधिक प्राचीन माना जाता है। वस्तुतः इसके रचना-काल की सम्यक् मीमांसा तभी की जा सकती है, जब सामतंत्र, ऋक्तन्त्र और अक्षरतन्त्र की भाषा का तुलनात्मक अनुशीलन किया जाय, क्योंकि इनमें परस्पर पारिभाषिक शब्दों की समानता है।

दाक्षिणात्य परम्परा पुष्पसूत्र की रचना का श्रेय कात्यायन (वररुचि) को देती है और उत्तर भारत में प्राप्त एक पाण्डुलिपि में इसके रचयिता के रूप में गोभिल का उल्लेख है। सामवेद सर्वानुक्रमणी से भी इसका समर्थन होता है। फुल्लपोट में, जो पुष्पसूत्र का संक्षिप्त संस्करण है, वररुचि को इसका रचयिता माना गया है। इस प्रकार पारम्परिक रूप से वररुचि को ही इसका रचयिता मानने का अधिक आग्रह है, क्योंकि उपग्रन्थ सूत्रादि के रचयिता भी वही माने गये हैं और पुष्पसूत्र की रचना-शैली का उससे प्रभूत सादृश्य है।

---

1. बे. रा. शर्मा पुष्पसूत्रम् की भूमिका, पृष्ठ 7
2. पुष्पसूत्र की भूमिका, पृष्ठ 496

विषयवस्तु की दृष्टि से, पुष्पसूत्र के प्रथम दो प्रपाठकों में स्तोत्रीय ऋचाओं के आद्यक्षरोद्धरणपूर्वक ऊह और ऊह्यगानों के नामों का कथन है। 3–4 प्रपाठकों में विस्तार से आयिभाव की, पञ्चम में वृद्धि-अवृद्धि, गति-अगति तथा उच्चभाव और नीचभाव की, षष्ठ में सन्ध्यपदगीतत्त्व, आर्भाव, प्रश्लेष; विश्लेष, संकर्ष और विकर्ष की चर्चा है। सप्तम में आरम्भ में संकर्ष और विकर्ष, लोप, अतिहार,यकार और वकार, ऋ, व्यवधान तथा आभाव का विचार है। अष्टम में पुनः आभाव, नवम में विकल्प, दीर्घीभाव, वृद्धि, प्रत्युत्क्रम और दशम में सन्ध्यगीत तथा पूर्वाभ्यास आदि का वर्णन है।

सामतन्त्रम् :

13 प्रपाठकों में विभक्त यह ग्रन्थ विभिन्न साम-भक्तियों और सप्तस्वरों के सोदाहरण विवेचन की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य—इन सात सामस्वरों की इसमें विस्तार से विवेचना है और इनके कर्षण, विकर्षण, अतिक्रम तथा व्युत्क्रमादि विभिन्न पक्षों की भी चर्चा है। इसप्रकार सामतन्त्रम् में साम-गानविषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसकी व्याप्ति प्रायः सम्पूर्ण साम-गान पर्यन्त है—यद्यपि व्याख्याकार ने अधिकांश उदाहरण ग्राम-गान और अरण्य-गान से ही दिये हैं।

अक्षरतन्त्रम् :

वस्तुतः यह सामतन्त्रम् का अन्तिम भाग माना जाता है और इसके दो प्रपाठकों की सामतन्त्रम् के 14 वें तथा 15 वें प्रपाठकों के रूप में मान्यता है। 'अक्षर' का अभिप्राय है स्तोभ—वे अतिरिक्त अक्षर अथवा अक्षर-समूह, जो साम-गान में ऋग्भिन्न रूप से जुड़ते रहे हैं। स्तोभगत अक्षरों का कोई अर्थ नहीं होता। हाँ, इस विषय में यह मान्यता अवश्य प्रचलित रही है कि इनमें विशेष प्रकार की रहस्यात्मक शक्ति सन्निहित रहती है। स्तोभों की दो कोटियाँ हैं– अन्वयी तथा अनुषङ्गी। इनमें से अन्वयीस्तोभ वे हैं जो ऋचा के आरम्भ में जुड़ते हैं तथा अनुषङ्गी दो पदों अथवा गान के अन्त में जुड़ते हैं। इन्हीं की विवेचना 'अक्षरतन्त्रम्' में की गई है।

ऋक्तन्त्रम् :

अन्य वेदों के प्रातिशाख्यों के समान यह भी वैयाकरणिक ग्रन्थ हैं। पुष्पिका में इसे 'ऋक्तन्त्र-व्याकरण' के नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। ग्रन्थ पांच प्रपाठकों में विभक्त है। रचना सूत्र-शैली में हुई है; कुल सूत्र 280 हैं। रचयिता के विषय में दो मत हैं। प्रथम मत के अनुसार रचयिता शाकटायन हैं तथा दूसरे के अनुसार औदव्रजि। भट्टोजिदीक्षित ने अपने 'शब्दकौस्तुभ' में छान्दोग्यलक्षणग्रन्थ ऋक्तन्त्र-

व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत किया है जो वर्तमान ऋक्तन्त्रम् में उपलब्ध है। इसका प्रणेता उन्होंने औदव्रजि को माना है। पाणिनीय-शिक्षा की 'पञ्जिका' व्याख्या में भी ऋक्तन्त्र का रचयिता औदव्रजि को ही माना गया हैं। प्रथम मत का आधार ऋक्तन्त्रान्त में प्राप्य वह उल्लेख है जिसमें इसे 'शाकटायनोक्त व्याकरण' कहा गया है। इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा में निरत एक तृतींय मत भी है, जिसके अनुसार शाकटायन और औदव्रजि—ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के उपलक्षक हैं, जिनमें से एक गोत्र सूचक नाम है और दूसरा व्यक्तिपरक। गोभिल गृह्यसूत्र के व्याख्याकार भट्टनारायण ने ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध राणायनीय शाखा के साथ बतलाया है—

'राणायनीयानाम् ऋक्तन्त्रप्रसिद्धा विसर्जनीयस्याभिनिष्ठानाख्या।'

यह प्रातिशाख्य पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती है और उस पर इसका विपुल प्रभाव परिलक्षित होता है।

सामवेद के अप्रकाशित लक्षण-ग्रन्थ

ताण्ड्यलक्षणम् :

गोभिलगृह्यकर्म प्रकाशिका में सामवेद के दस प्रकार के सूत्रों में इसका भी उल्लेख है। यह अभी तक अप्रकाशित है। डॉ० बे० रा० शर्मा की सूचनानुसार इसका हस्तलेख सौराष्ट्र के सामवेदी पं० ऋषिशंकर दीक्षित के पास है। एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में संगृहीत जो पाण्डुलिपि मैंने देखी, उसका नाम है 'तण्डा लक्षणम्,' जो कारिकाओं में निबद्ध है।

धातुलक्षम् :

गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका में ही इसका भी व्याकरण ग्रन्थ के रूप में उल्लेख है।

लघु सामवेदीय लक्षण ग्रन्थ (छन्दोगपरिशिष्ट)

(Minor Sąmavedic technical treatises)

सामवेदीय ऋत्विकों तथा सामगों की सहायता के लिए जो विपुल साहित्य रचा गया, उसमें से अधिकांश उपर्युक्त सूत्रग्रन्थों के अंशरूप हैं। इन्हीं में से कतिपय ग्रन्थों को आज स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता है। यह समस्त साहित्य 'छन्दोग परिशिष्ट' अथवा 'सामपरिशिष्ट' के सामूहिक नाम से भी व्यवहृत होता है, जैसाकि सामवेदीय व्याख्याकारों के कथनों से स्पष्ट है—

'एतास्तिस्रः छन्दोगपरिशिष्टादिषु विस्तरतो व्याख्याताः।'[1]

---

1. द्विजराज भट्ट-संहितोपनिषद् ब्राह्मण (1.21) की व्याख्या।

इन लघु छन्दोगपरिशिष्टों में से ये विशेष महत्त्वपूर्ण हैं —

पञ्चविधसूत्रम् :

गान में पांच भक्तियाँ अथवा विभक्तियाँ हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। यागों में इन्हें क्रमशः तीन ऋत्विक् गाते हैं। प्रस्तोता प्रस्तावाख्य प्रथमभक्ति का गान करता है, उद्गाता उद्गीथाख्य द्वितीय भक्ति का, प्रतिहर्ता प्रतिहार भाग का और पुनः प्रस्तोता उपद्रव भाग का गान करता है। अन्त में तीनों मिलकर समवेतस्वर से निधन भाग का गान करते हैं। सामगाता से केवल स्वाध्याय में ही कुशल होने की अपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत उससे साम-गान को विभिन्न भक्तियों में विभक्त कर सकने की दक्षता की भी अपेक्षा होती है। पञ्चविधसूत्र में मुख्यतः उपर्युक्त भक्तियों में से तीन-प्रस्ताव, प्रतिहार और निधन की विवेचना की गई है। यों, इसमें 7 बार उद्गीथ का और दो बार उपद्रव का भी उल्लेख है। पञ्चविधसूत्र में उदाहरण प्रायः ग्रामेगेय गानों से ही दिये गये हैं जो क्रमशः प्रतीक तथा नामोल्लेखपूर्वक हैं। यह ग्रन्थ दो प्रपाठकों और 14 खण्डिकाओं में विभक्त है। बे०रा० शर्मा के सम्पादन में इस ग्रन्थ पर जो व्याख्या प्रकाशित हुई है, उसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

मात्रालक्षणम् :

मात्र तीन खण्डिकाओं में विभक्त इस लघु ग्रन्थ में साम-गानगत ह्रस्व, दीर्घ प्लुत और वृद्ध मात्राओं का विवेचन है, जैसा कि प्रथम सूत्र में कहा गया है— 'अथातो ह्स्वदीर्घप्लुतमात्राण्यक्षरादीनि व्याख्यास्यामः।' मात्रा के सूक्ष्मतम विभागों—अर्धमात्रा, अणुमात्रा, अर्धतिस्र, अर्थचतस्र आदि और उनकी तीनों वृत्तियों—द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता का इसमें निरूपण हुआ है। आठ प्रकार के प्रत्युत्क्रमों, चार प्रकार के अतिक्रमों, पाँच प्रकार के कर्षणों तीन प्रकार के स्वारों, सात प्रकार की अर्धमात्राओं और द्विविध गीतियों का भी इसमें वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त दीर्घकर्षण, ह्स्वकर्षण और धार्य तथा स्वरित, विनत, प्रणत, उत्स्वरित, अभिगीत और अन्त में स्वरभक्ति का विवेचन हुआ हैं। इस प्रकार आकार में लघु होते हुए भी यह ग्रन्थ सामगाताओं और संगीतशास्त्रियों के लिए अत्यन्त मूल्यवती सामग्री का प्रस्तावक है। मात्रालक्षण के मूल रचयिता और उसके व्याख्याकार के विषय में हमें कहीं से कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती।

स्तोभानुसंहर :

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें साम-गानगत स्तोत्रों का विवेचन है। ग्रन्थ में तीन पटल है। रचना श्लोक रूप में हैं। प्रारम्भ में कहा गया है—

'आद्यन्तदर्शनस्तोभो विधागीतेषु सामसु।
पदे पदेऽनुसंहार्यस्सोपायो निधने भवेत् ॥'

गायत्रविधानसूत्रम् :

यह तीन खण्डिकाओं—स्वरवृत्त, वर्णवृत्त और मात्रावृत्त में विभक्त है। गायत्री छन्द पर आधृत गायत्रसामविषयक विधियों का इसमें उल्लेख है। गायत्र-साम की प्रत्येक भक्ति के स्वरों; स्तोभों, मात्राओं और उच्चारणजन्य अन्य परिवर्तनों का इसमें सूक्ष्म निरूपण है। ताण्ड्य ब्राह्मण में गायत्रसाम का त्र्यावृत्त रूप में गाने का विधान है[1], किन्तु वहाँ उसका विवरण उपलब्ध नहीं होता—वह विवरण 'गायत्रविधानसूत्रम्' में प्राप्य है। इसे 'उभयशेष' अर्थात् ब्राह्मणों एवं लक्षण ग्रन्थों का परिशिष्ट कहा गया है। 'आचार्याः'[2], 'एकेषाम्'[3] तथा 'एके' आदि कहकर इसमें अनेक पूर्ववर्ती मतों की प्रस्तुति है। ग्रन्थ के रचयिता शुङ्ग माने जाते हैं, जैसा कि अन्तिम सूत्र में उल्लेख है—'शौङ्गं गायत्रविधानम्।'[4] निदान सूत्र में शुङ्ग के नाम का उल्लेख है।[5] इस पर प्राप्त व्याख्या के रचयिता का नाम अज्ञात हैं।

शिक्षाग्रन्थ :

सामवेद से सम्बद्ध तीन शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नारदीया, गौतमी और लोमशी शिक्षा। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नारदीय शिक्षा ही है। सामगानगत स्वरों पर प्रकाश ड़ालने की दृष्टि से यह अत्यन्त उपादेय है। इस पर भट्टभास्कर की व्याख्या है।

सामवेदीय साहित्य का अनुक्रम

ऊपर सामवेदीय साहित्य का जिस क्रम से परिचय प्रस्तुत किया गया, पारम्परिक रूप से प्रायः वही क्रम मान्य है, किन्तु प्रा० कालन्द के अनुसार उत्तरार्चिक तथा ऊह एवं ऊहरहस्यगान परवर्तीकाल के हैं। ये गान ग्रामगेय एवं अरण्यगेय गानों, पञ्चविंश ब्राह्मण, आर्षेयकल्प, क्षुद्रसूत्र, लाट्यायन और द्राह्यायण श्रौतसूत्रों तथा पुष्पसूत्र से भी परवर्ती हैं। इनके आधाररूप में आर्षेयकल्प और क्षुद्रसूत्र रहे हैं।[6]

---

1. तां. ब्रा., 7.1.1
2. गायत्रवि., 2.6
3. वही 1.7
4. वही, 3.22
5. निदानसूत्र, 5.8.10
6. Pancavimsa BRAHMANA Eng. Trans. : Introduction, Page. 12.

सर्वप्रथम प्रा० कालन्द की उत्तरार्चिक की परवर्तिकालिकता विषयक युक्तियों का परीक्षण प्रस्तुत है। उनके मतानुसार ताण्ड्य ब्राह्मण के रचनाकाल के समय उत्तरार्चिक का कोई अस्तित्व नहीं था। ताण्ड्यकार उत्तरार्चिक से परिचित नहीं थे। उस समय उद्गातृ-मण्डल याग में गाने के लिए ऋचाओं को सीधे ऋग्वेद से लेते थे। इस सन्दर्भ में प्रा० कालन्द के तर्क इस प्रकार हैं-(1) ताण्ड्य ब्राह्मण के 'बार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते'[1] की व्याख्या के समय सायण का कथन है—'प्रगाथमुपलक्षणं बार्हतास्त्यृचाश्च समाप्यन्त इत्यर्थः, कथमेतदुच्यते चतुः शतं ह्यैन्द्रबार्हताः प्रगाथा दाशतय्यां विद्यन्ते।' इसके आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण में अधिकांश स्तोत्रीय मन्त्र ऋक्संहिता से सीधे लिए गये, क्योंकि 'दशतयी' या 'दाशतयी' का अर्थ निदानसूत्रादि में ऋक् संहिता किया गया है। हमारी दृष्टि से प्रा० कालन्द की यह युक्ति वस्तुतः मूल ताण्ड्य ब्राह्मण पर अवलम्बित न होकर उस सायण-भाष्यांश पर आधृत है, जिसका प्रयोजन व्याख्येय पंक्ति की अधिक विस्तार से व्याख्या करना है। सायण-भाष्य में इस प्रकार के स्थलों पर बहुधा सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय से सन्दर्भ और उद्धरण देने की परम्परा है, जिनसे ऐसे निष्कर्ष निकालना, जैसे प्रा० कालन्द ने निकाले हैं, उचित नहीं कहा जा सकता।

(2) प्रा० कालन्द की दूसरी युक्ति ताण्ड्य ब्राह्मण में कतिपय स्थलों पर आया 'सम्भार्य'[2] शब्द है, जिसका अर्थ सायण के अनुसार 'सम्पाद्य' है। उनके कथनानुसार यह इस बात का द्योतक है कि ताण्ड्य ब्राह्मण में वैदिक वाङ्मय के विभिन्न भागों से सीधे ऋचाएँ ली गयी हैं।

विचार करने पर यह तर्क भी निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि इन सभी स्थलों पर साम या स्तोत्र के आधार स्वरूप ली गई ऋचाओं से तात्पर्य है, न कि ऋक् संहिता से।

प्रा० कालन्द ने अपनी उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि पहले सामवेदीय मन्त्रों को स्मरण-सौविध्य-हेतु दो पंजियाँ थीं। पहली पंजी में साम थे और दूसरी में मन्त्र। यह दूसरी पंजी ही उत्तरार्चिक का पूर्वरूप (Forerunner) थी। प्रथम पंजिका में वैयक्तिक रूप से गेय कुछ साम बाद में जोड़े गये। इन गान-ग्रन्थों के पश्चात् पूर्वार्चिक और आरण्यक, तत्पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थ, आर्षेयकल्प और लाट्यायनादि श्रौतसूत्र रचे गये। उत्तरार्चिक का संकलन सबसे बाद में हुआ, जिसमें ऋग्वेदीय मन्त्र उस क्रम से संकलित किये गये, जिस क्रम में उनका सोमयागों में विनियोग-विधान है।

---

1. तां. ब्रा., 4.4.1
2. वही, 11.1.5; 16.5.11 तथा 18-8-8

प्रा० कालन्द की यह पूर्वरूप (Fore-runner) वाली कल्पना के विरोध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इस पूर्वरूप का ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

अतएव कालन्द का यह मत कि उत्तरार्चिक ताण्ड्य ब्राह्मण से परवर्ती है, हमें निम्नोक्त कारणों से अग्राह्य प्रतीत होता है--

(1) तां० ब्रा० में ऋ० सं० से सीधे मन्त्र उद्धृत किये गये, इसके समर्थन में प्रस्तुत प्रमाण अपर्याप्त हैं।

(2) तां० ब्रा० में षडृच, दशर्च्च आदि का प्रयोग किया गया है।[1] इन स्थलों पर बिना स्वीकार किये कि ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रणयन के समय उत्तरार्चिक का अस्तित्व था, यह कैसे जाना जा सकता है कि ब्राह्मणकार के द्वारा अभिप्रेत ऋचाएँ कौन-सी हैं ? कालन्द ने इसका समाधान यह कहकर करने की चेष्टा की कि ब्राह्मणकार यद्यपि यहाँ ऋचाओं के स्वतन्त्र रूप से चयन के पक्ष में हैं, किन्तु उत्तरार्चिक ने बाद में जैमिनीय ब्राह्मण के आधार पर इन प्रसंगों के निमित्त ऋचाओं का निर्धारण कर दिया। इस विषय में वक्तव्य यह कि विभिन्न शाखानुयायियों के मध्य व्याप्त विद्वेष का ध्यान कर यह कैसे स्वीकार कर लिया जाये कि कौथुमशाखीय उत्तरार्चिक का प्रणयन जैमिनीय ब्राह्मण के आधार पर हुआ ?

(3) ताँ० ब्रा० में कहा गया है—'ककुप् प्रथम अथ उष्णिक् अथ पुर उष्णिक् अनुष्टुप् तेनानुष्टुभो नयन्त्यच्छावाक्साम्नः।'[2] यह कथन नार्मेधसाम के विषय में हैं, जिसमें तीन मन्त्र हैं।[3] पहली ऋचा ककुप् है, क्योंकि उसके मध्यम पाद में 12 अक्षर हैं; द्वितीयपुर उष्णिक् है और तीसरी पुरउष्णिक् अनुष्टुप् है। ताण्ड्य ब्राह्मण का कथन है कि ऐसा करके उद्गातृ,मण्डल अच्छावाक् साम के अनुष्टुप् छन्द से नहीं हटता, किन्तु ऋ० सं०[4] के आधार पर यह सामानाधिकरण्य नहीं स्थापित हो सकता, जहाँ तीसरी ऋचा अनुष्टुप् न होकर पुर उष्णिक् है। ब्राह्मण-

1. तां. ब्रा., 12.7.9-10; 13.1.10-12; 13.7.8-9
2. तां. ब्रा., 8.8.26
3. अधा हीन्द्र गिर्वण उपत्वाकाम ईमहे समृग्महे।
   उदेव ग्मन्त उदेभिः॥ 1॥
   वार्णत्वा यत्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि।
   वावृध्वा ँसं चिदद्रिवो दिवेदिये॥ 2॥
   युञ्जन्ति हरीइषिररस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा।
   इन्द्रवाहा स्वर्विदा॥ 3॥
4. ऋ. सं. 8.98.9

कार के मन्तव्य की पुष्टि वस्तुतः उत्तरार्चिक से होती है, जहाँ चार अक्षर (सुर्विदा) अधिक हैं। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि उत्तरार्चिक से ब्राह्मणकार परिचित थे। इस सन्दर्भ में प्रा० कालन्द का यह कथन उपयुक्त नहीं प्रतीत होता कि उत्तरार्चिक के संकलयिता ने ताण्ड्य-वचन के साथ संगति बिठाने के लिए यह परिवर्तन कर दिया; क्योंकि प्रा० कालन्द ने यह स्वयं ही स्वीकार किया है कि प्रकृत परिवर्तन अत्यन्त प्राचीन है और वह जैमिनिशाखीय उत्तरार्चिक में भी सुलभ है।

(4) यदि उत्तरार्चिक वस्तुतः इतना परवर्ती होता, जितना प्रा० कालन्द का अनुमान है, तो परम्परा इसके प्रणयन या संकलन का श्रेय किसी व्यक्ति को देती और यदि ऐसा न होता तो ऊह और ऊह्यगान के समान इसे पौरुषेय ही मान लेती, किन्तु इस प्रकार की कोई बात नहीं सुनी जाती है।

ऊह और ऊह्यगान की परवर्तिकालिकता के विषय में प्रा० कालन्द की युक्तियाँ इस प्रकार हैं।

(1) आर्षेयकल्प में कहा गया है—'औशनस्यक्षुँ वैश्वज्योतिषमन्त्यं यत्प्रगायतेति।'[1]

इसका अर्थ है कि औशन–दृष्ट ऋचाओं पर उस वैश्वज्योतिष साम का गान अन्त में किया जाये, जो 'प्रगायत'[2] मन्त्र पर प्राप्य है। औशन-दृष्ट ऋचाएँ 'प्र तु द्रव'[3] इत्यादि हैं। इन पर उस वैश्वज्योतिष साम का गान करना है जो 'प्रगायत'[4] प्रतीक से प्रारम्भ मन्त्रपर प्राप्य है; किन्तु प्रकृतिगान में 'प्रगायत' के अतिरिक्त अन्य दो मन्त्रों पर भी वैश्वज्योतिष साम प्राप्त होता है। ऊहगान में इस दृष्टि से 'प्रतुद्रवादि' मन्त्रों पर भी वैश्वज्योतिष साम प्राप्त होता है।[5] प्रा० कालन्द का कथन है कि यदि कल्पकार इस ऊहगान से परिचित होते तो वह 'प्रगायत' प्रतीक का उल्लेख न करते। यों हमारी दृष्टि में कल्पकार का प्रयोजन उद्गातृमण्डल और अन्य छन्दोगों के लिए यह स्पष्ट कर देना मात्र है कि ऊहगान में जो वैश्वज्योतिष साम 'प्रतुद्रवादि' मन्त्रों पर है, उसका गानाधार वस्तुतः पूर्वगान में 'प्रगायत०' मन्त्र पर प्राप्य वैश्वज्योतिषगान है। यह तथ्य वास्तव में कल्पकार के ऊहगान से अपरिचय को नहीं, प्रत्युत उनकी पूर्वगान और उत्तरगान के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में स्पष्ट दृष्टि का उपलक्षक है।

इसी प्रकार का एक तर्क प्रा० कालन्द ने उत्तरगान की अपेक्षा क्षुद्रकल्प के पूर्वभावित्व के सन्दर्भ में दिया है। क्षुद्रसूत्र में उल्लेख हैं—'अन्नाद्यकामस्य इन्द्रायाहि

1. आर्षेयकल्प, 9.45 2. सामवेद सं., 1.535
3. वही, 1.523 4. वही 1.535 6. ऊहगान, 19.17

धियोषित (सा० 1147) 'इति मध्यमां तृचस्य प्रभृतिं कृत्वा तासु कालेयम्'— अन्नाद्य की कामनायुक्त व्यक्ति को 'इन्द्रायाहि चित्रभानो' से प्रारम्भ तृच (साम० 1146–1148) की मध्यम ऋचा 'इन्द्रा याहि धियेषितो' को प्रथम स्तोत्रिया ऋचा के रूप में करके कालेय साम का गान करना चाहिए। ऊहगान में यह इसी रूप में प्राप्य है।[1] प्रा० कालन्द का कथन है कि यदि सूत्रकार को ऊहगानगत इस प्रगाथ का ज्ञान होता तो वह 'मध्यमां तृचस्य प्रभृतिं कृत्वा' का व्यर्थ में उल्लेख क्यों करते ?

इसका समाधान भी पूर्ववत् है ! वह यह कि अनुष्ठान में तनिक–सा भी भ्रम भारी अनर्थ का कारण बन सकता है, इस तथ्य के प्रति सूत्रकार अत्यन्त सतर्क रहते हैं और उनका अवधान संक्षिप्तता और पुनरुक्ति-परिहार के स्थान पर स्पष्टता की ओर अधिक रहता है।

(2) तां० ब्रा० में उल्लिखित है—'वसिष्ठस्य निहवेन चात्वालमुपतिष्ठन्ते'[2] तथा 'वैश्वदेव्यामृचि भवति।'[3] अभिप्राय यह कि महाव्रत–अनुष्ठान में उद्गातृ-मण्डल चात्वाल का उपस्थान 'वैश्वदेव्य ऋचा पर आधृत वसिष्ठ निहव साम से करे। इस स्थल पर सूत्रकार लाट्यायन ने 'विश्वेदेवा इति वसिष्ठस्य निहवम् ऊहेत'[4] कहकर 'विश्वेदेवा मम' (साम० 610) ऋचा पर पूर्वगानगत 'अयासि-देवम्०' मन्त्र पर प्राप्त वसिष्ठ निहवसाम के ऊहन का निर्देश किया है। यह ऊहन ऊहगान के संवत्सरपर्व (13 वें अध्याय) के अन्त में प्राप्य है।

प्रा० कालन्द की युक्ति है कि यदि सूत्रकारों को ऊहगानविषयक ज्ञान होता, तो वे 'ऊहेत्' न कहते। यहाँ भी वस्तुतः 'ऊहेत्' शब्द निरर्थक नहीं है, वह पूर्व और उत्तरगान के सम्बन्ध का द्योतक है।

पुष्पसूत्र को ऊहगान की अपेक्षा अधिक प्राचीन सिद्ध करने के लिए कालन्द ने उसके अन्त में आये इस वाक्य को उद्धृत किया है—'एवं सर्वेषामेष विकार-विधिः, एतेन प्रदेशेनोह्यं सामगानम् कल्पयितव्यम्'। कालन्द का कथन है कि पहले ऊहन के सम्बन्ध में विभिन्न नियम मौखिक परम्परा से प्रचलित थे, जो कालान्तर से पुष्पसूत्र के रूप में संकलित कर दिये गये। पुष्पसूत्र में संकलित इन्हीं नियमों के आधार पर उह और ऊह्यगानों को तैयार किया गया। यह कथन वास्तव में उसी प्रकार का है, जैसे कोई कहे कि व्याकरण पहले बना और भाषा बाद में, अथवा काव्यशास्त्र पहले रचा गया और उसके आधार पर बाद में काव्य रचना सम्पन्न हुई।

---

1. वही, 20.21.4
2. तां. ब्रा., 5.4.5-6
3. वही
4. लाट्या. श्रौ. सू. 3.9.12; द्रा. श्रौ. सू०, 10.1.2

वस्तुतः ऊहगानों को देखने के अनन्तर ही सूत्रकारों ने उनमें व्यवहृत नियमों का विश्लेषण किया। उनका व्यावहारिक उद्देश्य यज्ञानुष्ठान से सम्बद्ध ऋत्विकों, विशेष रूप से उद्गातृ-मण्डल को साम-गान में सम्भाव्य विभिन्न भ्रमों और त्रुटियों से बचाना रहा है।

प्रकृत सन्दर्भ में यही मत हमें उपयुक्त प्रतीत होता है कि ऊहगान घनिष्ठ रूप से यज्ञानुष्ठान से सम्बद्ध हैं और यज्ञानुष्ठान के विषय में कोई भी यह कहने का दुस्साहस नहीं कर सकता कि वह लाट्यायनादि श्रौतसूत्रों के प्रणयन के अनन्तर प्रारम्भ हुआ।

निष्कर्ष यह कि ऊह और ऊह्यगान का सामवेदीय ऋत्विकों के मध्य कल्पसूत्रों के प्रणयन के समय पूर्णतया प्रचलन था। कल्पकारों ने मात्र अपने सम्मुख विद्यमान गान-ग्रन्थों से गानों का विनियोग भर उसी परम्परा में निर्दिष्ट कर दिया, जिसका प्रारम्भ ब्राह्मण ग्रन्थों में हो चुका था। इस सन्दर्भ में डॉ० बे० रा० शर्मा का यह कथन उल्लेख है कि यह मानना तर्क संगत नहीं प्रतीत होता कि ऊहगान और ऊह्यगान ग्रन्थों के अभाव में केवल कल्पना के बल पर कल्पकार यज्ञों में ऊहगानों का विधान करते चले गये।[1]

इस प्रकार से सामवेदीय साहित्य के अनुक्रम की दृष्टि से हमें संहिता (आर्चिक ग्रन्थ) गानग्रन्थ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और सूत्र ग्रन्थों का परम्परागत क्रम ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

---

1. It does not seem reasonable to assume that the ŪHA and Ūhyagaṇas were composed latter. Certainly no human hand can paint pictures in the air. By passage of time, some changes and alterations may have taken place in these works, but on this account we cannot conclude that these Vikritigānas were composed latter.

—Prof. B. R. Sharmā : ĀRSEYAKALPA, Introduction, Page 56.

द्वितीय परिच्छेद

ब्राह्मण-साहित्य के अन्तर्गत सामवेदीय ब्राह्मणों का स्थान और उनका विशिष्ट प्रतिपाद्य

'ब्राह्मण' शब्द तथा उसका अर्थ :

मन्त्र-भाग से अतिरिक्त शेष वेद-भाग ब्राह्मण है, जैसा कि जैमिनि का कथन है—'शेषे ब्राह्मणशब्दः' ।[1] सायणाचार्य ने भी इसी लक्षण से सहमति व्यक्त की है ।[2] कोशग्रन्थों के अनुसार वेद-भाग का ज्ञापक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसक लिङ्ग में व्यवहार्य है ।[3] इसका अपवाद केवल महाभारत का एक स्थल है, जहाँ पुल्लिग में भी यह प्रयुक्त है ।[4] ग्रन्थ के अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्राचीन प्रयोग तैत्तिरीय संहिता में है ।[5] पाणिनीय अष्टाध्यायी[6], निरुक्त[7] तथा स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों में तो एतद्विषयक पुष्कल प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं ।[8] व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह 'ब्रह्म' शब्द से 'अण्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है । इस सन्दर्भ में सत्यव्रत सामश्रमी का अभिमत है कि 'ब्राह्मण' शब्द से ही प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय लगकर 'ब्राह्मण'

---

1. मीमांसासूत्र, 2.1.33
2. मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः । अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ।। —जैमिनीयन्यायमालाविस्तर, 2.1.8; तथा 'अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्'—ऋग्भाष्यभूमिका, पृ० 37
3. ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्'—मेदिनीकोश
4. य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् । एते प्रमाणं रताहो नेति वासव ।—महाभारत, (उद्योगपर्व)
5. एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि—तै. सं., 3.7.1.1
6. अष्टाध्यायी, 3.4.36
7. निरुक्त, 4.27
8. 'ब्रह्म वै मन्त्रः'—शत. ब्रा., 7.1.1.5 तथा 'वेदो ब्रह्म'—जैमि. उप. ब्रा., 4.11.4.3

शब्द बना है।[1] 'ब्रह्म' शब्द के दो अर्थ हैं—मन्त्र तथा यज्ञ।[2] इस प्रकार ब्राह्मण वे ग्रन्थविशेष हैं, जिनमें याज्ञिक दृष्टि से मन्त्रों की विनियोगात्मिका व्याख्या की गई है।[3] जिन मनीषियों ने वेद का मन्त्रवत् प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया है, वे भी इन्हें वेद-व्याख्यान रूप मानते हैं।[4]

ब्राह्मण ग्रन्थों का विवेच्य विषय :

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय यज्ञ का सर्वाङ्ग-पूर्ण निरूपण है। इस याग-मीमांसा के दो प्रमुख भाग हैं—विधि तथा अर्थवाद। 'विधि' से अभिप्राय है कि यज्ञानुष्ठान कब, कहाँ, कैसे और किन अधिकारियों के द्वारा होना चाहिए। याग-विधियाँ अप्रवृत्त कर्मादि में प्रवृत्त करने वाली तथा अज्ञातार्थ का ज्ञापन करने वाली होती हैं। इन्हीं के माध्यम से ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मानुष्ठानों में प्रेरित करते हैं, जैसा कि आपस्तम्ब का कथन है—'कर्मचोदना ब्राह्मणानि।'[5] विधि का स्तुति और निन्दा रूप में पोषण तथा निर्वाह करने वाले ब्राह्मणगत अन्य विषय अर्थवाद कहलाते हैं। अर्थवादपरक वाक्यों में यज्ञ-निषिद्ध वस्तुओं की निन्दा तथा यज्ञोपयोगी वस्तुओं की प्रशंसा रहती है। इस प्रकार के वाक्यों की विधि-वाक्यों के साथ 'एकवाक्यता' का उपपादन मीमांसकों ने किया है—'विधिना तु एकवाक्यात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।'[6] उनके अनुसार विधि और अर्थवाद वचनों के मध्य परस्पर शेषशेषिभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव है। अतः शबरस्वामी के

---

1. ऐतरेयालोचन, पृ. 2
2. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः—भट्टभास्कर, तै. सं., 1.5.1
3. नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्
   प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते। —वाचस्पति मिश्र
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती, अनुभ्रमोच्छेदन; सत्यार्थप्रकाश, पृ० 299 (बहालगढ़ संस्करण, सं. 2029)
   तथा—'तत्तन्मन्त्राणां तत्तद्यागाद्युपयोगित्वं वर्णयितुं समासतस्तात्पर्यमन्वाख्यातुं वा व्याख्यानानि च कृतानि। ततश्च विध्यर्थवादाख्यानपूर्वकमादिमं मन्त्र-भाष्यं ब्राह्मणमित्येव पर्यवस्यते ब्राह्मणलक्षणम्'—ऐतरेयालोचन, पृ. 11
5. यज्ञपरिभाषा, सूत्र 35
6. मीमांसासूत्र, 1.2.27

मतानुसार वस्तुतः विधियाँ ही अर्थवादादि के रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में दस प्रकार से व्यवहृत हुई हैं।[1]

विधि और अर्थवादवाक्यों की एकवाक्यता को स्पष्ट करने के लिए ताण्ड्य महाब्राह्मण से एक उदाहरण प्रस्तुत है—षष्ठ अध्याय के सप्तम खण्ड में अग्निष्टोमानुष्ठान की प्रक्रिया में बहिष्पवमान स्तोत्र के निमित्त अध्वर्यु की प्रमुखता में उद्गाता प्रभृति पाँच ऋत्विकों के सदोमण्डप से चात्वालस्थान तक प्रसर्पण का विधान है—'बहिष्पवमानं प्रसर्पन्ति।'[2] इस प्रसर्पण के सन्दर्भ में दो नियम विहित हैं—प्रववाण (मृदुपदन्यास पूर्वक) प्रसर्पण तथा वाङ्नियमन। साथ ही पाचों ऋत्विकों—अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा—के एक दूसरे के पीछे इसी क्रम से पंक्तिबद्ध होकर चलने का विधान है, क्योंकि यज्ञ पांक्त है[3]—'पञ्चर्त्विजः संरब्धाः सर्पन्ति पाङ्क्तो यज्ञो यावान् यज्ञस्तमेव सन्तन्वन्ति।' वहीं इन नियमों के पालन से यज्ञ की शान्ति बनी रहने और अन्य लाभों तथा हेतुओं का उल्लेख है। नियमों का पालन न करने से अनेकविध अनर्थों की संभावना भी उल्लिखित है।

---

1. हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
   परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना॥
   उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य वै। —मीमांसासूत्र शाबरभाष्य, 2.18

   सायण ने सामवेद—भाष्य भूमिका में इनके उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—(1) हेतु—'तेन ह्यन्नं क्रियते' (शत०ब्रा० 2·5·2·23); (2) निर्वचन—'एतद्दध्नो दधित्वम्' (तै०सं० 2·5·3·3·); (3) निन्दा—'अमेध्या वै माषाः' (वही 5·1·8·1); (4) प्रशंसा—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (वही, 2·1·1·1); (5) संशय—'तद् व्यचिकित्सन् जुहवानी मा हौषामिति'; (6) विधि—'यजमानेन सम्मिता औदुम्बरी भवति' (तै०सं० 6·2·10·3); (7) परकृति—'माषानेवं मह्य पचते' (तै०सं० 6·2·10·3·); (8) पुराकल्प—'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै०सं० 1·5·7·5); (9) विशेषावधारणकल्पना—'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्'; (10) उपमान—सायण ने यद्यपि इसका उदाहरण नहीं दिया है, तथापि छां०उप० (6·8·2) के इस अंश को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है—'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।'
2. तां. ब्रा., 6·7 9
3. वही, 6·7·12

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में यागानुष्ठान की विभिन्न विधियों के निरूपण में प्रशंसा और निन्दा ही नहीं, उनके औचित्य-बोधक हेतु भी दिए गये हैं। उदाहरणार्थ अग्निष्टोम याग के ही प्रसंग में ताण्ड्य ब्राह्मण में[1] उद्गाता के द्वारा सदोमण्डप में औदुम्बरी—उदुम्बर वृक्ष की शाखा-के उच्छ्रयण का विधान करते समय कहा गया है कि प्रजापति ने देवों के निमित्त ऊर्ज्ज का जो विभाजन किया, उसी से उदुम्बर की उत्पत्ति हुई। अतः उदुम्बर वृक्ष प्रजापति से सम्बद्ध है और उद्गाता का भी उससे सम्बन्ध है, इसलिए जब वह औदुम्बरी का उच्छ्रयणरूप प्रथम कृत्य करता है, तब वह उसी प्रजापति नाम्नी अधिष्ठात्री दैवी शक्ति के द्वारा अपने को आर्त्विज्य हेतु वरण कर लेता है। इसी प्रसंग में द्रोण—कलशप्रोहण, जिस कृत्य के अन्तर्गत द्रोणकलश में सोमरस चुलाकर रथ के नीचे रखा जाता है, का समर्थन एक आख्यायिका के द्वारा किया गया है। तदनुसार प्रजापति ने अनेक होने के लिए सृष्टि-कामना की। सृष्टि विषयक विचार करते ही उनके मस्तक से आदित्य की उत्पत्ति हुई। आदित्य ने स्वयं उत्पन्न होने के लिए प्रजापति के शिर को छिन्न कर दिया। वह छिन्न-भिन्न मूर्द्धा ही द्रोणकलश हो गया, जिसमें देवों ने शुभ्रवर्ण के चमकते हुए सोमरस को ग्रहण किया।[2] इस आख्यायिका के माध्यम से द्रोणकलश और तत्रस्थ सोमरस में सर्जना शक्ति से ओतप्रोत श्रेष्ठ मानसिक सामर्थ्य के अस्तित्व का उपपादन किया गया है।

इस प्रकार विधि-निर्देश के समानान्तर ही ब्राह्मण ग्रंथ उनकी उपयुक्तता भी विभिन्न प्रकार से बतला देते हैं। इस सन्दर्भ में यागों, उनकी अनुष्ठान-विधियों, द्रव्यों, सम्बद्ध देवों और विनियुक्त मन्त्रों का छन्द आदि के द्वारा औचित्य-निरूपण करते समय ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता मानवीय भावनाओं और मनोविज्ञान का सदैव ध्यान रखते हुए यजमान के सम्मुख उस कृत्यविशेष के अनुष्ठान से होने वाली लाभ-हानि का यथावत् विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं।

---

1. प्रजापतिर्देवेभ्य ऊर्ज्जं व्यभजत तत उदुम्बरः समभवत्प्राजापत्यो वा उदुम्बरः प्राजापत्य उद्गाता यदुद्गातौदुम्बरीं प्रथमेन कर्मणान्वारभते स्वयैव तद्देवतयात्मानामार्त्विज्याय वृणीते। तामुच्छ्रयति।'—तां. ब्रा., 6·4·1·2

2. तां. ब्रा., 6·5·1 यह आख्यायिका किञ्चित् परिवर्तित रूप में जैमिनीय तथा शतपथ ब्राह्मणों में भी मिलती है। जैमि· ब्रा. में आदित्य के स्थान पर अग्नि का उल्लेख है और शतपथ में देवों के द्वारा वृत्र का शिर काटने का निर्देश है—'वृत्रो वै सोम आसीत्। तं यत्र देवा अपघ्नन् तस्य मूद्धोंद्वर्तत्, स द्रोणकलशोऽभवत्'—(शत. ब्रा. 4·4·3·4)

अग्निष्टोम याग का अनुष्ठान व्यक्ति क्यों करे ? उससे क्या लाभ हो सकता है ?—इसे जाने बिना व्यक्ति मानवीय स्वभाव (प्रयोजनमन्तरेण मन्दोऽपि न प्रवर्तते) के अनुसार यज्ञ में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। इस विन्दु पर ब्राह्मण ग्रन्थ उसे आश्वस्त कर देते हैं कि यह वस्तुतः समस्त फलों का साधन होने के कारण मुख्य है, इसके विपरीत अन्य याग एक-एक फल देने वाले हैं, इसलिए अग्निष्टोम के अनुष्ठान से समस्त फल प्राप्त होते हैं—'एष वाव यज्ञो यदग्निष्टोमः। एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाह्रियते सर्व्वेभ्योऽग्निष्टोमः।'[1] इस सामान्य निर्देश के अनन्तर विस्तार से यह बतलाया गया है कि इसके अनुष्ठान से पशु-समृद्धि, ब्रह्मवर्चस-प्राप्ति आदि पृथक-पृथक फलों की प्राप्ति भी हो सकती है।

जहाँ तक विभिन्न यज्ञ-कृत्यों में विनियुक्त मन्त्रों के औचित्य-प्रदर्शन की बात है, ब्राह्मण ग्रंथ उस विन्दु के अनावरण का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों की पारिभाषिक शब्दावली में यह रूप-समृद्धि कहलाती है। रूप-समृद्धि, जिसका स्थूल अभिप्राय क्रियमाण कर्म के साथ विनियुक्त मन्त्र का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, से स्वयं यज्ञ समृद्ध होता है।[2] इस प्रकार रूप-समृद्धि का वास्तविक तात्पर्य तत्तत् विशिष्ट कृत्य के संदर्भ में विनियुक्त मन्त्र की सार्थकता का प्रदर्शन है। इस दिशा में सामवेदीय ताण्ड्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र ही नहीं, मन्त्र के विभिन्न पादों, मन्त्रगत छन्द, स्तोम, विष्टुति और निधन तक के औचित्य का निरूपण करते हैं। विनियोगगत औचित्य-निरूपण के प्रसंग में ताण्ड्य ब्राह्मण से एक उदाहरण प्रस्तुत है—वहाँ अग्निष्टोमगत काम प्रयोग[3] में निम्नलिखित मन्त्र विनियुक्त है—'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय समर्वते। श ँराजन्नोषधीभ्यः।'[4] इसका विनियोग पशुओं की रोग-निवृत्ति के सन्दर्भ में सर्वथा उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें ओषधियों से पशुओं को स्वस्थ करने की प्रार्थना की गई है। ताण्ड्य ब्राह्मण ने इस प्रसंग में विस्तार से विनियोग का वैशिष्ट्य बतलाया है।[5] जहाँ सीधे विनियुक्त स्तोत्रिया के अर्थ से औचित्य की प्रतीति नहीं हो पाती, वहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रगत देवों से कृत्य को सम्बद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए किसी दीर्घ रोगी की रोग-निवृत्त के लिए ताण्ड्य ब्राह्मण में[6] 'आ नो मित्रावरूणाघृतेर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू'[7]

---

1. तां. ब्रा. 6·3·1-2
2. एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्पसमृद्धं यत्क्रियमाणं कर्म ऋग्यजुर्वाऽभिवदति।—ऐत. ब्रा., प्रथम अध्याय।
3. तां. ब्रा. 6·9·6-9
4. सामवेद संहिता; उत्तरार्चिक 653
5. तां. ब्रा. 6.9.9.
6. वही, 6.10.4.
7. सामवेद संहिता, उत्तरार्चिक, 2.1.1.5.1.

मन्त्र का विनियोग है। आपातत: इस ऋचा के अर्थ से रोग-निवृत्ति का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। किन्तु यहाँ भी प्रकारान्तर के सम्बन्ध में निरूपित है। ताण्ड्यकार का कथन है कि दीर्घ रोगी के प्राण और अपान अपक्रान्त हो जाते हैं, जबकि प्राण और अपान की समान स्थिति पर ही आरोग्य निर्भर है। प्राण और अपान की तथाकथित समस्थिति मित्र और वरुण की अनुकूलता पर अवलम्बित है, क्योंकि इन दोनों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणापान वस्तुत: अहोरात्र रूप हैं और दिन के देव मित्र हैं तथा रात्रि के वरुण। इन दोनों के आनुकूल्य-अर्जन से शरीर में प्राण और अपान की यथावत् स्थिति बनी रहती है। अत: दीर्घ रोगी की रोग-निवृत्ति के सन्दर्भ में उपर्युक्त ऋचा का गान सर्वथा उपयुक्त है।

इनके साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों में निरुक्तियाँ और आख्यायिकाएँ भी पुष्कल परिमाण में प्राप्त होती हैं, जिन पर यथास्थान प्रकाश डाला जायेगा।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या :

जैसा कि प्रथम परिच्छेद में कहा गया है, सम्प्रति कौथुम-राणायनीय शाखाओं से सम्बद्ध आठ ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध और मान्य है, तलवकार सहित जैमिनीय शाखा के अब तक केवल तीन ब्राह्मण ही प्रकाशित हो सके हैं; वे हैं—जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण।

सामवेद के अनुपलब्ध ब्राह्मण :

डॉ० वटकृष्ण घोष ने कतिपय ऐसे सामवेदीय ब्राह्मणों के उद्धरण उपलब्ध कराये हैं, जो यद्यपि मूलरूप में प्राप्त नहीं होते, किन्तु उनके उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में हैं।[1] इनमें से दो ब्राह्मण मुख्य हैं—(1) शाट्यायन ब्राह्मण तथा (2) भाल्लवि ब्राह्मण। शाट्यायन ब्राह्मण के 70 उद्धरणों में से अधिकांश ऋग्वेद के सायण-भाष्य[2] तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के सायण-भाष्य[3] में मिल जाते हैं। चार-पाँच उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर-भाष्य में भी हैं।[4] शाट्यायन ब्राह्मण के बहुसंख्यक उद्धरणों के

1. Collection of fragments from lost Brāhmanas, Calcutta, 1935.
2. ऋ. सं., 1.105.10; 7.33.7; 8.91.1; 8.91.5 पर सायण-भाष्य।
3. शाट्यायनेन स्पष्टमाम्नातम् ईमं इव वा एषा होत्राणां यदच्छावाको यदच्छावाकमनुसन्तिष्ठेर्तेम इव तुष्टुवाना: स्युरिति।
   अतएव शाट्यायनकं यदभ्यवर्त्तन्त तदभीवर्त्तस्याभीवर्त्तत्वम्। × × एतदेव शाट्यायनमुनिभिर्विस्पष्टमाम्नातम् × × × शाट्यायनकादिषु ... —तां. ब्रा. क्रमश: 4.2.10; 4.3.2; 4.5.14 और 4.6.23 पर सायण—भाष्य।
4. ब्रह्मसूत्र 3.3.25; 3.3.26; 4.1.16; तथा 4.1.17 पर शाङ्कर-भाष्य।

जैमिनीय ब्राह्मण में उपलब्ध होने से प्रतीत होता है कि शाट्यायन और जैमिनीय ब्राह्मणों का कदाचित् एकीकरण हो गया। प्रा० कालन्द ने भी इसी प्रकार की संभावना व्यक्त की है।[1] संभवतः सायण के सम्मुख भी शाट्यायन ब्राह्मण अपने सम्पूर्ण मूलस्वरूप में उपलब्ध नहीं रहा होगा, अन्यथा वे इसको 'शाट्यायनमुनिना' या 'शाट्यायनेन'—इस प्रकार के एकवचनान्त व्यक्तिवाचक नाम-निर्देश मात्र से उद्धृत नहीं करते।

भाल्लविब्राह्मण :

सामवेद की भाल्लवि शाखा का उल्लेख ताण्ड्य ब्राह्मण में है, यह प्रथम परिच्छेद में कहा जा चुका है। इसका निर्देश कतिपय श्रौतसूत्रों के अतिरिक्त व्याकरण महाभाष्य[2] तथा काशिका[3] में भी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण-साहित्य अत्यन्त विशाल रहा है और इस महती राशि में से अनेक आज उपलब्ध नहीं हैं।[4]

सामवेदीय अनुब्राह्मण :

सामवेदीय ब्राह्मणों का वर्गीकरण पारम्परिक रूप से दो कोटियों में किया जाता है—ब्राह्मण और अनुब्राह्मण। 'अनुब्राह्मण' शब्द पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'अनुब्राह्मणादिनिः'[5] सूत्र में भी है, जिसका अभिप्राय है ब्राह्मण सदृश ग्रंथ। उपर्युक्त आठ सामवेदीय ब्राह्मणों में से सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मणों को विद्वानों ने अनुब्राह्मण कहा है।[6]

---

1. Perhaps the original Shātyāyanaka, which is lost to us, was taken over by the Jaiminiyas, either a part or the whole of it and amplified with other passages. Pancaviṃsha Brāhmaṇa, Introduction, page 18.
2. व्याकरण महाभाष्य (पतञ्जलि) 4.2.104
3. काशिका (4.2.66; 4.3.105 सूत्रों पर)
4. Dr. V. Rāghavan—It may be worth while to remember that Brāhmaṇa—literature was vast and a good number of Brāhmaṇas remain to be recovered.—Foreward, Page 2. (Sāmavldhān Brāhmaṇa; edited by B. R. Sharma).
5. अष्टाध्यायी, 4. 2.62
6. सत्यव्रत सामश्रमी—(द्रष्टव्य आर्षेय ब्राह्मण का मुख पृष्ठ) तथा 'ताण्ड्यांशभूतानि ताण्ड्यपरिशिष्टभूतानि वा अनुब्राह्मणानि वा अपराण्यपि समाधीयन्ते—निरुक्तालोचन, पृष्ठ 197, कलकत्ता, 1907.

सामवेदीय ब्राह्मण और उनका विशिष्ट प्रतिपाद्य

सामवेदीय ब्राह्मणों का परिचय यहाँ उसी क्रम से प्रस्तुत है, जिस क्रम से सायणाचार्य ने अपनी भाष्य-भूमिकाओं में उनका उल्लेख किया है—

1. ताण्ड्य महाब्राह्मण :

स्वयं ताण्ड्य ब्राह्मण से इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि इसका रचयिता कौन है ? हाँ, परम्परा के अनुसार ताण्डि नामक किन्ही सामवेद के आचार्य के द्वारा दृष्ट होने के कारण यह ताण्डि अथवा ताण्ड्य ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है।[1] सामविधान ब्राह्मण में संप्रदायप्रवर्तक आचार्यों की जिस परम्परा का उल्लेख है: तदनुसार ताण्डि और शाट्यायन, बादरायण के शिष्य थे।[2] ऋषि ताण्डि से प्रारम्भ होने वाले गोत्र का उल्लेख वंश ब्राह्मण में भी है।[3] अग्निचित् के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में ताण्ड्य नामक आचार्य का उल्लेख है।[4] सामविधान का उल्लेख विशेष प्रामाणिक प्रतीत होता है, क्योंकि ताण्डि और शाट्यायन शाखाओं का युगपत् अन्यत्र भी नाम-निर्देश हुआ है।[5] प्रतीत होता है कि कौथुम शाखा की उपशाखाओं में ताण्ड्य का महत्त्व सर्वाधिक रहा है, क्योंकि शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् का निर्देश ताण्डिशाखियों की उपनिषद् के रूप में ही किया है।[6]

इस ब्राह्मण ग्रन्थ का नामान्तर, 25 अध्यायों में विभक्त होने के कारण पञ्चविंश ब्राह्मण भी है। आकार-प्रकार की विशालता और वर्ण्यविषयों की गरिमा के कारण यह महाब्राह्मण तथा प्रौढब्राह्मण के नामों से भी सदाख्य है। सुसन्तुलित निरूपण शैली के कारण ताण्ड्य ब्राह्मण की प्रौढ़ता स्वयमेव लक्षित हो जाती है।

---

1. (क) चिन्नस्वामि शास्त्री, तां. ब्रा., पुरस्तात् निवेदनम्, पृष्ठ 2।
   (ख) इस परम्परा का समर्थन जैमि. ब्रा. के उस अंश से होता है, जहाँ कहा गया है—'तदु होवाच ताण्ड्यः।' आपस्तम्ब श्रौ० सू० में इसे 'ताण्ड्यकम्' कहा गया है। लाट्यायन श्रौ० सू० (8.10.17) में 'पुराणम् ताण्ड्यम्' उल्लिखित है। प्रा० कालन्द ने यद्यपि यहाँ किसी दूसरे प्राचीन ब्राह्मण का संकेत माना है, किन्तु उनके समर्थन में वस्तुतः कोई गंभीर युक्ति नहीं है। भाष्यकार अग्निस्वामी ने तां. ब्रा, को 'ताण्ड्यप्रवचन' नाम दिया है।
2. सामवि. ब्रा. 3.9.3
3. वंश ब्राह्मण 2.6
4. शत. ब्रा. 5.1.2.25
5. अन्येऽपि शाखिनः शाट्यायिनः—ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य 3.3.27
6. यथा ताण्डिनामुपनिषदि—वही 3.3.36

जैसा कि पहले कहा गया है, ताण्ड्य ब्राह्मण का स्वरूप 25 अध्यायात्मक अथवा प्रपाठकात्मक है। ऐतरेयादि ब्राह्मणों के समान इसमें भी 5 अध्यायों को 'पञ्चिका' कहने की परम्परा है। इस प्रकार पञ्चविंश ब्राह्मण पञ्चपञ्चिकात्मक है।

विद्वानों का विचार है कि ऐतरेयादि अन्य वेदों के ब्राह्मणों के समान सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण में भी मूलत: 40 अध्याय होने चाहिए। षड्विंश और उपनिषद् ब्राह्मणों को मिलाकर यह संख्या सम्पन्न भी हो जाती है। इसके अनुसार काशिकोक्त 'चत्वारिंश ब्राह्मण' शब्द ताण्ड्य ब्राह्मण के ही 40 अध्यायात्मक स्वरूप के ज्ञापनार्थ प्रयुक्त है[1]—यद्यपि षड्गुरुशिष्य का मत इसके विपरीत है।[2] इस सन्दर्भ में सत्यव्रत सामश्रमी ने सर्वाधिक दृढ़ता से ताण्ड्य ब्राह्मण के चत्वारिंशदध्यायात्मक स्वरूप का समर्थन किया है।[3] षड्विंश तो स्पष्ट रूप से ताण्ड्य ब्राह्मण का भाग है। षड्विंश का विवरण देते समय इसका आगे विस्तार से उपपादन किया जायेगा। इस प्रकार ताण्ड्य महाब्राह्मण का स्वरूप पञ्चत्रिंश, षड्विंश और छान्दोग्य ब्राह्मण को मिलाकर सम्पन्न होता है। यों मेरी धारणा है कि केन उपनिषद् भी इसी क्रम में है। सम्पूर्ण छान्दोग्य उपनिषद् का स्वरूप केन उपनिषद् को मिलाकर ही पूर्ण होता है। इस स्थिति में मन्त्र ब्राह्मण को पृथक् मानना पड़ेगा।

ताण्ड्य ब्राह्मण का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सोमयाग है। अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम से आरम्भ करके सहस्र संवत्सरसाध्य सोमयागों का इसमें मुख्यत: विधान किया गया है। इनके अंगभूत सामवेदीय स्तोत्र, स्तोम और उनकी विष्टुतियों के प्रकार एवं स्तोमभाग—ये इसमें विस्तार से विहित हैं। स्तोत्रादि का परिचय गान–प्रक्रियाविषयक परिच्छेद में किया जायेगा। अध्यायानुसार विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है[4]—

---

1. काशिका (वामन-जयादित्य)–5.1.62
2. ऐत. ब्रा. की सुखप्रदा व्याख्या
3. 'अध्यायानाम् संकलनया चत्वारिंशदध्यायात्मकम् कौथुमब्राह्मणं सम्पद्यते ताण्ड्यनाम'—त्रयीपरिचय, पृ० 12।

   तथा —'पञ्चविंशं षड्विंशं ब्राह्मणं च छान्दोग्योपनिषच्च मिलित्वा ताण्ड्य-महाब्राह्मणं भवति'—सामवेदसंहिता की भूमिका, पृष्ठ 13, पारडी, 1956 ई०
4. सायण ने तां. ब्रा. भाष्य की उपक्रमणिका में विषय-वस्तु का परिगणन यों किया है—'पञ्चविंशतिरध्याया महति ब्राह्मणे स्थिता:। आद्येऽध्याये श्रुता मन्त्रा उद्गातुर्य्यजुरात्मका:॥ द्वयोरध्याययो: स्तोमप्रकारा बहुधा श्रुता:। चतुर्थाध्यायमारभ्य गवामयनिकादय:। क्रतूनां विधय: प्रोक्ता एषोऽस्मिन् ब्राह्मणे क्रम:॥

प्रथम अध्याय—उद्गाता के लिए पठनीय यजुषात्मक मन्त्र ।

2—3 अध्याय—त्रिवृत्—पञ्चदशादि स्तोमों की विष्टुतियां ।

4—5 अध्याय—समस्त सत्रयागों के प्रकृतिभूत गवामयन का वर्णन ।

6—9 (12 वें खण्ड तक) अध्याय—ज्योतिष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्रसंस्थ यागों का वर्णन । नवमाध्याय के शेष खण्डों में विभिन्न प्रायश्चित्त-विधियाँ वर्णित हैं ।

10—15 अध्याय— द्वादशाह यागों का वर्णन ।

16—19 अध्याय—विभिन्न एकाहयागों का वर्णन ।

20—22 अध्याय—अहीन यागों का निरूपण ।

23—25 अध्याय—सत्र-यागों का विधान ।

इनमें से विभिन्न सोमयागों का परिचय श्रौतयागों वाले परिच्छेद में द्रष्टव्य है । कुल मिलाकर 781611 सुत्याक 178 सोमयाग इसमें निरूपित है ।

इस प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण का मुख्य निरूप्य विषय सोमयाग एवं तद्गत सामगान की प्रविधि का प्रस्तवन है । विविध प्रकार के साम, उनके नामकरणादि से सम्बद्ध आख्यायिकाएँ और निरुक्तियाँ भी प्रसंगतः पुष्कल परिमाण में आई हैं । यज्ञ के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में आचार्यों के मध्य प्रचलित विवादों और मत-मतान्तरों का उल्लेख भी है । ताण्ड्य ब्राह्मण में निरूपित व्रात्ययज्ञ का निर्देश भी यहाँ आवश्यक है, जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ब्राह्मणयुगीन भौगोलिक सामग्री भी इसमें प्राप्य है ।

सोमयागों के विधान में क्रम की दृष्टि से कात्यायन और आपस्तम्ब सदृश प्रमुख श्रौतसूत्रकार ताण्ड्योक्त क्रम का ही अवलम्बन करते हैं ।

ताण्ड्य ब्राह्मण सामवेदीय गानग्रन्थों का कितना अनुगामी है, अन्य सूत्रकार इसका कितना अनुगमन करते हैं, तथा सामवेदीय ब्राह्मणों के मध्य यह कितना प्राचीन है, इन प्रश्नों पर आगे यथास्थान विचार किया जायेगा ।

षड्विंश ब्राह्मण

कौथुम शाखीय सामवेद का यह द्वितीय महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ है । जैसा कि पूर्वतः संकेत किया गया, षड्विंश कदाचित् ताण्ड्य ब्राह्मण का भाग माना जाता रहा है । सायण ने इसे 'ताण्ड्यशेष ब्राह्मण' कहा है ।[1] मूलतः इसमें सोमयागों के ताण्ड्यानुक्त विषयों का ताण्ड्य की शृंखला में विवेचन है, इस कारण भी यह ताण्ड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट प्रतीत होता है ।

1. षड्. ब्रा.-भाष्य की अनुक्रमणिका ।

षड्विंश ब्राह्मण में सम्प्रति छः अध्याय हैं। नाम से प्रतीत होता है कि पहले कभी इन्हें एक ही अध्याय माना जाता रहा होगा। षष्ठ अध्याय की विषय-वस्तु शेष पाँच अध्यायों की विषयवस्तु से भिन्न है, अतएव 'अद्भुत ब्राह्मण' के नाम से उस अंश की स्वतन्त्र मान्यता भी है। इस छठे अध्याय में प्रायश्चित्त और शकुनादि अद्भुत कर्मों का वर्णन है। कहा जाता है कि यह अध्याय ग्रन्थ से परवर्ती काल में सम्बद्ध हुआ। इस सन्दर्भ में प्रमुख युक्ति यह दी जाती है कि पञ्चम अध्याय का परिसमापन 'इति' से हुआ है—'तस्यानुतृप्तिं तृष्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति।'[1] सायणभाष्य से ज्ञात होता है कि 'इति' शब्द अध्याय की परिसमाप्ति का सूचक है। प्राचीन ग्रंथों में सामान्यतया ग्रन्थ की समाप्ति या तो 'इति' से दिखलाई देती है या अन्तिम वाक्य की आवृत्ति से। छठे अध्याय का प्रारम्भ 'अथातः' से होना भी किसी नये ग्रन्थ के आरम्भ का द्योतक है—'अथातोऽद्भुतानां कर्मणां शान्तिं व्याख्यास्यामः।'[2] उदाहरण के लिए ब्रह्मसूत्र और मीमांसा सूत्र को लिया जा सकता है, जिनका आरम्भ क्रमशः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[3] तथा 'अथातो कर्मजिज्ञासा'[4] से हुआ है। किन्तु हमारे विचार से इस 'अथातः' का सम्बन्ध यहाँ नवीन ग्रन्थ के आरम्भ से न होकर नवीन वस्तु के निरूपण से है, जैसा कि सायण का कथन है कि इष्ट प्राप्ति के साधनभूत कर्मों का निरूपण पहले पाँच अध्यायों में है और तत्पश्चात् अनिष्ट परिहार के साधनों का निरूपण षष्ठ अध्याय में है।

षड्विंश ब्राह्मण के अब तक प्रायः सात विभिन्न संस्करण हुए हैं।[5] जिनमें व्यवस्था और विन्यासगत विपुल अन्तर है। यहाँ प्रो. बे. रा. शर्मा और डब्ल्यू. बी. बोली (W. B. Bollee) के संस्करणों के आधार पर इस अन्तर को यों निर्दिष्ट किया जा सकता है। बोली का संस्करण मूलतः एच० एफ० ईलसिंह (H.F.Eel.) के शोध-प्रबन्ध पर आधृत है। उसमें छः प्रपाठकों को पाँच में ही समाविष्ट कर दिया गया है। यह निम्न प्रकार से किया गया है—

1. शर्मा-संस्करण के तृतीय अध्याय के 1-3 खण्ड बोली संस्करण में द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत हैं।
2. शर्मा-संस्करण के तृतीय अध्याय के शेष खण्ड और सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय बोली-संस्करण में तृतीय अध्याय के अन्तर्गत है।
3. शर्मा-संस्करण का पञ्चम अध्याय बोली के संस्करण में चतुर्थ अध्याय है।

---

1. षड्. ब्रा. 5-7-3.
2. वही, 6.1.1.
3. ब्रह्मसूत्र 1.1.1.
4. मीमांसासूत्र 1.1.1.
5. द्रष्टव्य-ग्रन्थान्त में ग्रंथसूची।

4. शर्मा-संस्करण का षष्ठ अध्याय बोली के संस्करण में पञ्चम अध्याय है। षष्ठ अध्याय के 'अद्भुत ब्राह्मण' के नाम से प्राप्त हस्तलेखों से प्रतीत होता है कि पर्याप्त प्राचीन काल से इसकी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान्यता रही है।[1]

अध्यायानुसार षड्विंश ब्राह्मण की विषय-वस्तु इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय—इसमें कुल सात खण्ड हैं, जिनमें से प्रथम दो खण्डों में सुब्रह्मण्या निगद का वर्णन है। सर्गादि में ब्रह्म और सुब्रह्म दो ही के अस्तित्वसूचक अंशों से प्रारम्भ षड्विंश ब्राह्मण सुब्रह्मण्या निगद की गौरवमयी प्रशंसा करके यजमान को परामर्श देता है कि वह सुब्रह्मण्या के सर्वविधिवेत्ता को ही सुब्रह्मण्य ऋत्विक् के पद पर नियुक्त करे। तृतीय खण्ड में तीनों सवनों के साम और उनके छन्दों का निरूपण है। चतुर्थ खण्ड में ज्योतिष्टोम के सुत्याह के प्रातरनुवाक से पहले के कृत्यों तथा विश्वरूपागान का विधान है। पञ्चम खण्ड में वसिष्ठगोत्रोत्पन्न ब्राह्मण को ही ब्रह्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए कहा गया है। प्रजापति ने भूः, भुवः और स्वः इन तीन महाव्याहृतियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से निस्सृत किया। इस खण्ड में तीन महाव्याहृतियों तथा प्रायश्चित्तपरक कृत्यों का भी विधान है। षष्ठ खण्ड में भी ज्ञात-अज्ञात त्रुटियों का प्रायश्चित्त विहित है। सप्तम खण्ड में अर्थवादपूर्वक सोमदेवविषयक अर्थात् सौम्य चरु के निर्वाप का विधान है।

द्वितीय अध्याय—इसमें भी 7 खण्ड हैं। 1-3 खण्डों में अग्निष्टोमान्तर्गत बहिष्पवमान के रेतस्या और धूर्गानों का विधान है। इस फल कथन के साथ विधि का समापन है कि जो इस धूर्गान का ज्ञान रखता है, वह अपने और यजमान के लिए अपराजेयलोक की प्राप्ति कर लेता है, यजमानसहित स्वयं को मृत्यु के पार

---

1. The distinct character of the chapter and needs of the priestly craft might have been lead ultimately the chapter being separated from the main body of the work for the practical purpose with a distinct and significant name of अद्भुत ब्राह्मण, or may be it was not originally formed part of the Ṣadvimsha Brāhmaṇa at all. It could be in fact, by all means a later addition to this Brāhmaṇa.

—B. R. Sharma : Ṣadvimsha Brāhmaṇa, Introduction, page 17.

ले जाकर स्वर्ग की प्राप्ति करा देता है।[1] चतुर्थखण्ड में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता और सदस्य प्रभृति ऋत्विकों तथा होत्राच्छंसी और चमसाध्वर्यु आदि उप ऋत्विकों के यागगत प्रकीर्ण धर्मों का सामान्य निरूपण है। 5-7 खण्डों में तीनों सवनों में चमस-भक्षण हेतु उपहवादि का कथन है।

तृतीय अध्याय—प्रथम दो खण्डों में यह प्रदर्शित है कि होता आदि के द्वारा की गई भूलें यजमान के लिए हानिकारक होती हैं, अतएव उन्हें अपने कर्त्तव्यकर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके यज्ञ को अङ्ग-वैकल्य से बचाये रखना चाहिए, क्योंकि यजमान की पशु-सम्पत्ति अध्वर्यु पर, कीर्ति होता पर, योगक्षेम ब्रह्मा पर और आत्मा उद्गाता पर आश्रित है। तृतीय खण्ड में ऋत्विक्-वरण, राजा से यान-भूमि की याचना और यागार्थ उपयुक्त भूमि का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में अवभृथ (स्नान) धर्म, यज्ञावशिष्ट द्रव्य का जल के समीप आनयन और रक्षोघ्न साम (अवभृथहेतुक) के गान-हेतुओं आदि का निरूपण है। 5-9 खण्डों में अभिचार यागों का विधान है, जिसके कारण इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है। पञ्चम खण्ड में त्रिवृत स्तोम की दो विष्टुतियों; षष्ठ में पञ्चदशस्तोम की विष्टुति, सप्तम खण्ड में सप्तदश स्तोम की विष्टुति, अष्टम में एकविंशस्तोम की विष्टुति तथा नवम में त्रिणवस्तोम की विष्टुति का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय—इसमें छह खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में व्यूढ द्वादशाह याग के धर्मों का, छन्दों के क्रम-परिवर्तन का कथन करते हुए निरूपण है। वस्तुतः यहाँ केवल नौ दिनों के कृत्यों का ही विधान है, क्योंकि प्रायणीयाख्य प्रथम दिन, उदयनीयाख्य 12 वें दिन तथा 10 वें दिन के कृत्य सभी यागों में समान होते हैं। द्वितीय खण्ड में श्येनयाग नामक अभिचार याग का निरूपण तथा उसके स्तोत्रगत स्तोमों और सामों का कथन है। तृतीय और चतुर्थ खण्डों में त्रिवृदग्निष्टोम और संदंश यागों का निरूपण है। पञ्चम-खण्ड में वज्रयाग का विधान तथा वज्र और संदंश यागों में गीयमान सामों का वैशिष्ट्य प्रदर्शित है। षष्ठ खण्ड वैश्वदेवाख्य त्रयोदशाह के निरूपण से सम्बद्ध है।

पञ्चम अध्याय—यह 7 खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में अग्निहोत्र-निरूपण करते हुए उसकी ज्योतिष्टोम से तुलना की गई है। यजमान के पात्र से आज्य के गिर जाने पर प्रायश्चित्त का विधान है। हुतावशिष्ट हवि ही इसकी दक्षिणा बतलाई गई है। द्वितीय खण्ड में कहा गया है कि अग्निहोत्र के अनुष्ठान से ही अन्य यागसाध्य इष्ट भी साधित हो जाते हैं—इसके समर्थन-हेतु एक आख्यायिका भी प्रस्तुत की गई है। तृतीय और चतुर्थ खण्डों में औदम्बरी और यज्ञयूप का वैशिष्ट्य

1. षड्० ब्रा० 2.3-5

सहित निरूपण है। पञ्चम खण्ड में सन्ध्योपासना विषयक विवरण प्राप्य हैं। इस सन्दर्भ में एक आख्यायिका के माध्यम से यह विवेचना की गई है कि प्रातः और सायंकाल ही सन्ध्या का अनुष्ठान क्यों किया जाता है। षष्ठ खण्ड में चन्द्रमा के घटने-बढ़ने का निरूपण है। देवगण शुक्ल पक्ष में सोम-पान की दीक्षा लेते हैं और कृष्णपक्ष में सोम का भक्षण करते है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक—ये सोम-पान के तीन पात्र हैं। चन्द्रमा की 15 कलाएँ उपर्युक्त पात्रों के द्वारा देवताओं के भक्षण में काम आ जाती हैं और 16 वीं कला औषधियों में प्रविष्ट हो जाती है सप्तम खण्ड में स्वाहा देवता की उत्पत्ति, पारिवारिक सम्बन्ध और उसके अक्षरादि का कथन है।

षष्ठ अध्याय—जैसा कि पहले सङ्केत किया गया है, इस अध्याय में अद्भुत कर्मों-अनिष्टों तथा अपशकुनों की शान्ति का विधान है। इसमें कुल 12 खण्ड हैं; जिनमें से प्रथम खण्ड में पलाश की समिधाओं से 1008 आहुतियों का विधान है। इन्द्र, यम, वरुण, धनद, अग्नि, वायु, सोम और विष्णु--इन आठ देवों के निमित्त आठ मन्त्र दिये गये हैं। अन्त में पठनीय स्वस्तिवाचन मन्त्र है। द्वितीय खण्ड में शत्रु-विजय के निमित्त होमविशेष का प्रतिपादन है। तृतीय खण्ड में इन्द्र-विषयक अद्भुत होमविशेष का अनुष्ठान विहित है। यह तब करणीय है जब मणिनिर्मित आभूषणों अथवा माटा, घटादि की क्षति हो, चित्त-पीड़ा हो, राजकुल के साथ विवाद का प्रसंग हो, यान–छत्रादि अथवा गृह-भाग भंग हो जाये अथवा हाथियों और अश्वों में से किसी की मृत्यु हो जाये। चतुर्थ खण्ड में यम के निमित्त अद्भुत कर्मों का अनुष्ठान विहित है। इस अनुष्ठान के निमित्त विशेष हैं—अपने, कुटुम्बियों अथवा पशुओं के शरीर में व्याधि हो। दुःस्वप्न, अनिद्रा अथवा क्षुधा-नाश की स्थिति हो, आलस्यादि से शरीर ग्रस्त हो, तब 108 बार 'नाके०'[1] प्रभृति ऋचा का गान करके यम के निमित्त आहुतिपञ्चक प्रदेय है। पञ्चम खण्ड में वरुण से सम्बद्ध अद्भुतों की शान्ति का विधान है। यह क्षेत्रस्थ अथवा गृहगत अन्न को मूषकादि या अतिवृष्टि आदि से क्षति पहुँचने की स्थिति में करणीय है। उपर्युक्त कारणों के उपस्थित होने पर 'घृतवती'[2] ऋक् के गान तथा वरुण के निमित्त पाँच आहुतियाँ देने का विधान है। षष्ठ खण्ड में स्वर्ण, रजत, वैदुर्यादि की हानि होने पर किये गये उद्योग के निष्फल होने पर, मित्रों के विद्वेष करने पर, पिशाचादिजन्य उद्वेग होने पर, कष्टकर पक्षियों के घर में बसेरा बनाने पर वैश्रवणदेव के निमित्त होम विहित है। इस कृत्य में वैश्रवण, यक्षादिपति, हिरण्य-पाणि, ईश्वर ओर सर्वपापप्रशमयिता—इन पाँच नामों के निमित्त आहुतिपञ्चक देकर 'अभित्यं देवम्'[3] मन्त्र गेय है। सप्तम खण्ड में अग्नि से सम्बद्ध अपशकुनों के

---

1. साम० सं० 320   2. वही, 368   3. वही, 464

निवारण की विधि उल्लिखित है। जब पृथिवी तड़-तड़ करके फटने लगे, उसमें कम्पन होने लगे, अग्नि के विना ही धूम उत्पन्न हो, बिना वर्षा के जल गिरे, जल में प्रक्षिप्त पत्थर न डूबे और प्रक्षिप्त मृत शरीर डूब जाये, अकाल पुष्प-फल उत्पन्न हों, तब यह अनुष्ठेय है। अष्टम खण्ड में वायु देव से सम्बद्ध उत्पातों के शमन-हेतु होम विशेष विहित हैं। इसके निमित्त विशेष हैं—वायु का अतिरेक अथवा अभाव, पर्वतों का टूट-टूटकर गिरना, घर में वन्य पशुओं का प्रवेश, आकाश से मांस-खण्ड और रुधिरादि की वर्षा—इत्यादि। नवम खण्ड में यजमान के द्वारा स्वर्गाभिमुख होकर सोम के अद्भुतों की शान्ति का विधान है। इस होम के ये निमित्त विशेष हैं—नक्षत्र टूटकर गिरने लगना, उल्कापात, अन्तरिक्ष में धूमकेतु का आविर्भाव, गायों के थनों से दूध के स्थान पर रक्तस्राव इत्यादि। दशम खण्ड में विष्णुजन्य अद्भुतों की शान्ति के निमित्त होम विशेष का सम्पादन विहित है। इसके निमित्त विशेष हैं—स्वप्न में अयाननद्ध अश्वादि का गमन दिखना, देव-प्रतिमाओं का हँसना तथा पसीजना इत्यादि। इस कृत्य में स्वस्तिवाचन के साथ ब्राह्मण-भोजन तथा दक्षिणा का भी विधान है। 11 वें खण्ड में रुद्र और 12 वें में सूर्यदेवत्य अद्भुतों की शान्ति का विधान है।

इस प्रकार यह ब्राह्मणग्रन्थ श्रौतयागों के साथ ही लोक-विश्वासों के आधार पर चलने वाले समानान्तर धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध आनुष्ठानिक कृत्यों का भी श्रौतस्वरूप में ही प्रस्तावक है।

षड्विंश ब्राह्मण में यज्ञीय विधि विधानों की व्याख्या के सन्दर्भ में प्रायः 24 आख्यायिकाएँ आई हैं, जिनकी यथास्थान समीक्षा की जायेगी। इनमें से इन्द्र और अहल्याविषयक आख्यान, जिसका पुराणों में परवर्ती काल में प्रचुर पल्लवन हुआ, यहाँ विशेष रूप से उल्लेख्य है।

सामविधान ब्राह्मण

सामवेदीय ब्राह्मणों के मध्य इसका तृतीय स्थान है। ताण्ड्य और षड्विंश शाखान्तरीय ब्राह्मणों के समान अपने को श्रौतयागों के विवेचन तक ही सीमित रखते हैं। इसके विपरीत सामविधान ब्राह्मण जादू टोने से सम्बद्ध सामग्री का भी प्रस्तावक है। इसमें प्रतिपादित विषय अधिकांशतया धर्मशास्त्र के क्षेत्र में आ जाते हैं। तात्पर्य यह कि सामविधान ब्राह्मण में श्रौतयागों के साथ ही प्रायश्चित्त-प्रयोग, कृच्छ्रादि व्रत, काम्ययाग तथा विभिन्न लौकिक प्रयोजनानुवर्तित अभिचार कर्मादि भी निरूपित है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से इस ब्राह्मण का फलक बहुत व्यापक है।

ब्राह्मणग्रन्थों के मध्य इसके वैशिष्ट्य के निम्नांकित प्रमुख कारण हैं :—

(1) यज्ञविषयक दृष्टिकोण के विकास-बिन्दुओं को इसमें सरलता से परिलक्षित किया जा सकता है। यज्ञ का द्रव्यात्मक रूप, जिसके अनुष्ठान में प्रचुर समय एवं धन की आवश्यकता होती है, शनै शनैः सरल स्वरूप लेते हुए दिखाई देता है। जप-यज्ञ एवं स्वाध्याय-यज्ञ के रूप में यज्ञ का जो उत्तरोत्तर विस्तृत विकसित रूप आरण्यकों एवं उपनिषदों में उभरा है, उसके मूल बिन्दु सामविधान ब्राह्मण में निहित हैं। श्रौतयागों के समान ही इसमें स्वाध्याय एवं जप-तप को भी महत्त्व प्रदान किया गया है।[1] यह वह बिन्दु है, जहाँ से स्वाध्याय यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और जपयज्ञ की अवधारणा विकसित हुई।[2] सामवि० ब्रा० में उन लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए मात्र साम-गान का विधान किया गया है, अन्यत्र जिनके लिए बहुव्यय और दीर्घकालसाध्य याग विहित हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत का सादृश्य इसी श्रेणी के ऋग्विधान और अथर्वपरिशिष्टादि ग्रन्थों से स्पष्ट लक्षित होता है।

(2) साम-गान को इसमें सृष्टि के लिए जीवन-साधन के रूप में बतलाया गया है...'स वा इदं विश्वं भूतमसृजत। तस्य सामोपजीवनं प्रायच्छत्।'[3]

(3) देवशास्त्रीय दृष्टि से इस ब्राह्मण में अनेक नवीन तथ्य उपलब्ध होते हैं। एक स्थल पर उदक-तर्पण के सन्दर्भ में मन्त्र दिया गया है—'नमोऽहमाय मोहमाय मंहमाय नमोनमः।'[4] इसके देवता के विषय में सायण तक ने अपनी असमर्थता प्रकट की है—'यद्यप्यत्र देवताविशेषः स्पष्टो न प्रतीयते।' तात्पर्य यह कि उपर्युक्त मन्त्र में आये 'अहम' 'मोहम' और 'मंहम' सदृश देव-नाम देवों की पारम्परिक नामावली से भिन्न हैं। धन्वन्तरि, जो पुराणों में समुद्र-मन्थन से उद्भूत बतलाये

1. तेषामहीयन्ताजाः पृश्नयो वैखानसा वसुरोचिषो ये चापूता ये च कामेप्सवस्तेऽब्रुवन् कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम' इति। तेभ्यो एतत् स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत, तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमेष्यथेति। ताभ्यां स्वर्गं लोकमायन्—सामवि ब्रा० 1.1.17 इसकी तुलना बृहदारण्यकोपनिषद् के आरम्भ में प्राप्त इस शांकरभाष्यांश से की जा सकती है, जहाँ कहा गया है कि जो अश्वमेधादि के अधिकारी नहीं हैं, उन्हें इस विज्ञान से ही अश्वमेधादिजन्य फल की प्राप्ति हो जाती है—'येषामश्वमेधे नाधिकारः तेषामस्मादेव विज्ञानात् तत्फलप्राप्तिः 'विद्यया वा कर्मणा वा' तद्धैतल्लोकजिदेव' इत्येवमादिश्रुतिभ्यः। 'योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद इति विकल्पश्रुतेः।'

2. Sam Vidhana Brahmana : Introduction, Page 3

3. सामवि०ब्रा० 1.1.6

4. वही 1.2.7. ; पृ० 24

गये हैं और आयुर्वेद के प्रवर्तक माने गये हैं, उन्हें इस ब्राह्मण में वरुण के साथ विशेष रूप से समीकृत किया गया है—'वरुणाय धन्वन्तरये ।'[1] सायण के अनुसार 'धन्व' का अभिप्राय जलरहित स्थान है, उसे वृष्टि के जल से तृप्त करने के कारण वरुण का 'धन्वन्तरि' नाम सार्थक है। 'विनायक' और 'स्कन्द' का देवों के मध्य उल्लेख भी उल्लेखनीय है ।[2]

इनके अतिरिक्त भाषाशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है । सर्वाधिक महत्त्व है साम-गानों की प्रस्तुति के सन्दर्भ में, क्योंकि इसमें कतिपय ऐसे मन्त्र-प्रतीक आये हैं, जिनकी वर्तमान सामवेद संहिता से पहचान नहीं हो पाती है ।[3] इस विषय में विस्तृत विचार गान-प्रक्रिया विषय परिच्छेद में किया जायेगा ।

सम्पूर्ण सामवि०ब्रा० तीन प्रपाठकों और 25 अनुवाकों में विभक्त है । प्रपाठक-क्रम से विषय-वस्तु का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम प्रपाठक––प्रथम प्रपाठक के प्रथम अनुवाक में प्रजापति की उत्पत्ति और उनके द्वारा भौतिक सृष्टि, साम-प्रशंसा और निर्वचन, सामस्वरों के देवता, देवों के निमित्त यज्ञ और यज्ञ के अनधिकारियों के लिए स्वाध्याय तथा तप का विधान है। द्वितीय अनुवाक में कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रतों का स्वरूप तथा फल उल्लिखित है । तृतीय अनुवाक में स्वाध्याय और अग्न्याधेय के सामान्य नियम, पवमान दर्शपूर्णमास अग्निहोत्र, पाञ्चरात्रिक प्रयोग, पशुबन्ध और सौत्रामणि प्रयोगों का उल्लेख है । चतुर्थ अनुवाक में कतिपय श्रौतयागों के साथ रुद्रादि की प्रीति के साधन स्वरूप साम गान विहित है । पञ्चम से अष्टमपर्यन्त अनुबाकों में अश्लील-भाषण, चोरी, अगम्या-गमन, अग्राह्य-ग्रहणादि विषयक प्रायश्चित्त दिये हुए हैं ।

सम्पूर्ण द्वितीय प्रपाठक के प्रथम तीन अनुवाकों में काम्य, रोगादिजन्य भय-शमनार्थ, क्षेमार्थ और वशीकरण हेतुक विभिन्न प्रयोग उल्लिखित हैं । चतुर्थ से अष्टम पर्यन्त अनुवाकों में वैविध्यपूर्ण सामग्री है, जिसमें अभीष्ट की सिद्धि अथवा असिद्धिविषयिणी परीक्षा, राज्याभिषेक-प्रयोग अद्‌भुत-अभिचार-शान्ति, युद्ध-विजय के निमित्त प्रयोग तथा पिशाचों के वशीकरणार्थ, पितरों और गन्धर्वों के दर्शनार्थ गुप्तनिधि कीं प्राप्ति के निमित्त तथा अन्य बहुत से काम्य प्रयोग दिये गये हैं । नवम प्रपाठक के अन्त में तीन विषयों—साम-सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों का अनुक्रम,

1. सामवि० ब्रा० 1.3 8 2. वही, 1.4.19-20
3. प्रो० बे० रा० शर्मा का विचार है कि वर्तमान सामसंहिता से कतिपय मन्त्र लुप्त हो गये हैं, जो ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के प्रणयन-काल में उनमें थे।

अध्ययन के अधिकारियों तथा उपाध्याय की दक्षिणा का निरूपण करके ग्रन्थ का समापन हो जाता है।

इस प्रकार श्रौत एवं तान्त्रिक विधि-विधानों के समन्वय के सन्दर्भ में सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के मध्य इसका स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है।

इस पर अब तक सायण तथा भरतस्वामी[1] के भाष्य मुद्रित हुए हैं। 13वीं शती ई० के भरतस्वामी की व्याख्या में उन स्थलों पर भी प्रकाश डाला गया है जिन्हें सायण ने अव्याख्यात रूप में छोड़ दिया था।

आर्षेय ब्राह्मण

सामवेदीय ब्राह्मणों के मध्य इसका चतुर्थ स्थान है। इसके प्रतिपाद्य विषय के सन्दर्भ में, ग्रन्थारम्भ में कहा गया है—'अथ खल्वयमार्षप्रदेशो भवति'।[2] तदनुसार इसमें सामवेद के ऋषियों से सम्बद्ध विवरण है। नामधेय से भी यही स्पष्ट होता है, किन्तु व्यवहारतः न तो यह साम-गान के ऋषियों का कथन करता है और न ही ऋषिगायकों की व्यापक सूची ही प्रस्तुत करता है। इसमें केवल गानों के नाम उसके प्रसिद्ध नामान्तरों के साथ प्रदत्त हैं। प्रायः गानों के नाम उन ऋषियों के नाम पर हैं, जिन्होंने उनकी योजना की है। अतएव आर्षेय ब्राह्मण का नामकरण इस दृष्टि से सार्थक है कि इसकी विषय-वस्तु ऋषियों से सम्बद्ध है। चार प्रकार के सामगानों में से आर्षेय का सम्बन्ध मात्र प्रथम दो गानों–ग्रामगेय और अरण्यगेय–से है, जो महानाम्न्यार्चिक के साथ मिलकर सामसंहिता के पूर्वार्चिक भाग के अन्तर्गत हैं। आर्षेय ब्राह्मण ऊह और ऊह्यगानों पर विचार नहीं करता।

---

1. भरतस्वामी सामवेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार हैं, जिन्होंने सम्भवतः सभी सामब्राह्मणों पर भाष्य रचे थे। सम्प्रति उनके केवल सामवेद और सामवि० ब्रा० विषयक भाष्य ही उपलब्ध होते हैं। अपने सामवेद भाष्य के आरम्भ में उन्होंने जो उपक्रमणिका दी है, उससे ज्ञात होता है कि होयसल सम्राट् रामनाथ के वे समसामयिक थे। कश्यपगोत्रीय भरतस्वामी के माता-पिता का नाम था यज्ञदा और नारायणार्य। गुरु थे श्रीनागनाथ। सामवेद-भाष्य की रचना उन्होंने श्रीरंगम में रहकर की—

'नमोऽस्तु सामदुग्धाब्धिमन्थमन्दरभूभृते। श्रीमते नागनाथाय गुरवे गुणराशये॥...
नत्वा नारायणं देवं तत्प्रसादादवाप्तधीः। साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृच।
होयसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासित। व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरंगे वसता मया।
इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः। नारायणार्यतनयो व्याख्यात्साम्नामृचोऽखिलाः

2. आर्षेय ब्रा० 1.1.1.

सामगानों का नामकरण प्रायः पांच आधारों पर हुआ है, जिनके कारण गानों की पांच कोटियां बन गई हैं।[1] इसमें से प्रथम कोटि के नाम ही उनके साक्षात्कर्त्ता ऋषियों के नामों पर प्रकाश डालते हैं। अन्य चार प्रकार के नामों की स्थिति इसके विपरीत है। इस कारण आर्षेय ब्राह्मण, गानों के नाम देते समय उनके ऋषियों के नामों का उल्लेख कर देता है; यथा—'अग्नेर्वैश्वानरस्य यज्ञायज्ञीयम्'[2], 'प्रजापतेः सुतं रयिष्ठीये'[3], 'अग्नेर्वैश्वानरस्य राक्षोघ्नमत्रेर्वा वसिष्ठस्य वीङ्कम्'[4] इत्यादि। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख्य है कि कभी-कभी किसी गान के ऋषि का नामकरण उस गान के आधार पर दिखलाई देता है, जिसकी उसने योजना की। ऐसी स्थिति में उस ऋषि की प्रसिद्धि किसी उपनाम से हो जाती है और वास्तविक नाम विस्मरण के गर्त में निमग्न हो जाता है, किन्तु आर्षेय ब्राह्मण में उस ऋषि-नाम के साथ गोत्र-नाम का भी उल्लेख है, जैसे 'दावसुनिधन' गान के ऋषि हैं दावसु और 'हविष्मन्' गान के ऋषि हैं हविष्मान, इन दोनों ऋषियों का नामकरण गानों के निधनभाग क्रमश 'दावसे' (2345) और 'हविष्मते' (2345) के आधार पर हुआ है; किन्तु इन गानों का उल्लेख करते समय आर्षेय ब्राह्मण यह कहना नहीं भूलता कि प्रकृत गानद्रष्टा ऋषियों का सम्बन्ध अङ्गिरा गोत्र से है।

आर्षेय ब्राह्मण की रचना सूत्र-शैली में हुई है जो सामवेद के अनुब्राह्मणों की विशेषता है। इनकी भाषा में प्राचीन रूपों का अस्तित्व नहीं है, अतएव सामान्यतया ये अपेक्षाकृत परवर्ती वेदकालिक माने जाते हैं।

अन्य सामवेदीय अनुब्राह्मणों के समान, विद्वानों का आर्षेय ब्राह्मण के विषय में भी विचार है कि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर विशालकाय सामवेदीय महाब्राह्मण का उसी प्रकार से एक भाग है, जैसे विभिन्न पर्व महाभारत के भाग मात्र हैं।

---

1. गानों का नामकरण जिन आधारों पर हुआ है, वे ये हैं—
   (क) उन ऋषियों के नामों के आधार पर, जिन्होंने उनका साक्षात्कार किया, यथा—सैन्धुक्षित, औशन आदि।
   (ख) ऋचा के प्रारम्भिक पदों के आधार पर, जैसे विश्वोविशीय, यज्ञाययीय आदि।
   (ग) निधन (गान का अन्त्य भाग) के आधार पर, जैसे सुतं रयिष्ठीय, दावसुनिधन इत्यादि।
   (घ) प्रयोजनमूलक, जैसे संवर्ग, रक्षोघ्न इत्यादि।
   (ङ) जो इनमें से किसी श्रेणी में नहीं आते, जैसे वीङ्क इत्यादि।

2. आ॰ ब्रा॰ 1.5.1 3. वही, 2.4.7 4. वही, 1.7.3

प्रो० बे० रा० शर्मा का अभिमत[1] है कि कम-से-कम देवताध्याय ब्राह्मण और आर्षेय ब्राह्मण तो किसी एक ग्रन्थ के ही दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः सामों के ऋषियों और देवों का निरूपण हुआ है। इसका द्योतन देवताध्याय ब्राह्मण के अन्तिम सूत्र से भी होता है – 'स्वस्ति देवऋषिभ्यश्च।' सायण ने यों तो अपनी भाष्य-भूमिकाओं में आर्षेय ब्राह्मण और देवताध्याय ब्राह्मण का उल्लेख पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में किया है, किन्तु देवताध्याय के समापन के समय आर्षेय ब्राह्मण से एक सूत्र को उद्धृत करते हुए वे दोनों को दो खण्ड मात्र मानते हुए प्रतीत होते हैं—'पूर्वस्मिन् खण्डे तत्सवितुरित्यस्यां सावित्र्यां गायत्रं गीतम्। तस्य च देवता उक्ताः। आर्षेये च अयातयामत्वं ऋषयश्च प्रतिपादिताः गानप्रकारस्य च लक्षणमुक्तं प्रथमायां वा।[2] देवताध्याय ब्राह्मण की एक कारिका[3] पर भाष्य करते समय सायण पुनः दोनों की एकता का स्मरण कराते हैं—'यद्वा साम्नाम् ऋषिदेवतयोरुभयोरप्यपेक्षितत्वात् तदुभयप्रतिपादकार्षेयदेवताध्यायाख्यग्रन्थद्वयस्य एकत्वाभिप्रायेण ऋषीणां विषयज्ञ इत्युपन्यासः।'

देवताध्याय ब्राह्मण के विषय में प्रायः यह मान्यता रही है कि उसमें मात्र तीन खण्ड हैं। विद्वानों का विचार है कि देवताध्याय ब्राह्मण के तृतीय और चतुर्थ खण्ड 'आर्षेय-देवताध्याय ब्राह्मण' नामक एक ही ग्रन्थ के, सामान्यतः 'आर्षेय'—नाम से प्रसिद्ध रहा है और देवताध्याय जिसका एक अध्याय मात्र है, अन्तिम अध्याय हैं।

देवताध्याय ब्राह्मण के अन्त में आयी पूर्वोक्त कारिका[4] वस्तुतः आर्षेय ब्राह्मण के आरम्भ में उल्लिखित 'एकैकस्य ऋषेः०'[5] प्रभृति के सन्दर्भ में है—इससे भी दोनों ब्राह्मणों की एकता सिद्ध होती है—अन्यथा देवताओं का विवेचन करने वाले ग्रन्थ में ऋषि ज्ञान-महत्त्व बतलाने की सार्थकता नहीं हो सकेगी। 'देवताध्याय' नाम का अभिप्राय ही है देवताविषयक एक अध्याय मात्र, जो किसी ग्रन्थ का भाग ही हो सकता है।

---

1. ĀRṢEYA BRĀHMAṆA : Introduction, page 11 & 13.
2. आ० ब्रा० 1.5
3. ऋषीणां विषयज्ञो यः स शरीराद् विमुच्यते।
   अतीत्य तमसः पारं स्वर्गे लोके महीयते॥—देवता० ब्रा० 3 24
4. देवता० ब्रा० 3-24
5. एकैकस्य ऋषेः दिव्यं वर्षसहस्रमतिथिर्भवति।...ऋषीणां संस्थानो भवति। संस्थानो भवति ब्राह्मणः। स्वर्गे लोके महीयते। स्मरन्नाजायते पुनः।

आर्षेय ब्राह्मण में ग्रामगेयगानों का उल्लेख संहितोक्त क्रम से है। आ० ब्रा० के अनुसार साम-गानों के ऋषि-नामों और उनके गोत्रों के ज्ञान से स्वर्ग, यश, धनादि फलों की प्राप्ति होती है—'ऋषीणां नामधेयगोत्रोपधारणम् स्वर्ग्यं यशस्यं धन्यं पुण्यं पुत्र्यं पशव्यं ब्रह्मवर्चस्यं स्मार्त्तमायुष्यम् ।'[1] इस ब्राह्मण का अध्ययन प्रातः प्रातराश से पूर्व होना चाहिए—'प्राक् प्रातराशिकमित्याचक्षते ।'[2]

देवताध्याय ब्राह्मण

इसका आकार अत्यन्त अल्प है और इसमें केवल 4 खण्ड हैं। कतिपय हस्तलेखों और प्रकाशित संस्करणों में मात्र तीन ही खण्ड हैं। जैसा नाम से स्पष्ट है, इसमें मुख्य रूप से निधन-भेद से सामों के देवताओं का निरूपण हुआ है। प्रथम खण्ड में देव - नामों का ही विभिन्न सामों के सन्दर्भ में संकीर्तन है। द्वितीय खण्ड में छन्दों के वर्णों और देवताओं का निरूपण हुआ है। तृतीय खण्ड में सामाश्रित छन्दों के नामों की निरुक्तियाँ हैं। चतुर्थ खण्ड में गायत्रसाम की आधारभूत सावित्री के विभिन्न अंगों की विविध देवरूपता का वर्णन है। सायण ने इस विषय-वस्तु का इसी प्रकार से परिगणन किया है।[3]

आ० ब्रा० के प्रसंग में कहा जा चुका है कि यह किसी बड़े ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्याय मात्र प्रतीत होता है।

देवता० ब्रा० में सामगानों के, सूक्तों तथा ऋचाओं के नहीं, देवताओं के निर्णय की प्रक्रिया का कथन है। साम-गान के देवताओं के रूप में सर्वप्रथम अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, वरुण, त्वष्टाङ्गिरस्, पूषा, सरस्वती और इन्द्राग्नी का उल्लेख है।

विभिन्न छन्दों के नाम-निर्वचनों का निरुक्त से सादृश्य है। प्रतीत होता है कि दोनों ने ही इन्हें किसी अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ से लिया है, क्योंकि दोनों ही किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं।

सम्पूर्ण देवताध्याय ब्राह्मण में सूत्र-शैली का प्रयोग हुआ है।

---

1. आ० ब्रा० 1.1.1-2
2. वही, 1.1.4
3. साम्नां निधनभेदेन देवताध्ययनादयम्।
   ग्रन्थोऽपि नामतोऽन्वर्थाद् देवताध्याय उच्यते ।
   तत्राद्ये बहुधा साम्नां देवताः परिकीर्तिताः ।
   द्वितीये छन्दसां वर्णास्तेषामेव च देवताः ।
   तृतीये तन्निरुक्तिश्चेत्येवं खण्डार्थसंग्रहः ॥

उपनिषद् ब्राह्मण

इसका नामान्तर छान्दोग्य ब्राह्मण है, जिसमें 10 प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्यकृत्यों में विनियुक्त मन्त्र संकलित हैं। इसीलिए सौविध्यवश इस अंश को मन्त्रब्राह्मण या मन्त्र-पर्व भी कह दिया जाता है।[1] शेष आठ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् कहलाते हैं। मन्त्र और उपनिषद् दोनों ही अंशों को मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ 'उपनिषद् ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध रहा है, जैसा कि कतिपय हस्तलेखों की पुष्पिका में कहा गया है।[2] तात्पर्य यह कि इस ब्राह्मण के दोनों भागों—कर्मकाण्डपरक मन्त्र भाग और उपनिषदंश—को मिलाकर एक पूर्ण ग्रन्थ बन जाता है।[3]

छा० ब्रा० में कुल 268 गृह्यमन्त्र हैं। ये सभी मन्त्र गोभिल और खादिर गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत विभिन्न गृह्यकृत्यों में विनियुक्त हैं। छा० ब्रा० का मन्त्र-क्रम गृह्यसूत्र के क्रम का अनुगामी है। गोभिल और खादिर दोनों ही सूत्रकार प्रायः गृह्यकृत्य का वर्णन करके पठनीय मन्त्र के लिए छा० ब्रा० का सन्दर्भ दे देते हैं। छा० ब्रा० के साथ सूत्र ग्रन्थों की इतनी निकटता के आधार पर प्रो० नौएर (Knauer) ने मत व्यक्त किया है कि गोभिल गृह्यसूत्र छा० ब्रा० पर आधृत है।[4] विण्टरनित्स ने भी इससे सहमति प्रकट की है, किन्तु ओल्डेनबर्ग का विचार है कि छा० ब्रा० और गो० गृ० सू० दोनों ही ग्रन्थ किसी समानान्तर योजना के अन्तर्गत रचित हैं।[5] खादिर गृ० सू० में भाष्यकार रुद्रस्कन्द ने 'अथातो गृह्याकर्माणि'[6] के विषय में कहा है कि यह किसी पूर्ववर्ती वैदिक ग्रन्थ का द्योतक है, जिसमें 'देवसवितः' मन्त्र संकलित था—"अथ अनन्तरम्। कस्मात् अनन्तरम्? देवसविता इत्यादि मन्त्रवत् शाखाध्ययनात्।" यहाँ स्पष्ट रूप से छा० ब्रा० का सन्दर्भ निहित है, क्योंकि उसी का प्रारम्भ 'देवसवितः' मन्त्र से है।

---

1. सायण का कथन है—'तत्रोपनिषदाख्यो यः षष्ठो ग्रन्थः स च द्विधा मन्त्र पर्वं च विद्येति...।'–छा० ब्रा०–भाष्य–भूमिका।
2. इत्युपनिषद्ब्राह्मणे मन्त्राध्यायस्य कर्मकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः।
3. मन्त्र ब्राह्मण का ही दूसरा नाम छान्दोग्य ब्राह्मण नहीं है, जैसा कि कतिपय विद्वानों ने कहा है।
4. Das Gobhil Gṛhya Sutra, Zweites Heft, pp. 22–43; Vedische Fragen in Festgruss on Roth, pp. 61.
5. आपस्तम्ब मन्त्र पाठ, Anecdota Oxoniensia, pp. XXXI F.
6. खादिर गृ० सू० 1

छा० ब्रा० पर दो व्याख्याएँ हैं—गुणविष्णुकृत 'छान्दोग्य-मन्त्र-भाष्य' तथा सायण-कृत 'वेदार्थ प्रकाश'। गुणविष्णु सायण से पूर्ववर्ती हैं।[1] उनके छा०-भाष्य में निघण्टु, निरुक्त और मीमांसा ग्रन्थों के साथ ही ब्राह्मणों, उपनिषदों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों के भी उद्धरण प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं। व्याकरणविषयक किसी विवाद की स्थिति में इन्होंने अष्टाध्यायी, ऋक् प्रातिशाख्य और काशिका का सन्दर्भ दिया है।

छा० ब्रा० में मन्त्र-भाग के अतिरिक्त आठ प्रपाठकों अथवा अध्यायों में सुप्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् है। छा० उप० और केनोपनिषद् के शान्तिपाठ एक हैं, इस आधार पर कतिपय अध्येताओं ने इसे तवलकार शाखीय बतलाया है।[2] किन्तु वह पूर्णतया कौथुम शाखीय है, क्योंकि शंकराचार्य ने इसे 'ताण्डिनामुपनिषद्' के रूप में ही उद्धृत किया है।

छा० उप० की वर्णन-शैली अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इसमें तत्त्वज्ञान और तदुपयोगी कर्म तथा उपासनाओं का विशद वर्णन है।[3] शंकराचार्य ने इस पर भाष्य-प्रणयन किया है, जिसके कारण इसका महत्त्व स्वयमेव स्पष्ट है। उपनिषद् के प्रथम पाँच अध्यायों में विभिन्न उपासनाओं का मुख्यतया वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों में तत्त्वज्ञान था। इन उपासनाओं का विवेचन चतुर्थ परिच्छेद में किया जायेगा। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण आख्यान और उपाख्यान आये हैं।

1. गुणविष्णु बंग प्रदेश के निवासी थे। हलायुध, रघुनन्दन आदि ने उन्हें उद्धृत किया है। पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वे भट्टदामुक के पुत्र थे। हलायुध के 'ब्राह्मणसर्वस्व' में इनके उद्धरण प्राप्त होने के कारण गुणविष्णु का समय 12वीं शती से भी प्राचीन है। 'ब्राह्मणसर्वस्व' का समय निश्चित ही है, क्योंकि उसकी रचना बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राज्य-काल में हुई थी। स्वयं कौथुम शाखीय होने पर भी यह सभी वैदिक शाखाओं के श्रेष्ठ ज्ञाता प्रतीत होते हैं।
2. द्रष्टव्य गीताप्रेस, गोरखपुर के संस्करण की प्रस्तावना।
3. संहितोपनिषद् के स्वकीय भाष्य की भूमिका में दिवजराज भट्ट का कथन है कि इन उपासनाओं के माध्यम से रहस्योपनिषद् में वस्तुतः यज्ञ विधान का ही निरूपण है—उपासनाकाण्डे प्रथमाध्याये उद्गीथोत्पत्त्युगीथाक्षरप्रशंसनसामोपधावनसामशब्दनिर्वचनचक्षुरादित्यस्थितयज्ञाधीशस्वरूपवर्णनसामप्रतिष्ठापनप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारदेवताप्रदर्शनाग्न्नोपह्वानस्तोभदेवताप्रदर्शनादयैर्वचनैर्यज्ञविधानमेवोक्तम्। दिवतीयाध्याये बृहदाद्युपासनप्रसंगेन यज्ञविधानमेवोक्तम्। पृष्ठ 11

यथा—शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण का संवाद, उपस्ति का आख्यान, शौवसाम-सम्बन्धी उपाख्यान, राजा जानश्रुति और रैक्व का उपाख्यान, सत्यकाम का उपाख्यान, केकय अश्वपति का आख्यान इत्यादि ।

साम-गान की दार्शनिक अधिष्ठानपरक व्याख्या करते हुये ओङ्कार तथा साम के निगूढ़ स्वरूप का विवेचन किया गया है । शौव उद्गीथ में भौतिक प्रयोजनों से प्रेरित होकर यज्ञानुष्ठान और साम-गान करने वालों पर व्यंग्य किया गया है। इसमें संभवतः सामविधान ब्रा० और षड्विंश ब्रा० के अद्भुत शान्ति प्रकरण में विहित विभिन्न अभिचार और काम्यकर्मों की ओर संकेत है ।

छान्दोग्योपनिषद् गत दार्शनिक तत्त्वज्ञान पर दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत विचार किया जायेगा । इस पर शाङ्करभाष्य के अतिरिक्त आनन्दतीर्थादि के भाष्य भी उपलब्ध हैं ।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, संहितोपनिषद् ब्रा० संहिता के निगूढ़ रहस्य का प्रकाशक है । अन्य वेदों में 'संहिता' का अभिप्राय मात्र किसी विशेष क्रम से संकलित मन्त्रसंग्रह से है, किन्तु संहितोपनिषद् ब्रा० में 'संहिता' शब्द का इसी प्रचलित अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है । 'संहिता' का तात्पर्य यहाँ ऐसा सामगान है, जिसका गान विशेष स्वर-मण्डल से अनवरत रूप से किया जाता हो—इस सन्दर्भ में सायण का कथन है—'सामवेदस्य 'गीतिषु सामाख्या'[1] इति न्यायेन केवलगानात्मकत्वात् पदाभावेन प्रसिद्धा संहिता यद्यपि न भवति तथापि तस्मिन् साम्नो सप्तस्वरा भवन्ति । क्रुष्ट प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्या इति । तथा मन्द्रमध्यमतारा-णीति त्रीणि वाचः स्थानानि भवन्ति । एतेषां यः सन्निकर्षः सा संहिता ।[2]

किन्तु द्विजराज भट्ट ने 'संहिता' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए उससे आर्चिक ग्रन्थ का अभिप्राय ग्रहण किया है—'अत्र संहिताशब्देन आर्चिक ग्रन्था उत्यन्ते । अध्यापकाध्येतृणां सम्यक् हितकर्यः संहिताः । अथवा सन्ततप्रकारेण द्विपदावसानेनैव अधीयानाः संहिताः । अथवा उपवीतानन्तरं शरीरावसानपर्यन्तं सन्ततमधीयन्त इति संहिताः ।' परन्तु द्विजराज भट्ट की व्याख्या प्रकृतप्रसंग में उपादेय नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि संहितोपनिषद् ब्रा० ने संहिता का वर्गीकरण 'देवहू', 'वाक्शबहू' और 'अमित्रहू'—इत्यादि तीन प्रकार से किया है, यह मन्द्रादिस्वरजन्य उच्चारण पर आधृत है, जो गान-विधि के बिना सम्भव नहीं है। द्विजराज संहिताओं के दो रूप मानते हैं—आर्चिक संहिता और गानसंहिता।

---

1. मीमांसा सूत्र, 2.1 36 2. संहितो० ब्रा० भाष्य-भूमिका

उनके अनुसार संहितोपनिषद् ब्रा० के प्रथम और द्वितीय खण्डों में क्रमशः इनका निरूपण हुआ है।[1]

इस प्रकार प्रस्तुत ब्राह्मण में संहिता का विभाजन विभिन्न श्रेणियों में किया गया है। ऊपर 'देवहू' प्रभृति भेद उल्लिखित हैं। इनके गान-प्रकारों का आश्रय लेने वाले साम-गाताओं के लिए विभिन्न फलों का निर्देश भी है। देवहू संहिता वह है, जिसका उच्चारण मन्द्रस्वर से होता है और उसके गान से देवगण शीघ्र पधारते हैं। देवहू प्रकार का उद्गाता समृद्धि, पुत्र, पशु आदि की प्राप्ति करता है और वाक्शबहू प्रकार से गायन करने वाला, जो अस्पष्टाक्षरों में गान करता है, शीघ्र ही मर जाता है। आगे संहिता का शुद्धा, दुःस्पृष्टा और निर्भुजा रूपों में विभाजन किया गया है। इनके अतिरिक्त देवदृष्टि से भी संहिता का वर्गीकरण है। द्वितीय और तृतीय खण्डों में सामगान की पद्धति का विधिवत् निरूपण है,[2] जो सामगाताओं के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तृतीय खण्ड में विद्या-दान की दृष्टि से अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ और पञ्चम खण्डों में भी इसी विषय का उपबृंहण हुआ है। प्रकृत प्रसंग में इसके 'विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम' प्रभृति मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें निरुक्त में उद्धृत और मनुस्मृति इत्यादि में अनूदित किया गया। आलोच्य ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में प्रसंगतः विविध गुरु-दक्षिणाओं का भी विधान है, जिन्हें विद्या-प्राप्ति के अनन्तर शिष्य गुरु के चरणों में समर्पित करता है।

इस पर दो भाष्य प्राप्त होते हैं—सायणकृत 'वेदार्थप्रकाश' और द्विजराज भट्ट–कृत भाष्य। वेदार्थप्रकाश अद्यावधि मात्र प्रथम खण्ड तक ही उपलब्ध है,

---

1. इह पूर्वस्मिन्नार्चिकसंहिताप्रयोगविधिः सम्यगुक्तः। तदुत्तरं गानसंहिताविधिः वक्तव्यः—संहितोपनिषद् ब्रा० भाष्य, पृष्ठ 33

2. द्विजराज भट्ट ने संहितो० ब्रा० के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा है—'सर्वेषु यज्ञेषु स्तोत्रशस्त्राणां प्राधान्यम्। तत्र शास्त्राण्यपि स्तोत्राधीनानि, अथ अन्येषु ब्राह्मणेषु सकलयज्ञविधानमुक्तम्। तथापि प्राधान्येन वर्तमानस्तोत्ररूप-सामगानविचारह्रस्वदीर्घप्लुतभेदकम्पोत्स्वरिताभिगीतप्रणतविनतप्रकृत्यायिभाव-सन्धिवत् पदवत्संकृष्टविकृष्टस्तोभविचारोच्चनीचवृद्धावृद्धकृष्टाकृष्टसंशयप्राप्त-विधिप्रदर्शनरथन्तरसामाख्यविशेषवर्णनप्रस्तावादिभक्तिदर्शनमध्यनिधनोदूहलक्षणवेदाध्ययनफलशिष्यपात्रापात्रनिरूपणगुरुभक्तिदक्षिणाविधानमत्रैवोक्तम्। अत एतच्छास्त्रमन्तरेणैतद्विज्ञानं न संभवति।'—भाष्योपक्रमणिका।

यद्यपि 'वंशब्राह्मण' पर अपने भाष्य का प्रणयन करने से पूर्व 'संहितोपनिषद्' सहित सात सामवेदीय ब्राह्मणों पर भाष्य रचने की बात उन्होंने कही है।[1]

द्विजराज भट्ट[2] का भाष्य सभी खण्डों पर है। अनेक स्थलों पर वह सायण की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। भाष्यारम्भ में की गई उनकी प्रतिज्ञा[3] अन्वितार्थ प्रतीत होती है। भाष्यान्त में उपलब्ध उक्ति से ज्ञात होता है कि संहितोपनिषद् ब्रा० की गम्भीर ग्रन्थवत्ता के प्रति भाष्य-प्रणयन की दृष्टि से वे निरन्तर सतर्क रहे हैं।[4]

डा० बे० रा० शर्मा ने सायण-भाष्यगत अनेक त्रुटियों का उल्लेख करते हुए अभिमत व्यक्त किया है कि संहितोपनिषद् ब्रा० पर प्राप्त सायण-भाष्य वस्तुतः सायण-प्रणीत नहीं हैं।[5]

---

1. प्रौढादिब्राह्मणान्यादौ सप्तव्याख्याय चान्तिमम्।
   वंशाख्यं ब्राह्मणं विद्वान् सायणो व्याचिकीर्षति ॥—वंश ब्रा०-भाष्य
2. संहितो० ब्रा०-भाष्य में द्विजराज भट्ट के द्वारा प्रदत्त विवरण से ज्ञात होता है कि उनके पिता विष्णु भट्ट महान वैदिक विद्वान् थे। उनके लिए त्र्यर्थदीपक, सामब्रह्मविज्ञानभास्कर, सर्वज्ञ प्रभृति विशेषणों का प्रयोग कर द्विजराज ने उन्हें भगवान् विष्णु के समकक्ष स्थान दिया है। पिता से द्विजराज ने साङ्ग और सब्राह्मण सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया और उन्हीं की प्रेरणा से प्रकृत भाष्य का प्रणयन किया। द्विजराज भट्ट का जन्म श्रीबंश में हुआ था। बर्नेल का मत है कि वे दक्षिण भारतीय थे। इसके समर्थन में तर्क यह दिया जाता है कि द्विजराज ने पूर्वाचार्यों के मध्य दत्तात्रेय को विशेष महत्त्व दिया है:—
   'पूर्वैः आचार्यैः पुराणैः सकलकल्पसाधारणैः आद्यैः
   व्यासनारदकपिलमनुकश्यपदत्तात्रेयादिभिः··· ।'
3. सामब्रह्मरसज्ञानां विशुद्धज्ञानहेतवे।
   संहितोपषिद्भाष्यं करिष्ये गुरुवाक्यतः ॥
4. संहितोपनिषच्छास्त्रं सुज्ञातं च तथा भवेत्।
   गर्भितार्थमिदं शास्त्रं संकेतपदविस्तृतम् ॥
5. ऐसा एक स्थल है—अथैतास्तिस्रः संहिताः भवन्ति। देवहूरेका वाक्शवहूरेका-मित्रहूरेका'—सायण ने यहाँ 'अमित्रहू' के स्थान पर 'मित्रहू' पाठ माना है—सन्धि पर बिना ध्यान दिये हुए। उसका अर्थ 'मित्राणामाह्वानशीला' है, जो अनुपयुक्त है।

दत्तात्रेय की उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में विशेष पूजा प्रचलित रही है, इसी कारण वैदिक ऋषियों में अनुक्त होने पर भी द्विजराजने उनका पूर्वाचार्यों के मध्य उल्लेख किया। प्रो० बे० रा० शर्मा ने द्विजराज भट्ट का समय 15 वीं शती माना है, जो उपयुक्त प्रतीत होता है।

वंशब्राह्मण

सामवेद के इस अष्टम ब्राह्मण में साम-सम्प्रदाय प्रवर्तक ऋषियों और आचार्यों की वंश-परम्परा दी गई है, जिनसे सामवेद का अध्ययन-क्रम अग्रसर हुआ।

इसमें तीन खण्ड हैं। ग्रन्थारम्भ में ब्रह्मा, ब्राह्मणों, ऋषियों और देवों-वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रवण को नमस्कार किया गया है। सायण के अनुसार ये सभी परापर गुरु हैं। तदनन्तर प्रथम दो खण्डों में शर्वदत्त गार्ग्य, जो परम्परा की अन्तिम कड़ी है, से प्रारम्भ करके कश्यपान्त ऋषि-परम्परा है। कश्यप ने अग्नि से, अग्नि ने इन्द्र से, इन्द्र ने वायु से, वायु ने मृत्यु से, मत्यु ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से सामवेद को उपलब्ध किया। इस प्रकार सामवेद की परम्परा वस्तुतः स्वयम्भू ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई, जो विभिन्न देवों के माध्यम से कश्यप ऋषि तक पहुँची तथा कश्यप ऋषि से प्रारम्भ परम्परा शर्वदत्त गार्ग्य तक गई। ऋषि-आचार्यों की इस परम्परा में गौतम राध से एक द्वितीय धारा निस्सृत हुई है, जो नयन तक जाती है। इसका विस्तृत विवरण गान-प्रक्रिया वाले परिच्छेद में प्रस्तुत्य है। साम-विधान ब्राह्मण में आचार्यों की एक अन्य परम्परा भी प्रदत्त है। दोनों की तुलनात्मक समीक्षा भी आगे की जायेगी।

जैमिनिशाखीय साम ब्राह्मण

जैमिनी शाखा के अद्यावत् तीन ही ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त और प्रकाशित हुए हैं— जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण। विद्वानों की सामान्य अवधारणा है कि देवताध्याय, वंश और सामविधान ब्राह्मणों का सम्बन्ध कौथुमराणायनीय के साथ ही जैमिनीय शाखा से भी रहा है। सामवि० ब्रा० में अनेक ऐसे सामों का विधान है, जो सम्प्रति मात्र जैमिनिशाखीय संहिता में ही उपलब्ध हैं।[1] ऋषिनामों में, जिन्हें साम-विधियाँ सुलभ हुईं, सामविधान ब्रा० तण्डि के साथ ही जैमिनि का नाम भी प्राप्त होता है। सामविधान के साथ ही हमारे विचार से संहितोपनिषद् ब्रा० का भी जैमिनिसहित सभी शाखाओं में समान रूप से प्रचलन रहा है। भाषा में प्राचीन रूपों की अवस्थिति, वर्णन-शैली तथा

1. अयमग्निः श्रेष्ठतमः 'यदिदस्तन्वो मम'—
सामवि० ब्रा० 3.4.4 तथा 1.7.11

आख्यानों की पुरातन रूपवत्ता से जैमिनिशाखीय ब्राह्मणों की प्राचीनता सिद्ध है। जैमिनीय ब्राह्मण ऋगादि से सम्बद्ध अन्य ब्राह्मणों के समान ब्राह्मण-सदृश शैली में रचित है, जबकि कौथुमशाखीय ब्राह्मणों में सूत्र-शैली भी परिलक्षित होती है। इनकी भाषा में एक विशिष्टता यह कि इसमें ऋग्वेद के समान 'ळ' व्यंजन सुरक्षित है

उपलब्ध जैमिनीय ब्राह्मणों का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है--

जैमिनीय ब्राह्मण

यह मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम भाग में 360, द्वितीय में 437 और तीसरे भाग में 385 खण्ड हैं। कुल खण्डों की संख्या है 1182. बड़ौदा के सूची-ग्रन्थ[1] में इसका एक अन्य परिमाण भी उल्लिखित है जिसके अनुसार उपनिषद् ब्राह्मण को मिलाकर इसमें 1427 खण्ड हैं। प्रपञ्चहृदय के अनुसार इसमें 1348 खण्ड होने चाहिए।

जैमिनीय ब्राह्मण के प्रारम्भ और अन्त में प्राप्य श्लोकों में जैमिनि की स्तुति की गई है।[2]

जैमिनीय ब्राह्मण और ताण्ड्य ब्राह्मण की अधिकांश सामग्री समान है अर्थात् दोनों में ही सोमयागगत औद्गात्रतन्त्र का निरूपण है। दोनों में ही प्रकृतियाग, गवामयन (सत्र), एकाह, दशाह अन्य विभिन्न एकाहों और अहीन यागों का प्रतिपादन हुआ है। किन्तु वर्ण्य विषयों की समानता होने पर भी दोनों के विवरण में विपुल अन्तर है। जैमि॰ ब्राह्मण में विषय-निरूपण अधिक विस्तर से है, जबकि ताण्ड्य में केवल आवश्यक विवरण ही दिया गया है। अनेक स्थलों पर मात्र रूप-रेखा देकर ही विषय का प्रतिपादन कर दिया गया है। आख्यानों की दृष्टि से भी जैमिनीय ब्राह्मण विस्तृत है और कौथुमशाखीय ब्राह्मणों में संक्षेप प्रतीत होता है। संभवतः ताण्ड्यकार का अनुमान था कि उसके पाठक इन आख्यानों से पूर्व परिचित हैं।

---

1. हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, प्रथम भाग, पृष्ठ 105
2. उज्जहारागमाम्भोधेर्यो धर्मामृतमञ्जसा।
   न्यायैर्निर्मथ्य भगवान् स प्रसीदतु जैमिनिः॥
   सामाखिलं सकलवेदगुरोर्मुनीन्द्राद्
   व्यासादवाप्य भुवि येन सहस्रशाखम्।
   व्यक्तं समस्तमपि सुन्दरगीतरागं
   तं जैमिनिं तलवकारगुरुं नमामि॥

जैमिनीय ब्राह्मण में ही वह सुप्रसिद्ध सूक्ति प्राप्त होती है, जिसका तात्पर्य है—ऊँचे मत बोलो, भूमि अथवा दीवार के भी कान होते हैं—

'मोच्चैरिति होवाच कर्णिनी वै भूमिरिति।'

जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण

कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण के सदृश इसके आरम्भ में भी, प्रथम दो वाक्य छोड़कर स्वाध्याय तथा यज्ञ की दृष्टि से ऋषि, छन्द और देवता के ज्ञान पर बल दिया गया है। कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण के आरम्भ में 'अथ खल्वयमार्षप्रदेशः भवति' मिलता है, जो इसमें अनुल्लिखित है। वर्ण्य-विषय दोनों का समान है। ग्रामगेयगानों के ऋषिनिरूपण में अध्यायों और खण्डों की व्यवस्था और विन्यास भी प्रायः समान है। कहीं-कहीं दोनों शाखाओं की संहिताओं में उपलब्ध अन्तर के कारण गानों के क्रम में भिन्नता है। कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण में वैकल्पिक नाम भी दिये गये हैं जबकि इसमें वे अनुपलब्ध हैं। इस प्रकार कौथुम की अपेक्षा यह कुछ संक्षिप्त-सा है।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

सम्पूर्ण जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण चार अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों और खण्डों में है।

इसका विशेष महत्त्व पुरातन भाषा, शब्दावली, वैयाकरणिक रूपों और ऐसे ऐतिहासिक तथा देवशास्त्रीय आख्यानों के कारण है, जिनमें बहुविध प्राचीन विश्वास और रीतियाँ सुरक्षित हैं। यह कौथुम शाखा के सभी ब्राह्मणों से अधिक प्राचीन है और इसे सरलता से प्राचीन ब्राह्मणों के मध्य रखा जा सकता है। इसमें कतिपय ऐसी प्राचीन धार्मिक मान्यताएँ निहित है, जिनका अन्य ब्राह्मणों में उल्लेख नहीं मिलता। उदाहरणार्थ मृत, व्यक्तियों का पुनः प्राकट्य तथा प्रेतात्मा के द्वारा उन व्यक्तियों का मार्ग निर्देशन, जो रहस्यात्मक शक्तियों की उपलब्धि के लिए पुरोहितों—साधकों की खोज में निरत थे। निशीथ वेला में श्मशान-साधना से सम्बद्ध उन कृत्यों का भी उल्लेख है जो अतिमानवीय शक्ति पाने के लिए चिता-भस्म के समीप किये जाते हैं।

आरम्भ में ओङ्कार और हिङ्कार की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है। सृष्टि-प्रक्रिया का सम्बन्ध तीनों वेदों से प्रदर्शित हैं। ब्राह्मणकार पौनः पुन्येन ओङ्कार का महत्त्व निरूपित करता है कि यही वह अक्षर है, जिसके ऊपर कोई भी नहीं उठ सका। यही ओम् परम ज्ञान और बुद्धि का आदि कारण है। ओम् से ही अष्टाक्षरा गायत्री की रचना हुई है। गायत्री से ही प्रजापति को भी अमरता

प्राप्त हुई, इसी से अन्य देवों और ऋषियों ने अमरता प्राप्त की—'तदेतदमृतं गायत्रम् । एतेन वै प्रजापतिरमृतत्वमगच्छत् । एतेन देवाः । एतेनर्षयः ।'[1]

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार गायत्री रूप में यह पवित्र ज्ञान ब्रह्म से प्रजापति को सीधे प्राप्त हुआ और तत्पश्चात् परमेष्ठी, सवितृ, अग्नि और इन्द्र के माध्यम से कश्यप को प्राप्त हुआ। कश्यप से गुप्त लौहित्य तक ऋषियों की सुदीर्घ नामावली दी गई है। वंश ब्राह्मण के अनुसार भी सर्वप्रथम कश्यप को ही पवित्र ज्ञान प्राप्त हुआ।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का समापन इस कथन से हुआ है—
'सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या ।'[2]

इसके अनन्तर केनोपनिषद् प्रारम्भ हो जाती है।

अन्य ब्राह्मण ग्रंथों के समान जैमि० उपनिषद् ब्राह्मण में यागविधियों का विशेष उल्लेख नहीं है। इसमें वर्णित विषय-वस्तु किसी ब्राह्मणग्रंथ की अपेक्षा आरण्यक अथवा उपनिषद् के अधिक निकट है। तुलनात्मक दृष्टि से ओङ्कार, हिङ्कार और गायत्रसामादि की उपासना पर अधिक बल देने और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टियों से साम-गान गत तत्त्वों की व्याख्या करने के कारण इसका छान्दोग्य उपनिषद् से घनिष्ठ सादृश्य प्रतीत होता है। दोनों के मध्य विद्यमान गम्भीर सादृश्य को देखकर कभी-कभी तो प्रतीत होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् की रचना मूलतः जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणगत आधार-सामग्री से हुई, अथवा छा० उप०, जैमि० उप० ब्रा० का ही परिष्कृत रूप है। दोनों के मध्य कतिपय समान-स्थल यहाँ प्रस्तुत हैं—

जैमि० उप० ब्रा०	छा० उप०
1. स इमाँल्लोकानभ्यपीळत् । तेषामभिपीळितानां रसः प्राणेदत् । ता एव वैतां देवता अभवन् । अग्निर्वायुरसावादित्य इति । स एता देवता अभ्यपीळयत् तासामभिपीळितानां रसः प्राणेदत् । सा त्रयी विद्याभवत् । स त्रयीं विद्यामभ्यपीळयत् । तस्या अभिपीळितायै रसः प्राणेदत् । ता एता व्याहृतयो भवन् । भूर्भुवः सुवरिति । (1. 7. 1.) ।	1. प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः । स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत् तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् । स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत् । तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्रावृहद् भूरिति ऋग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः —4. 17. 1. 3

1. जैमि० उप० ब्रा० 3. 7. 3. 1,
2. वही 4. 9. 2. 9,

2. स यथाश्मानमाखणमृत्वा लोष्टो एवमेव स विध्वंसेत। य एवं विद्वांसमुपवदेत्। स एषो ऽश्माखणोयत् प्राणः लोष्टो विध्वंसते एवमेव स विध्वंसते।
—1. 1. 7. 5-6

3. यद्वेवैषामङ्गानां रसः तस्माद्वेवाङ्गिरसः। —2. 4. 2,

4. पुरुषो वै यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातः सवनम्। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। गायत्रं प्रातः सवनम्। तद् वसूनाम्। प्राणा वै वसवः प्राणा हीदं सर्वं वस्वाददते—4. 2. 1

5. तद्ध शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं ब्राह्मणः परिवेविष्यमाणौ उपावब्राज। तौ ह बिभिक्षे। तं ह नाददाते को वा को वा इति।[2]
—3. 1. 1

6. तौ होपजगौ—महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जागार भुवनस्य गोपाः।

2. एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसत एवम् हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासते स एषोऽश्माषणः —1. 2. 8

3. एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद्रसः।
—1. 2. 10

4. पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य चतुर्विंशतिवर्षाणि तत् प्रातः सवनम्। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। गायत्रं प्रातः सवनम्। तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः। प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति[1]—3. 16. 1

5. अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः। —4. 3. 5

6. स हो वाच—महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जागार भुवनस्य गोपाः।

---

1. यह सम्पूर्ण अनुवाक छा० उप० में जैमि० उप० ब्रा० के समान ही पूर्णतया प्राप्य है। महिदास ऐतरेय का भी उल्लेख है। छा० उप० में अजीवत् क्रिया का उल्लेख है, जबकि जैमि० उप० ब्रा० में 'जिजीव' का उल्लेख है।

2. जैमि० उप० ब्रा० (3. 1. 1. 2) में वायु-विद्या का उपदेश अधिक विस्तार से, किन्तु बिखरे-बिखरे रूप में प्राप्त होता है, जबकि छा० उप० (4 3) में यह संक्षिप्त किन्तु अधिक व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित है। 'संवर्ग' शब्द का जैमि० उप० ब्रा० में प्रयोग नहीं है। अन्य देवों–आदित्यादि–की अपूर्णता का प्रतिपादन कर वायु की कृत्स्नता उपपादित है—जब कि छा० उप० में अन्य देवों की वायु में विलीनता प्रदर्शित है। इस प्रसंग में दोनों में आख्यायिका एक ही है जो ऊपर दे दी गई है।

तं कापेय न विजानन्त्येकेऽभिप्रतारिन् बहुधा निविष्टम्—3. 1. 2. 2

तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्याभिप्रतारिन् बहुधा वसन्तम्[1]— 4.3.6

7. आत्मा देवानामुत मर्त्यानां हिरण्यदन्तो रपसो न सूनुः। महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यददन्तमत्ति 3. 1. 2. 3

7. आत्मा देवानां जनिता प्रजानां हिरण्यदंष्ट्रो बभसो नसूरिः। महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्ति[2]— 4.3.7

8. तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् सुवर्णेन रजतं, रजतेन त्रपु, त्रपुणा लोहायसं, लोहायसेन कार्ष्णायसं, कार्ष्णायसेन दारु, दारु च चर्म च। श्लेष्मणा एवमेवैवं विद्वांस्तत्सर्वं भिषज्यति—3.4.3.3

8. तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु च चर्मणा। ...भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवं विद् ब्रह्मा भवति— 4.17.7.8

9. तस्मादु हैवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत। स ह वाव ब्रह्मा य एवं वेद। —3.4.3.8

9. तस्मादेवविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवं विदम्— 4.17.10

---

1. जैमि० उप० ब्रा० तथा छा० उप० के इन उद्धृत अंशों में समानता तथा विभिन्नता दोनों ही स्पष्ट हैं। 'तं ह नाददाते को वा को वा इति मन्यमानौ' के स्थल पर छा० उप० का पाठ 'तस्या उ ह न ददतुः' संक्षिप्त होते हुए भी अधिक स्पष्ट और व्यवस्थित है। 'विजानन्ति' के स्थान पर 'अभिपश्यन्ति' तथा 'निविष्टम्' के स्थान पर 'वसन्तम्' पाठ भी अवधेय हैं।

2. इन अंशों में भी साम्य और अन्तर स्पष्ट है। श्लोक में 'मर्त्यानाम्' के स्थान पर 'प्रजानाम्', 'हिरण्यदन्तः' के स्थान पर 'हिरण्यदंष्ट्रः,' 'रपसो' के स्थान पर 'बभसो' तथा 'सूनुः' के स्थान पर 'सूरिः' पाठ है। जैमि० उप० ब्रा० ने श्लोक के अंशों के उद्धरणपूर्वक आगे व्याख्या सी की है, जबकि छा० उप० में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं दिखता।

डॉ० बे० रा० शर्मा ने इसकी समानता 'संहितोपनिषद्' ब्राह्मण से करने की चेष्टा की है[1] जो उचित नहीं प्रतीत होती। ऊपर उद्धृत अंशों से यह स्पष्ट है कि इसकी समानता यदि किसी से है तो वह छान्दोग्योपनिषद् है। इस कारण धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है।

आख्यान और आख्यायिकाओं की दृष्टि से तो यह आकर ग्रन्थ है।

गंगा और यमुना नदियों की अन्तर्वेदि में स्थित कुरु-पाञ्चाल जनपदों के विद्वान् ब्राह्मणों को ब्राह्मणकार ने विशेष महत्त्व दिया है। जैमि० उप० ब्रा० ने उन राजाओं का उल्लेख किया है जो कुरु-पाञ्चाल जनपदों के इन विद्वान् ब्राह्मणों के समीप जाकर अपनी शंकाओं का निवारण किया करते थे।

शतपथादि अन्य ब्राह्मणों में जहाँ यागीय विधियों और वस्तुओं की विस्तार से मीमांसा की गई है, वहीं इस ब्राह्मण में साम और उसकी पाँच भक्तियों की ही विस्तृत व्याख्या की गई है। प्रतीत होता है कि प्रकृत ब्राह्मणकार की दृष्टि में यागीय विधियों का इतना महत्त्व नहीं है, जितना यज्ञ में सामों के समुचित गान का, जो सामवेदीय ब्राह्मण के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। सामों की रहस्यात्मक और निगूढ़ शक्तियों को महत्त्व देने के लिए उनका गुप्तसाम, अशरीरसाम आदि के रूप में उल्लेख किया गया है। स्तोभों में अतिदैवीय शक्ति की परिकल्पना की गई है। 'अशरीर साम' से तात्पर्य यहाँ लुप्तर्च साम से है, जिसका गान मात्र स्तोभात्मक स्वरूप में ही किया जाता है।

जैमि० ब्रा० और तां० ब्रा० के मध्य पौर्वापर्यभाव :

प्राय: सभी विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि जैमिनिशाखीय ब्राह्मण ग्रन्थ कौथुमशाखीय ताण्ड्यादि ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। कालन्द,[2] बे०

1. ...the Upanisad Brahmanas of Kauthum and Jaiminiya, greatly differ in respect of their contents and their treatment. While the संहितोपनिषद् mainly deals with संहिता, the way of recitation of Samans, the JUB is more concerned with metaphysics.—जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, Introduction, page 10.

   वस्तुत: कौथुमशाखीय उपनिषद् ब्राह्मण छान्दोग्य ब्राह्मण है, न कि संहितोपनिषद्।

2. The conclusion at which I arrive, not, however, without some hesitation, is that the Jaiminiya Brahmana (or the Satyayani

रा० शर्मा आदि ने भाषागत एवं यागात्मक साक्ष्यों के आधार पर इसका विस्तार से उपपादन किया है।

इस सन्दर्भ में प्रमुख युक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

(1) जैमि० ब्रा० की भाषा में पञ्चविंश ब्रा० की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूपों की अवस्थिति है—इसकी समीक्षा भाषा वाले परिच्छेद में विस्तार से की जायेगी।

(2) जैमि० ब्रा० में महाव्रत एवं गोसव यागों में मागध-पुंश्चली के मध्य मैथुनादि उन कृत्यों का भी विधान किया गया है जो आज अश्लील प्रतीत होते हैं। तां० ब्रा० में इन कृत्यों का उल्लेख नहीं है।

(3) आख्यायिकाओं का विस्तृत रूप जैमि० ब्रा० में प्राप्य है, तां ब्रा० केवल संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत करता हैं। इससे इस अनुमान को बल प्राप्त होता है कि तां० ब्रा० के रचयिता के सम्मुख जैमि० ब्रा० था और उन्होंने अपने पाठकों को तद्गत विवरण से अवगत समझकर ही संक्षिप्त विवेचन किया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में सोमयागों, अभिचार यागों, अन्य अनुष्ठानों और उनके विधि-विधानों के साथ ही विभिन्न उपासनापद्धतियों की भी विस्तार से मीमांसा की गई है। साथ ही सामवेद और उसकी गानप्रक्रिया से सम्बद्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी विवरण प्रस्तुत करते हुए महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और दार्शनिक सामग्री भी संजोई गई है। जहाँ तक इनके विशिष्ट प्रतिपाद्य की बात है, वह सोमयाग और साम गान के चतुर्दिक ही विशेष सीमित हैं।

Brahmana, which must have been so closely related to it) must be older than the Pancavimsa Brahmana and that the author of the last mentioned work must have been acquainted with the Brahmana of the Jaiminiyas.

—Pancavimsa Brahmana, Introduction, Page XXI.

तृतीय परिच्छेद

सामगान की प्रक्रिया, ऋषि, देवता एवं छन्द

जैसा कि प्रथम परिच्छेद में कहा गया है, 'साम' का अभिप्राय है गान। गानों के त्रैविध्य—ऋगाश्रित, मात्र स्तोभाश्रित और ऋक् तथा स्तोभ-उभयाश्रित—का भी उल्लेख किया जा चुका है।

साम गान की प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह है, उसके सभी पक्षों का ज्ञान, जो छन्दोग के लिए आवश्यक है, समर्थ गुरु के सान्निध्य में सुदीर्घकालिक साधना और अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ केवल दिग्दर्शनस्वरूप उन पक्षों का परिचयात्मक विवरण ही प्रदेय है, जो ताण्डयादि सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित-विहित तथा अनुशीलन की दृष्टि से आवश्यक हैं।

सामान्यतः समग्र साम-गान दो भागों में विभक्त हैं—पूर्वगान और उत्तरगान।

पूर्वगान अथवा प्रकृतिगान

इसके गानग्रन्थ का परिचय पहले दिया जा चुका है जिसमें ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान नाम से दो भाग हैं। पूर्वगान की आधार-सामग्री सामवेद संहितागत पूर्वार्चिक के चार काण्ड हैं। इनमें से आग्नेय, ऐन्द्र और पवमान काण्ड तक ग्रामेगेय गान हैं तथा आरण्य काण्ड से अरण्येगेयगान प्रारम्भ होते हैं। महानाम्न्यार्चिक परिशिष्ट है। प्रकृतिगान तीन काण्डों तक संहिता-क्रम का पूर्णतया अनुगामी है। ग्रामेगेय और अरण्येगेय—दोनों ही प्रकार में गान (अरण्येगेयगान के कतिपय अपवादों को छोड़कर) प्रायः एक-एक ऋचा पर आधृत हैं। ग्रामेगेयगान में एक ऋचा पर प्राय एकाधिक गान हैं—किन्तु उसी नैरन्तर्य और क्रम के अनुसार। इस प्रकार ग्रामेगेयगान में 583 ऋचाओं पर आधृत प्रायः 1200 गान हैं।[1]

1. डॉ० बे० रा० शर्मा का कथन है कि ग्रामेगेयगान में पवमानकाण्ड की दो ऋचाओं 'एष स्य धारया' (584) तथा 'य उस्रिया' (585) पर कोई गान नहीं प्राप्त होते। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। 'एष स्य धारया' पर प्रकृतिगान 5 गान प्राप्त होते हैं और 'य उस्रिया' पर केवल एक गान प्राप्त होता है (द्रष्टव्यः काञ्ची कामकोटिपीठाधिपति के द्वारा प्रकाशित प्रकृतिगान ग्रन्थ, द्वितीय भाग, पवमानकाण्ड, पृ० 122, 1976 तथा पुष्पसूत्रम्, ed. by B R. Sharmā, Introduction, Page 14).

अरण्येगेयगान :

इसमें संहिता-क्रम का दृढ़ता से अनुगमन नहीं हुआ है। अरण्यकाण्ड से ली गई आधारभूत ऋचाओं में तो क्रम बना रहता है, किन्तु अरण्येगेयगान के बीच-बीच में प्रथम तीन काण्डों से यदृच्छया गृहीत ऋचाएँ भी आ जाती हैं, जो सातत्य को व्यवहित करती हैं। ऐसा एक स्थल 'आयं गौः' (सा० सं० 630) ऋचा है, जिस पर आनन्द और प्रत्यानन्द साम आश्रित हैं, यह ऋचा 'अन्तश्चरति' (सा० सं० 631), जो 'चित्रं देवनाम्०' (सा० सं० 629) के साथ सम्बद्ध होकर आदित्यव्रत साम की योनि बन जाती है, के पश्चात् ली गई है। इससे मन्त्रानुक्रम विच्छिन्न हो जाता है।

अरण्येगेयगान के शुक्रिय पर्वगत कतिपय सामों का स्वरूप उत्तरगानसदृश है क्योंकि उनमें तीन-तीन स्तोत्रीय ऋचाएँ हैं। अरण्येगेयगान के ये स्तोत्ररूप गान उत्तर गानों की भूमिका के निर्माता हैं जो नियमतः दो या तीन स्तोत्रीय ऋचाओं पर आधृत हैं। अरण्येगेयगान की एक अन्य विशेषता भी ग्रामेगेयगान से उसकी भिन्नता प्रकट करती है और ऊह तथा ऊह्य गान से सादृश्य स्थापित करती है। वह यह कि इसमें भिन्न क्रम और नाम से गान प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत ग्रामेगेयगान में एक ही ऋचा पर अनेक गान प्राप्त होने की स्थिति में भी क्रम अविच्छिन्न रहता है—एक ऋचा पर विद्यमान सभी गान उसी अनुक्रम से प्राप्त हो जाते हैं।

आरण्यकाण्ड में सामयोनिमन्त्र को 'छन्दसी' और उसके गान को सामान्यतः 'छान्दस' और विशेषरूप से 'आरण्यक' या 'रहस्य' कहा जाता है।

ये गान नगर तथा ग्राम से दूर विजन स्थान पर—अरण्य या उसके समीप—गाये जाते थे। इसी कारण ये 'रहस्य' गान कहलाते हैं। इनमें उच्च आधिदैविक सामर्थ्य भी निहित मानी जाती थी—इसी कारण ये सुपात्र को ही प्रदेय थे।

'रहस्या' शब्द उन ऋचाओं का भी वाचक है जो यद्यपि सम्प्रति साम-संहिता में प्राप्त नहीं होतीं, किन्तु 'सामयोनि' समझी जाती है, यथा—'आक्रान्दय' (अरण्येगेयगान, अर्कपर्व 51-1) जिस पर दो महासाम आधृत हैं (वही 51.2-3); 'रहस्या ऋक्' कहलाती है। यह रहस्या ऋक् अपने पदपाठसहित सामवेद संहिता में नहीं हैं, किन्तु गान ग्रन्थ में है। सामविधान ब्राह्मण और सामतन्त्रम् में सामान्यतः 'रहस्य' शब्द अरण्येगेयगानों का वाचक है।

महानाम्नी पर्व :

महानाम्न्यार्चिक में पुरीष पदों को सम्मिलित करने पर 10 ऋचाएँ हैं। इन पर स्तोत्र प्रकार के गान उपलब्ध हैं, जो तृच पर गेय होते हैं। उदाहरणार्थ, महा-

नाम्नीपर्व के प्रथम गान को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें 'विदा मघवन्', 'आभिष्टवभिष्टिभिः' तथा 'एवाहि शक्रो' (सामसंहिता 641-643)—ये तीन ऋचाएँ हैं। इस प्रकार पुरीषपदों को छोड़कर तीन गान हैं, जिनमें से प्रत्येक एक तृच पर आधृत है। पुरीषपाद में पाँच पद हैं, जिन पर एक गान है। महानाम्नी-गान अपने तृचात्मक रूप से पूर्व और उत्तरगानों के मध्य सेतु-रचना-सी करते हैं। इनके अनन्तर 'उद्वयं तमसस्परि' तथा 'भारुण्डसाम' संज्ञक दो गान और हैं। इनमें से प्रथम गान की आधारभूत ऋचा 'उद्वयं तमसस्परि' सामवेद में न प्राप्त होने के कारण 'रहस्या' पद-वाच्य है द्वितीय स्तोभगान है, जो केवल स्तोभों पर आश्रित हैं।

विभिन्न सोमयागों में महानाम्नी संज्ञक गान उत्तरगान के समान ही विहित हैं, जो इनकी याज्ञिक दृष्टि से महत्ता का प्रतीक है। तात्पर्य यह कि ये भी उत्तर-गान के सदृश पाञ्चभक्तिक रूप में गेय हैं।

इन्हें आरण्यक गानों का परिशिष्ट माना जाता है। सामवेद संहिता में भी महानाम्न्यार्चिक का समावेश परिशिष्ट रूप में ही है।

अरण्यकाण्डगत दो ऋचाओं 'इन्द्र इद्धर्यो॰' तथा 'इन्द्र वाजेषु' (सामवेद 597-598) पर अरण्येगेयगान में कोई गान नहीं है। उत्तरार्चिकगत 'इन्द्रभिद्-गाथिनः' (सामवेद 796-8) के साथ ये दोनों ऋचाएँ हैं, किन्तु इस दृष्टि से ऊह और ऊह्यगानों में इन पर कोई गान नहीं पाया जाता।

उत्तरार्चिक में गायत्रीछन्दस्क ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिन पर कोई साम नहीं है। इनमें से प्रायः सभी सोमयागों के प्रातः सवनों में विनियुक्त हैं और गायत्र-गान की पद्धति से गेय हैं। यह गायत्र-गान ग्रामेगेय गान के आरम्भ में है, किन्तु गानों के अनुक्रम में इसकी गणना नहीं होती।

इस प्रकार महानाम्नीपर्व को मिलाकर ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान—जिसका सम्मिलित नाम प्रकृतिगान है—पूर्वार्चिक (नामान्तर—छन्द आर्चिक पर आधृत है।

अरण्येगेयगान के 290 गानों में से 255 गान पूर्वार्चिक की 178 ऋचाओं पर आश्रित हैं, जिसमें 53 आरण्यकाण्ड से गृहीत हैं, 29 मात्र स्तोभों पर आधृत हैं और छह 'रहस्या' ऋचाओं पर।

उत्तरगान

सम्पूर्ण उत्तरार्चिक 21 अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्याय कुछ खण्डों में विभक्त है। अन्तिम अध्यायगत नौ अप्रतिरथ सूक्तों पर गान नहीं प्राप्त होते। इस

प्रकार उत्तरार्चिक के केवल 20 अध्यायों पर ऊह और ऊह्यगान प्राप्त हैं। इनमें भी प्रथम अध्याय गायत्री छन्दस्क आरम्भिक सात सूक्तों तथा अन्य अध्यायों के कतिपय सूक्तों पर विशेष साम अप्राप्य हैं। देवताध्याय ब्राह्मण (3 2-3) के अनुसार आवश्यकतानुसार वे सावित्रीगान के रूप में गाये जा सकते हैं—'सावित्रीगेयं यत्रागीतम्।'

ऊह और ऊह्यगानों की व्यवस्था वस्तुतः सोमयागों के अनुरूप है। इस क्रम से यज्ञों में उद्गातृ-मण्डल इनका आगान करता है। 'ऊह' का अर्थ है विचारपूर्वक विन्यास। याग में ऊद्गातृ-मण्डल के विभिन्न सदस्यों के द्वारा अपनी अपनी भक्ति का विचारपूर्वक गान ऊहन का एक प्रकार है। इसी प्रकार निधन भाग के सम्बन्ध में भी यथास्थान विचार-विन्यास ऊहन-प्रक्रिया के अन्तर्गत है। यहाँ पं० श्री रामनाथ दीक्षित का तद्विषयक कथन उल्लेख्य है—'इमानि सामानि नैकेनर्त्विजा प्रयुज्यन्ते परन्तु त्रिभिरुद्गातृपुरुषैः। तेऽपि न समं गायन्ति किन्तु स्वकीयं स्वकीयं भागमेव। तत्र कियानात्मीयो भाग इति विचार्य प्रयोक्तव्यः। ततश्चोहत्वं सम्पद्यते यद्वा बहिर्निधनसामस्वध्ययनकाले सामन्तेऽधीतं निधनभागं प्रयोगकाले प्रथमसाम्नि द्वितीयसाम्नि च प्रयुञ्जीरन् इत्यप्यूहः। आहोस्वित् रथन्तरसाम यथाधीतं न तथा प्रयोगकाले प्रयुज्यते। उद्गीथभक्त्युच्चारणकाले भकारैर्गेयम्। सोऽयमूहः। अथवा "परिस्वानोगिरिष्ठाः" इति तृचे "मदेषु सर्वधा असि" इति वारत्रयमागतम्। गाने तु तृतीये साम्नि। प्रयोगकाले सर्वेषु सामसु योज्यम्।'[1]

ऊह और उह्यगानों के मूलाधार प्रकृतिगानगत ग्रामेगेय गान और अरण्येगेय-गान हैं। प्रकृतिगान के विपरीत उत्तरगान प्रायः दो या तीन स्तोत्रीय ऋचाओं पर आधृत हैं—यद्यपि ऐसे गानों की भी कम संख्या नहीं है, जो केवल एक ऋचा पर और यहाँ तक कि पाँच, तीन या दो पादों पर स्तोत्ररूप में गाये जाते हैं। यदि किसी सूक्त में तीन से अधिक मन्त्र हैं तो प्रथम दो और अन्तिम मन्त्र मिलकर गान-योनि सिद्ध होते हैं।

योनि :

सामवेद की पारिभाषिक शब्दावली में वह आधारभूत ऋचा, जिस पर साम आधृत होता है, 'योनि' या 'सामयोनि' कहलाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण पूर्वार्चिक ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान की योनि का सम्पादन करता है। ऊह और ऊह्यगान-गत तृच की प्रथम स्तोत्रीय ऋचा ग्रामेगेयगान या अरण्येगेयगान के एकर्च गान के

---

1. दीक्षित, पं० रामनाथ : ऊहगानम्, ऊह्यगानम्, प्राक्कथनम्. पृ० 26, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, 1967

सदृश होती है और अन्य दो स्तोत्रीय ऋचाओं में वही गान अपनाया जाता है जो प्रथम स्तोत्रीय ऋचा में होता है। इस प्रकार तीन स्तोत्रीय मन्त्रों वाले गान में प्रथम स्तोत्रिया ग्रामेगेय या अरण्येगेयगत होती है और अन्य दो स्तोत्रियाओं की भी वही योनि सिद्ध होती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि उत्तरार्चिक गत सूक्त की प्रथम ऋचा निरपवादरूप से पूर्वार्चिक में प्राप्त होती है और उस ऋचा पर आधृत गान ग्रामेगेयगान या अरण्येगेयगान में सुलभ है। बहुधा उन दोनों के नामों में भी समानता होती है। सायणाचार्य ने इसे कारिकाबद्ध रूप में यों प्रस्तुत किया है—

> 'ये तु मन्त्राः स्तोत्ररूपा उत्तरासु तृचेषु ते।
> योनिवद्गानमूहित्वा पठ्यन्ते तद्विधेर्वशात् ॥
> यद्योन्यां गानमाम्नातं तदेवोत्तरयोर्ऋचोः।
> गायेदिति स्तोत्रक्लृप्त्यै साम्नामूहो विधीयते ॥'[1]

उन सभी गानों के लिए, ऊहगान में जिनके वही नाम हैं, ग्रामेगेयगत केवल एक प्रकृतिगान योनि-रूप में अनुमन्य है। इसी प्रकार ऊह्यगत गानों के लिए अरण्येगेय का एक गान, संभवतः समान नाम वाला प्रकृतिगान माना जा सकता है।

उदाहरण के लिए, ऊहगान में सात गान 'आमहीयव' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक 'उच्चा तेजा०'— तृच पर आधृत है, तदनन्तर चार गान अन्य तृचों पर, षष्ठ गान केवल एक ऋचा पर तथा सप्तम गान मात्र अर्द्ध ऋचा पर समाश्रित है किन्तु इन सभी गानों के लिए 'उच्चा तेजा०' पर आधृत ग्रामेगेयगत आमहीयव गान ही योनि रूप में स्वीकृत है। सभी गानों के स्वर, पर्व-विभाग और भक्तियाँ आमहीयव के अनुरूप होते हैं। सभी सातों आमहीयवगानों के स्तोभों और निधन (बहिर्निधन) की समानता लक्षित की जा सकती है।

यदि किसी ऐसे गान के तृच की प्रथम ऋचा, जो समान नाम वाले सामों में प्रथम है, उसी नाम वाले प्रकृतिगान से भिन्न है, तो उस गान की ऋचा को योनि माना जाता है जो पूर्वार्चिक में प्राप्त हो। उदाहरण के लिए ऊहगत मार्गीयव साम को लिया जा सकता है। इसमें आठ गान हैं, जिनमें पहले यद्यपि 'अध्वर्यो... (सामवेद संहिता 1225-27)' तृच आता है, किन्तु मार्गीयव साम की योनि 'तद्वोगाय' (सामवेद संहिता 113) ऋचा मानी जाती है।

इस सामान्य नियम का केवल एक ही अपवाद है—ऊहगत आकूपारसाम। प्रकृतिगान में इस नाम से तीन गान हैं—जो क्रमशः 'आ तू न इन्द्र' (सामवेद

1. ताण्ड्य ब्राह्मण–भाष्योपक्रमणिका।

संहिता 167) 'यदिन्द्र चित्र' (सामसंहिता 345) और 'परित्यम्' (सामसंहिता 552) पर आधृत हैं। इन तीनों में से प्रथम दो वैकल्पिक रूप से ऊहगत आकूपार साम की योनि माने जाते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि ऊह और ऊह्यगान सर्वत्र अपने योनिगान के ग्रामेगेय और अरण्येगेयगानगत स्वरों का अनुसरण करें। उदाहरणार्थ ग्रामेगेयगत मार्गीयवसाय प्रस्तुत है जिसकी योनि ('तद्वो गाय'—साम संहिता 115) का स्वरूप यों है—

'त 5 द्वौ हो 4 वा 5'

किन्तु ऊह में इसी ऋचा से प्रारम्भ प्रस्तुतगान के स्वर परिवर्तित हैं—

'त 2 द्वौ हो 1 वा 2'

यह भी सदैव आवश्यक नहीं है कि किसी गान की द्वितीय और तृतीय स्तोत्रीय ऋचा के पर्व प्रथम स्तोत्रिय ऋचा के समान ही हों। उदाहरण के लिए वामदेव्य साम को लिया जा सकता है, जो 'कयानश्चित्र' (सामसंहिता 682-684) पर आधृत है। इसकी तृतीय स्तोत्रीय ऋचा का षष्ठ पर्व स्वर-प्रकार की दृष्टि से प्रथम स्तोत्रीय ऋचा से कुछ भिन्न है। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों प्रस्तुत हैं—

र 2
प्रथम स्तोत्रीय ऋचा का षष्ठ पर्व—औ²ऽ 3 होहाइ'

र 2
तृतीय स्तोत्रीय ऋचा का षष्ठपर्व—औऽ 23 होहाई'

'योनि' पद के उपयुक्त सम्पूर्ण विवेचन को पं० श्री रामनाथ दीक्षित के शब्दों में इस प्रकार संहत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

'योनिपदस्य द्विविधोऽर्थः सम्पादनीयः। एकस्तावत् योन्यां यस्यामृचि सामोत्पन्नम्-यथा वा-रथन्तरं साम बृहत्यामभित्वा शूर इत्यस्यामुत्पन्नमिति सा ऋक् अभित्वा योनिः भवति। तत्र यत्साम रथन्तरं यथागीतं तद्वदेव तत्सूक्तस्थयोरुत्तरयोर्ऋचोर्गेयम् इति। द्वितीयस्तु वृषापवस्वेति तृचेऽप्यामहीयवं गीयते। तत्र पूर्वोक्तोऽर्थोनुपपन्नः। आमहीयवसाम च 'उच्चा तेजातमन्यसः' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं न तु वृषापवायाम्। अतः तृचे या प्रथमा ऋक् साऽपि योनिशब्देन व्यवहर्तव्या। तत्र यत्साम गीतं तदेवोत्तरयोरपि भवेत्।'[1]

गानों का प्रयोजन और प्रक्रिया :

प्रकृति गान मूलतः स्वाध्याय से सम्बद्ध हैं। यज्ञों में ज़हाँ कहीं इनका विनियोग है, इनके एकर्च गान केवल एक सामग के द्वारा ही समग्ररूप से गेय हैं, जबकि

1. ऊहगानम्, भूमिका, पृष्ठ 23,

उत्तरगान को पाँच विभक्तियों में विभक्त कर उद्गातृ-मण्डल के तीन सदस्य पृथक् पृथक् गाते हैं। पाँचवीं भक्ति निधन का गान समवेत रूप में होता है।

साम-गान की पाँच (अथवा सात) भक्तियाँ

साम-गान में सामान्यतः पाँच भक्तियाँ होती हैं, जैसा कि पंचविधसूत्र में कहा गया है—'प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तयः।' हिङ्कार और ओङ्कार को भी सम्मिलित करने पर भक्तियों की संख्या सात हो जाती है। प्रतिहारसूत्र के व्याख्याकार वरदराज का कथन है—:...सप्त वा। हिङ्कारः प्रस्तावात् पूर्वः। उद्गीथावोङ्कार इति।'

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् में अनेक रूपकों के माध्यम से इन सभी विभक्तियों, विशेष रूप से ओङ्कार की बहुविध प्रशंसा प्राप्त होती है।

तां० ब्रा० के अनुसार हिङ्कार सामों का रस है—'एष वै साम्नां रसो यद्धिङ्कारः।'[1] इसी ब्राह्मण में अन्यत्र उसे स्तोम का अनिवार्य अंग बतलाया गया है—'एष वै स्तोमस्य योगो यद्धिंकारो यद्धिंकृत्य प्रस्तौति युक्तेनैव स्तोमेन प्रस्तौति।'[2] इसी प्रकार प्रशंसा जैमिनीय ब्राह्मण में भी की गई है—'तद् आहुः हिंकारेण वै प्रजापतिः अन्नाद्यमसृजत। यन्न हिङ्कुर्याद् अशनायुकाः प्रजास्स्युः'।[3]

प्रस्ताव और प्रतिहार भागों का गान क्रमशः प्रस्तोता और प्रतिहर्ता करते हैं। उदाहरण के लिए सामवेद का प्रथम मन्त्र है—'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।'

इसकी पाँचों विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. प्रस्ताव — हुँ आग्नाइ।
2. उद्गीथ — ओम् आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
3. प्रतिहार — नि होता सत्सि बर्हिष ओम्।
4. उपद्रव — निहोता सत्सि ब
5. निधन — र्हिषि ओम।

सामवेदीय 'पञ्चविधसूत्रम्,' 'प्रस्तावसूत्रम्' और 'प्रतिहारसूत्रम्' संज्ञक लक्षण ग्रन्थों में इनकी विस्तार से व्याख्या की गई है। ताण्ड्य ब्राह्मण में निधनों की विपुल चर्चा है, अतएव उसका विस्तृत विवरण आगे प्रदेय है।

---

1. तां० ब्रा० 6.8.7,
2. वही 6. 8. 6,
3. (क) जैमि० ब्रा० 1. 101,
   (ख) हिंकार 'हिम्मा', 'हुम्मा,' 'हुम्बा' अथवा 'हुम्भ' के रूप में गेय होता है।

पर्व :

प्रत्येक भक्ति कुछ पर्वों में विभक्त होती है। पर्व में कभी ऋचा का एक पूरा पाद है, कभी शब्द और कभी-कभी केवल कुछ अक्षर। पर्व का नामान्तर है गेष्ण्य। सामगाताओं द्वारा भक्ति-उच्चारण के मध्य गृहीत विराम की क्षणावधि से पूर्व तथा पश्चात् साम का लघुतम भाग वस्तुतः पर्व से अभिप्रेत है, जैसा कि पं० रामनाथ दीक्षित का कथन है—

'छन्दोगा यत्र विरम्य-विरम्य पठन्ति तस्य पर्व इति नाम गेष्ण्य इति च। तत्र विरामकाले कश्चित्क्षणो गानहीनो भविष्यति। एवमेकः स्वकीयभक्तिमुच्चारयति। तदनन्तरमन्यो द्वितीयां भक्तिं यदोपक्रमते गातुं तत्रापि कश्चन क्षणगानहीनः।'[1]

इस विराम-क्षण की पूर्ति स्तोताओं के पृष्ठभाग में आसीन उपगातागण 'हो'—इस प्रकार के मन्द्र स्वर से करते हैं। साम के पर्व-विभाग में व्याकरण के नियमों का पालन नहीं हो पाता। इसमें केवल स्वर और लय का ही ध्यान रखा जाता है।

निधन भक्ति का अन्तरंग परिचय

सामान्यतः निधन द्विविध हैं—सामान्तिक और अन्तःसामिक। गान के अन्त में आने वाले सामान्तिक और गान के मध्यगत निधन अन्तःसामिक हैं। सामान्तिक के अवान्तर चार भेद हैं—स्वर, निधन, इडा और वाक् (वा)। इन तीनों के भी अनेक प्रकार हैं[2] जिनका प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है—

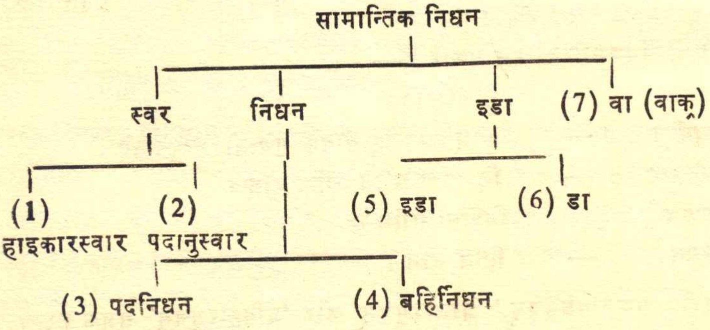

1. ऊहगानम्, पृष्ठ 44 (भूमिका)।
2. निधनानि द्विविधानि सामान्तिकानि अन्तःसामिकानि च। स्वरो निधन-मिडावागिति सामान्तिकानि। तदन्वयाच्च सामानि यथाक्रमं स्वाराणि निधन-वन्ति ऐडानि वाङ् निधनानि चोच्यन्ते—वरदराज, प्रतिहारसूत्र की व्याख्या, पृष्ठ 211 लाट्यायन श्रौतसूत्र (6.9.6-7, 7,8.16-18 तथा 7.8.5-6) में भी प्रायः इसी प्रकार का प्रतिपादन है।

इस प्रकार निधनों के प्रायः सात भेद होते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः वामदेव्य, औशन, योधाजय, आनहीयव, काक्षीत, बृहद्भारद्वाज और यज्ञायज्ञीय साम हैं।

अन्तःसामिक निधन कुछ जटिल हैं। डॉ० बे० रा० शर्मा का मत है कि वे वस्तुतः 'निधन' पद वाच्य नहीं हैं, क्योंकि वे गान के अन्त में न आकर मध्य में आते हैं।[1] इस पर भी ये निधन केवल इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि ये किसी गान के वास्तविक निधनों के सदृश होते हैं।

अन्तःसामिक निधनों की तीन श्रेणियाँ हैं—

(1) इह, इडा और अथ,

(2 अ)—निधनस्वरगीत, (2 आ) —द्व्यक्षर हीषीस्वर

(3) देवताप्रतिपादक पद और वाक्य, जो आरण्यक गान में आते हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र में इन्हें स्पष्ट करते हुए कहा गया है —'देवताश्चारण्येगेयेषु।' इसे और अधिक विस्तर से प्रतिहार सूत्र की व्याख्या में वरदराज ने समझाया है—'यानि लोकप्रसिद्धानि अनार्चिकानि पदानि यावत्सुवरित्यादीनि। वाक्यानि वयोबृहत्सत्यमोज इत्यादीनि। तानि साक्षात् परम्परया वा देवता प्रतिपादनपरत्वात् देवताः उच्यन्ते तान्येतानि इहकारादीनि सर्वप्रयोज्यानि इति।'[2]

यहाँ उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीन श्रेणियों के निधन वस्तुतः तभी निधन कहलाते हैं, जब ये स्थितियाँ हों—(1) निधन से पूर्व गान में कोई ऐसा स्तोभ आये, जिसका अन्त 'वा' से हो और जो पूर्वभक्ति का भाग न हो, अथवा (2) वृद्धियुक्त कृष्ट या स्वरित 'आ' पहले आये, अथवा (3) ऐसा स्वरित वर्ण आये जो द्वितीय स्वर से तृतीय स्वर तक कृष्ट हो तथा मन्द्रस्वरयुक्त भी हो (4) अथवा वृद्धियुक्त अक्षर आये। उपर्युक्त स्थितियों में से ही किसी के रहने पर पहली कोटि के 'इह,' 'इडा' और 'अथ' निधन कहलाते हैं, अन्यथा नहीं —तब वे मात्र स्तोभ रह जाते हैं।

निधन स्वर—यह वस्तुतः सामान्त्य निधन के ही समान साममध्य में रहता है।

---

1. In fact, strictly speaking, they cannot be called Nidhanas at all since they are not found at the end of a chant but within the chant itself.

—Sharma, B. R. : प्रतिहारसूत्रम्, Intro., Page 5.

2 प्रतिहारसूत्रम्, 15 वाँ खण्ड, पृष्ठ 212

द्व्यक्षर हीषीस्वर—'अग्न आयाहि' (साम संहिता-1) पर आधृत तीन गानों में से प्रथम गान का 'हीषी' अन्तिम पर्व है—उसके समान स्वर 'हीषीस्वर' है—
'ही 234 षी।'

देवताप्रतिपादक पद और वाक्य—आरण्यक गानों में 'सुवः' 'ज्योतिः' ऋग्भिन्न पद तथा 'यशो, बृहत्, सत्यमोजः' प्रभृति वाक्य आते हैं जो परम्परा अथवा साक्षात् रूपेण देवताओं के उपलक्षक हैं, अन्तःसामिक निधन कहलाते हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख है कि ऋग्भिन्न पद और वाक्य स्वयं ही अन्तःसामिक निधन की सृष्टि नहीं करते, प्रत्युत वे ठीक पहले आने वाले ऋग्भाग के साथ ही निधनत्व को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सामान्य निधन के अन्तर्निधन या बहिर्निधन के विपरीत, ठीक पहले आने वाले ऋग्भाग से पृथक् रूप में इह, इडा और अथ स्तोभ स्वयं ही निधनत्व को नहीं प्राप्त करते, प्रत्युत पूरी पंक्ति (जिसमें स्तोभ भी सम्मिलित हैं) ही अन्तर्निधन कहलाती है। यही सामान्य और अन्तःसामिक निधन का मुख्य अन्तर है।

अन्तःसामिक निधन के ये उदाहरण हैं—

(1) रेवती साम—'इह', इससे पहले ऋचा का वृद्धियुक्त भाग आता है। 'इडा,' इससे पहले 'वा' आता है। 'अथ' के उदाहरणार्थ पार्थुरश्म साम प्रस्तुत्य है जिससे पूर्व वृद्धियुक्त अक्षर आता है।

(2) निधनस्वर गीत के उदाहरण के लिए 'द्विनिधन' और 'त्रिणिधन'-आयास्य साम को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनमें निधन के पूर्व स्वरित आता है, 'श्येन' और 'दाशपत्य' सामों में निधन से पूर्व 'वा' आता है। 'गूर्द साम' में हीषीस्वर है; जिससे पूर्व क्रुष्ट 'आ' तथा स्वरित से पूर्व 'वा' आता है।

(3) देवतावाचक शब्दों के सन्दर्भ में आथर्वण साम को लिया जा सकता है, जिसमें ठीक पूर्व 'वा' आता है। 'राजनसाम' में पहले स्वरित आता है और आन्धीगव में पहले क्रुष्ट 'आ' है।

उत्तरगान के सन्दर्भ में इन निधनों के विषय में ताण्ड्यादि ब्राह्मण अनेक प्रकार के विधान करते हैं, जिनका मूल प्रयोजन सामगान को एकरसता से बचाये रखकर उसमें नवीनता उत्पन्न करना है।[1]

सामविकार :

ऋचा को गान-रूप देने के लिए कतिपय परिवर्तन होते हैं, जिन्हें सामवेद की पारिभाषिक शब्दावली में विकार' कहा जाता है। इनमें स्तोभ मुख्य है। जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि स्तोभ साम-गान के अलंकरण हैं—

1. तां० ब्रा० 12.4.16,

स्तोभा ह वा आसाम् अलंकाराः ताः अलं कुर्वन्निव शोभयन्निव गायेत् ।'

(1) स्तोभ—अक्षरतंत्रादि के अनुसार स्तोभ वे अतिरिक्त अथवा ऋग्भिन्न 'औहोवा', 'हाउ' आदि अक्षर तथा पद हैं जो ऋचा को गानरूप देने के लिए उससे सम्बद्ध कर दिए जाते हैं ।[1] स्तोभ प्रायः निरर्थक होते हैं । यदि कहीं सार्थक भी होते हैं तो प्रसंग के साथ उनके अर्थ की प्रायः संगति नहीं दिखलाई देती । इन स्तोभाक्षरों में दैवी और रहस्यमयी शक्ति सन्निहित मानी जाती है । इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है—(1) अन्वयी और (2) अनुषङ्गी । अन्वयी स्तोभ ऋचा के आरम्भ में जुडते हैं और अनुषङ्गी दो शब्दों के मध्य तथा साम के अन्त में । अनेक गान ऐसे हैं जो पूर्णतया स्तोभाश्रित हैं, यथा-सर्वाग्रीव तथा प्रजापतेर्हृदयम् इत्यादि । भारुण्डसाम भी स्तोभाश्रित ही माना जाता है । जैमिनीय ब्राह्मण (1.131-132) में एक अक्षर से लेकर 17 अक्षरों तक का स्तोभ-विधान है ।

स्तोभ के अतिरिक्त अन्य साम-विकारों का विवरण इस प्रकार है--

(2) विकार—यह परिवर्तन शब्द में घटित होता है, यथा—'अग्ने' के स्थान पर 'आग्नायि' ।

(3) विश्लेषण—पद का पृथक्करण विश्लेषण है; यथा—'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोया2यि' ।

(4) विकर्षण—एक स्वर का दीर्घकाल तक खींचकर उच्चारण करना; यथा-'ये' का 'या 23 यि ।'

(5) अभ्यास—किसी पद का पौनःपुन्येन उच्चारण करना, यथा—'तोया 2यि । तो या 2यि ।'

(6) विराम—गानगत सुविधा के लिए किसी पद के मध्य में रुक जाना, यथा-'गृणानो हव्यदातये' का 'गृणानोह । व्यदातये'—रूप में उच्चारण ।

स्तोत्र, स्तोम एवं विष्टुति

गेय मन्त्रों के द्वारा सम्पादित स्तुति स्तोत्र है—'प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम् ।' उत्तरगान में सामान्यतः एक स्तोत्र का सम्पादन तीन ऋचाओं से होता है, जैसा कि सायण का कथन है—'ये तु मन्त्राः स्तोत्ररूपा उत्तरासु तृचेषु ते ।'[2] इसे ही प्रगाथ भी कहा जाता है ।

---

1. 'अधिकत्वे सत्यृग्विलक्षणवर्णः स्तोभः'—सायण के द्वारा सामवेद-भाष्योपक्रमणिका में उद्धृत ।
2. सायण-कृत ताण्ड्यब्राह्मण-भाष्योपक्रमणिका ।

इन्हीं तृच रूप स्तोत्रों का आवृत्तिपूर्वक गान स्तोम है—'आवृत्तियुक्तं तत्साम स्तोम इत्यभिधीयते ।'[1]

अभिप्राय यह कि स्तोम, स्तुति का ही एक प्रकार है। स्तोमों की कुल संख्या नौ है—(1) त्रिवृत् (2) पञ्चदश, (3) सप्तदश (4) एकविंश (5) त्रिणव (6) त्रयस्त्रिंश (7) चतुर्विंश (8) चतुश्चत्वारिंश तथा (9) अष्टचत्वारिंश ।

स्तोम स्तोत्ररूप तृच पर अधिष्ठित होते हैं। तृचों को तीन पर्यायों में गाया जाता है। तृतीय पर्याय में स्तोमसम्पादन हो जाता है। स्तोमों के विभिन्न प्रकार हैं, जिन्हें 'विष्टुति,' जिसका अर्थ है विशेष स्तुति, कहा जाता है।

उदाहरण के लिए माध्यन्दिनपवमान नामक स्तोत्र को लें। इसके तृच को 15 बार आवृत्तिपूर्वक गाया जाता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को 3 बार तथा द्वितीय और तृतीय ऋचाओं को एक-एक बार गाया जाता है। द्वितीय पर्याय में पहली ऋचा को एक बार, द्वितीय को तीन बार और तृतीय को एक बार गाया जाता है। तृतीय पर्याय में प्रथम और द्वितीय ऋचाओं को एक-एक बार और तृतीय ऋचा को तीन बार गाया जाता है। आवृत्तिपूर्वक गान की यह पद्धति पञ्चदश स्तोमगत है, जिसके तीन प्रकार या विष्टुतियाँ हैं--पञ्चपञ्चिनी, अपरा और उद्यती। कुशानिक्षेप प्रकार से इनका प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है—

(1) पञ्चपञ्चिनी—

	प्रथमा ऋक्	द्वितीया ऋक्	तृतीया ऋक्
तृतीय पर्याय	—	—	≡
द्वितीय पर्याय	ǀ	ǀǀǀ	ǀ
प्रथम पर्याय	≡	—	—

(2) अपरा--

	प्रथमा ऋक्	द्वितीया ऋक्	तृतीया ऋक्
तृतीय पर्याय	—	≡	≡
द्वितीय पर्याय	ǀ	ǀ	ǀ
प्रथम पर्याय	≡	—	—

(3) उद्यती—

तृतीय पर्याय	≡	—	≡
द्वितीय पर्याय	ǀ	ǀǀǀ	ǀ
प्रथम पर्याय	—	—	—

1. सायणकृत ताण्ड्यब्राह्मण-भाष्योपक्रमणिका ।

यह कुशा-निक्षेप गणना के समय गानरत स्तोताओं के द्वारा किया जाता है। 'कुशा' शब्द उदुम्बर वृक्ष के आगे से नुकीले (तीक्ष्णाग्र) और प्रादेशमात्र काष्ठ-विशेष के लिए व्यवहृत होता है। विभिन्न विष्टुतियों में कुशा-निक्षेप का प्रकार भी वैभिन्न्यपूर्ण है जो याज्ञिक-परम्परा के अनुसार विधेय है।

ताण्ड्य ब्राह्मण के द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में सभी स्तोमों की विष्टुतियों का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है। तदनुसार बहिष्पवमानस्तोत्र के साधनभूत त्रिवृत्स्तोम की तीन विष्टुतियाँ हैं—उद्यती, परिवर्तिनी और कुलायिनी। 'ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेय स्तुवीत'[1] वचन के अनुसार ज्येष्ठ भ्राता और ज्येष्ठपत्नी का पुत्र इससे स्तुति करने के अधिकारी हैं। 'कुलायिनी' शब्द 'कुलाय' से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है पक्षियों का नीड। जैसे पक्षियों का नीड तृणों के व्यत्ययपूर्वक विन्यास से सम्पन्न होता है, वैसे ही यह विष्टुति भी ऋचाओं के व्यत्यास से निष्पन्न होती है। इसके प्रयोग से पर्जन्य वर्षणशील होता है।

सप्तदशस्तोम की सात विष्टुतियाँ हैं—दशसप्ता, सप्तास्थिता' उद्यती इत्यादि। एकविंशस्तोम की सप्तसप्तिनी, उद्यती, प्रतिष्टुति और सूर्म्मी संज्ञक चार विष्टुतियाँ हैं। त्रिणवस्तोम की दो विष्टुतियाँ हैं—प्रतिष्ठिता और उद्यती। तीन त्रिवृत्स्तोमों को मिलाने से एक त्रिणवस्तोम सम्पन्न हो जाता है। त्रयस्त्रिंशस्तोम की पाँच विष्टुतियाँ हैं—समत्र्यंशा, नेदीय.संक्रमा, उद्यती, प्रत्यवरोहिणी आदि। चतुर्विंश-स्तोम की केवल एक विष्टुति का उल्लेख है। चतुश्चत्वारिंशस्तोम की तीन विष्टु-तियाँ हैं—निर्म्मध्या आदि। इसी प्रकार अन्तिम स्तोम अष्टाचत्वारिंश की दो विष्टुतियाँ हैं।

ताण्ड्य ब्राह्मणकार ने इन सभी विष्टुतियों का वर्णन, स्तुति-अधिकारियों और प्रयोजन-निरूपणपूर्वक किया है।

इस प्रकार याग-दृष्टि से साम-गान में सामान्यतः बहिष्पवमानादि 33 प्रमुख स्तोत्र, नौ स्तोम और 28 विष्टुतियाँ व्यवहृत होती हैं।

विंशति भावविकार

पुष्पसूत्र के नवम प्रपाठक में ऊह और ऊह्यगानों में होने वाले 20 भावों का उल्लेख किया गया है। इनसे आर्चिक और स्तौभिक उभयविध पदों में विकार उत्पन्न होते हैं। ये हैं—आइत्व, प्रकृतिभाव, वृद्ध, अवृद्ध, गत, अगत, उच्च, नीच, सन्धिवत्, पदवत्, अत्व, आर्भाव, प्रश्लेष, विश्लेष, संकृष्ट, विकृष्ट, लोप, अतिहृति,

1. ता० ब्रा० 2.1.1

आभाव और विकल्प। श्लोकबद्धरूप में इनका संग्रह इस प्रकार है—

'आयित्वं प्रकृतिं चैव वृद्धं चावृद्धमेव च।
गतागतं च स्तोभानामुच्चनीचं तथैव च॥
सन्धिवत्पदवत् गानमत्वमार्भाव एव च।
प्रश्लेषाश्चाथ विश्लेषा ऊहेत्येवं निबोधत॥
संक्रुष्टं च विकृष्टं च व्यञ्जनं लुप्तमतिहृतम्।
आभावांश्च विकारांश्च भावानूहेऽभिलक्ष्येत्।
एतैर्भावैस्तु गायन्ति सर्वाः शाखाः पृथक्-पृथक्॥'

इनमें से 'आयित्व' का अभिप्राय है ऋचा के तालव्यस्वरों का 'आइ' के रूप में गान; जैसे आमहीयवसाम के 'दिवि' पद का गान में 'दिवाइ' रूप में परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार के अन्य भाव विकारों से भी विभिन्न परिवर्तन होते हैं।

साम-गानगत सांगीतिक प्रक्रिया

सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार स्वर ही साम का सर्वस्व है, वही साम का प्रिय धाम है, अतएव सदैव स्वरयुक्त रूप में ही साम-गान करना चाहिए—'स्वरेण सम्पाद्य उद्गायेत। एतद् वै साम्नः स्वं यत् स्वरः। स्वेनैवेनत् तत् समृद्धयति। एतद् वै साम्नः प्रियं धाम यत् स्वरः।'[1] छान्दोग्योपनिषद् में भी साम की गति स्वर ही निरूपित है। किन्तु प्रश्न उठता है कि सामवेदीय युग में संगीत के स्वर-मण्डल का कितना विकास हुआ था?—इस विषय में अनेक मत प्राप्त होते हैं, जिनकी प्रस्तुति से पूर्व सामवेदीय संगीत के सन्दर्भ में उपलब्ध सामग्री का आकलन आवश्यक है।

गानग्रंथों, ब्राह्मणग्रन्थों, पुष्पसूत्र, सामतन्त्र, नारदीय शिक्षा और कतिपय प्रकीर्ण सन्दर्भों के आधार पर आधुनिक युग में जिन मनीषियों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उनमें एम० एस० रामस्वामी अय्यर,[2] बर्नेल[3], ई०

---

1. जैमि० ब्रा० 1.112

1. Aiyar, M.S. Rāmaswāmy : Sāmagāna, Journal of the Musical Academy, Madras, Vol. V, 1934.

2. Burnell, A.C. : Introductions to आर्षेय ब्राह्मण and सामविधान ब्राह्मण।

क्लेमेंट्स (E. Clements)[1] हूग्त (J. M. Van Der Hoogt)[2]; आचार्य क्षितिमोहनसेन[3], बैरेण्ड फेडेगान (Barend Feddegon)[4], ठाकुर जयदेव सिंह, स्वामी प्रज्ञानानन्द[5], आनन्दकुमार स्वामी[6], डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय[7] और राज्येश्वर मित्र[8] प्रमुख हैं।

इस विषय में प्रायः सभी सहमत हैं कि वैदिक काल में संगीत की प्रक्रिया अत्यन्त विकसित थी और सामवैदिक गायक सातों स्वरों से परिचित थे, जैसा कि स्वामी प्रज्ञानानन्द का कथन है।[9]

तीन मूल स्वर :

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये तीन मूलस्वर तो ऋग्वेदकाल से ही चले आ रहे थे। इनमें सुरीली आवृत्ति के लिए उदात्त सबसे ऊँचा स्वर था, तो अनुदात्त अपेक्षाकृत निम्नस्वर। स्वरित मध्यम स्वर था।

---

1. Clements, E. : Introduction to the Study of Indian Music London, 1913.
2. Hoogt, J.M. Van Der : The Vedic Chant Studies in its Textual and Musical Form, Holland, 1929.
3. Kshiti Mohan Sen : Music in Vedic Age (Vide The Four Arts, Annual, 1935.
4. Barend Faddegon : Studies on Sāmaveda, North Holland Publishing Company, Amsterdam, 1951.
5. Prajnā ānand, Swāmy : Historical Development of Indian Music, Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1960.
6. Swāmy, Ānand Koomār : Christian and Oriental Philosophy of Art, Dower Publications.
7. पाण्डेय, कान्तिचन्द्र : स्वतन्त्र कला शास्त्र, प्रथम भाग।
8. मित्र, राज्येश्वर : वैदिक ऐतिह्ये सामगान (बंगला, जिज्ञासा, कलकत्ता, 1978)।
9. The vedic music was a developed and systematic one, and it possessed some rhythmic process and harmonic relation between the notes, page 408.

   × × × ×

   In fact all the seven notes were used in the vedic music and it is interesting to note that these seven notes were also used in the pre-historic Indus People—Historical Development of Indian Music.

उदात्तादि के साथ षड्जादि स्वरों का तादात्म्य :

उपर्युक्त तीन मूलस्वरों पर ही षड्जादि लौकिक स्वर प्रतिष्ठित हुए, जैसा कि नारदीया शिक्षा में उल्लेख है—

'उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ।।'' (1.8.8)

इस प्रकार वैदिक तीन मूलस्वरों में से उदात्त की समानता लौकिक स्वर गान्धार या उसके संवादी स्वर निषाद, अनुदात्त की ऋषभ या उसके संवादी धैवत तथा स्वरित की षड्ज या उसके संवादी स्वर मध्यम या पञ्चम से की गई है ।

पाणिनीय और याज्ञवल्क्य शिक्षाएँ भी इस तुलना से परिचित हैं ।

साम-स्वरों के साथ लौकिक स्वरों का समन्वय :

साम-गान के सात स्वर सामान्यतः माने जाते हैं—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य । इसके साथ ही चार-चार अवान्तर स्वरों के दो समूह हैं—

1. प्रत्युत्क्रम, अतिक्रम, कर्षण और स्वार ।
2. विनत, प्रणत, उत्स्वरित और अभिगीत ।

नारदीया शिक्षा में सामगान के मान के रूप में वेणु (वंशी) के मध्यम स्वर को आधार माना गया है । तदनुसार वेणु का मध्यम स्वर सामगान का प्रथम स्वर, वेणु का गान्धार स्वर साम-गान का द्वितीय स्वर, वेणु का ऋषभ स्वर सामगान का तृतीय स्वर, वेणु का षड्जस्वर सामगान का चतुर्थ स्वर, वेणु का मन्द्र धैवत सामगान का पञ्चम स्वर, वेणु का मन्द्रनिषाद सामगान का षष्ठ और वेणु का मन्द्र पञ्चम सामगान का सप्तम स्वर होता है—

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः ।
यो द्वितीयः स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभ स्मृत ।।
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः ।। (ना०शि० 1.5.1-2)

मध्यम स्वर से मन्द्र पञ्चम तक--यह वैदिक स्वरग्राम अवरोहगामी बतलाया गया है । अवरोहण क्रम का समर्थन पं० सातवलेकर, रामस्वामी अय्यर, स्वामी प्रज्ञानानन्द[1] और राज्येश्वर मित्र आदि ने किया है । अवरोहण क्रम इनके अनुसार इस प्रकार होगा—म, ग, रि, स/ध नि प ।

---

1. The Sāmans were sung in अवरोहण क्रम, and it may be said that it was the characteristic of the songs of the ancient nations of the world.
—Historical Development of Indian Music, page 408.

उपर्युक्त विवरण को इस रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है:—

साम स्वर	लौकिकस्वर
प्रथम	मध्यम (म)
द्वितीय	गान्धार (ग)
तृतीय	ऋषभ (रि)
चतुर्थ	षड्ज (स)
पञ्चम (मन्द्र)	मन्द्र धैवत (ध)
षष्ठ (अतिस्वर)	मन्द्र निषाद (न)
सप्तम	मन्द्र पञ्चम (प)

क्रुष्टस्वर :

श्री राज्येश्वर मित्र के अनुसार कर्षण द्वारा जिस स्वर का निर्णय किया जाता है, वह क्रुष्ट है। स्वर से स्वर का संक्रमण ही कर्षण है। प्रथम स्वर को कर्षण के द्वारा उठाया जा सकता है, पुनः मन्द्र स्वर धैवत को भी कर्षण कर उसे निषाद तक चढ़ाया जाता है। श्री मित्र ने क्रुष्ट और अतिस्वार को एक माना है।

बृहद्देवता में यद्यपि क्रुष्ट का उल्लेख प्रथम से पूर्व है, किन्तु विद्वानों का कथन है कि क्रुष्ट स्वर पर सामगान का आरम्भ नहीं दिखाई देता क्योंकि जो स्वर आदि स्वर माना जाता है, उसका एक निर्दिष्ट स्वरूप होना चाहिए, किन्तु क्रुष्ट एक अनिर्दिष्ट स्वर है—'क्रुष्ट' शब्द से एक स्वर को खींचकर कुछ ऊपर स्थापित करने का बोध होता है—आरम्भ में ही इस प्रकार के अनिर्दिष्ट स्वर पर कोई गान आरम्भ नहीं हो सकता।

उपर्युक्त धारणा का सायण के कथन से समर्थन नहीं होता। उन्होंने आर्षेय ब्राह्मण के भाष्य में प्रथम स्वर को ही क्रुष्ट कहा है एवं अतिस्वार को अतिमन्द्र की संज्ञा दी है। इसके विपरीत सामतन्त्र के 'क्रुष्टादयः उत्तरोत्तरं नीचा भवन्ति' वाक्य से आधुनिक विद्वानों के ही अभिमत का समर्थन होता है।[1]

साम-स्वरों का विकास-क्रम :

नारदीया शिक्षा में आर्चिक गाथिक और सामिक स्वरों का उल्लेख है—

आर्चिकं गाथिकं चैव सामिकं च स्वरान्तरम्।
कृतान्ते स्वरशास्त्राणां प्रयोक्तव्यं विशेषतः॥

1. नारदीया शिक्षा के उल्लेख को देखते हुए हमारा विचार है कि क्रुष्ट का स्थान मन्द्र और अतिस्वार के मध्य में है—

'प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वारः एतान् कुर्वन्ति सामगाः॥ ना० शि० 1.1.12

एकान्तरः स्वरो ह्यृक्षु गाथासु द्व्यन्तरः स्वरः ।
सामसुत्र्यन्तरं विद्यादेतावत् स्वरतोऽन्तरम् ।। (ना० शि० 1.1.2-3)

इसके आधार पर संगीत के आधुनिक विद्वानों ने स्वरों के विकास-क्रम की एक परिकल्पना प्रस्तुत की है। तदनुसार आरम्भ में एक स्वर वाला आर्चिक संगीत था, उसके स्थान पर गाथिक प्रकार का संगीत आया, जिसमें दो स्वर थे। तत्पश्चात् सामिक प्रकार का नया संगीत आया, जिसमें तीन स्वर थे। क्रमशः विकसित अभिरुचि के अनुरूप सामिक के स्थान पर स्वरान्तर प्रकार का संगीत आया, जिसमें चार स्वर थे। इसका स्थान पांच स्वरों वाले औडव संगीत ने लिया और तदनन्तर छह स्वरों वाला षाडव संगीत उभरा। इसी षाडव संगीत की रूपरेखा पर सात स्वरों वाले संगीत का सम्पूर्ण रूप सम्पन्न हुआ।[1] इसी प्रकार का अभिमत डा० जयदेव सिंह जी ने व्यक्त किया है जिन्होंने सामवैदिक स्वरसप्तक के विकास में दो सोपान बतलाये हैं।[2]

त्रिविध (अथवा चतुर्विध) स्वर-विस्तार :

जैमिनीय ब्राह्मण (1.51) में चतुर्विध स्वर-विकास का निर्देश है—मन्द्र, उग्र, वल्गु और क्रौञ्च।

ताण्ड्य ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणयुगीन वैदिक गायक मन्द्र, मध्यम और तार तीनों प्रकार के स्वर-विस्तार से परिचित थे, जैसा कि स्पष्ट उल्लिखित है—

'मन्द्रमिवाग्र आददीताथ तारतरमथ तारतमम्।'[3]

---

1. Prajnānānand Swāmy : Historical Development of Indian Music.
2. Singh, Th. Jaideo : There were two phases in the evolution of the Sāmavedic Scale. First, in which only three or four notes were used, second in which three more notes were added. Thus the full Sāmavedic scale of seven notes was evolved.

   —quoted by Swāmy prajnānānand in Historical Development of Indian Music.
3. तां० ब्रा० 7.1.7

श्रुति जाति-पञ्चक :

सामवेदीय स्वर-मण्डल में पाँच श्रुति-जातियों का अस्तित्व भी नारदीय शिक्षा ने बतलाया है। ये हैं—दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु एवं मध्या—

'दीप्तायताकरुणानां मृदुमध्यमयोस्तथा।
श्रुतीनां योऽविशेषज्ञो न स आचार्य उच्यते॥' (ना० शि० 1.7.9)

श्रुतियों और स्वरों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, इसका समाधान संगीतज्ञों ने यह कहकर किया है कि श्रुतियाँ वे घटक अंगमात्र हैं, जिनसे स्वरों का निर्माण हुआ है अर्थात् प्रत्येक स्वर चार, तीन या दो श्रुतियों के संयोग से बना है।

वाग्गेयगान के विषय में सामवेदीय ब्राह्मणों और नारदीय शिक्षा में अन्य अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं—उनमें से कतिपय ये हैं—(1) वामदेव्यसाम का गान निश्चल रूप से आसीन होकर उस सहज स्वाभाविक रीति से करना चाहिए, जैसे वायु जल पर धीरे-धीरे बहती है अथवा जैसे मार्जारी अपने बच्चों को सन्दंश की भाँति पकड़ती है।[1] (2) यज्ञायज्ञीय साम का गान वैसे ही करना चाहिए, जैसे अनड्वान वक्र मूत्रधारा को निरन्तर भूमि पर गिराता है, उसी प्रकार पृथक्-पृथक् अनृजु बनाकर गाना चाहिए।[2] (3) नारदीय शिक्षा में गान के 10 गुण उल्लिखित हैं।[3]

अवनर्दन की प्रक्रिया :

ताण्ड्य ब्राह्मण में गायत्रसाम के गान के विषय में दो बार अवनर्दन करने का विधान है।[4] 'अवनर्दन' का अर्थ है— 'अवस्वरण (Lowering of the musical tone) अर्थात् पहले दो खण्डों के अन्त्याक्षर को ऊपर ले जाकर नीचे लाना। उपर्युक्त गायत्रगान के मध्यम भाग में 'प्रचो' अंश के पश्चात् ओकारान्त स्वर अक्षुण्ण रखकर किया गया विस्तार (विकार) 'मगमग' प्रकार का है। इस प्रकार मध्यम एवं गान्धार के मध्यगत उतार-चढ़ाव ही अवनर्दन है।

गात्रवीणा :

नारदीया शिक्षा में दो प्रकार की वीणाओं का उल्लेख किया गया है। दारवी तथा गात्र वीणा—

---

1. तां० ब्रा० 7.9.7 तथा 7.9.11
2. वही 8.7.4
3. नारदीया शिक्षा में गान के दश गुण ये बतलाये गये हैं— रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विक्रुष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर (1.3.1)।
4. तां० ब्रा० 7.1.2

'दारवी गात्रवीणा च द्वे वीणे गानजातिषु ।
सामिकी गात्रवीणा तु तस्याः शृणुत लक्षणम् ।।"[1]

इनमें से गात्रवीणा वास्तव में कोई वीणा नहीं है। हाथ की उँगलियों पर स्वरों का आरोप कर कृत्रिम रूप से सुर-स्थापना की एक प्रक्रिया मात्र है। इस पद्धति का आश्रय साम-गान के निमित्त ही ग्राह्य है।

नारदीय शिक्षागत विवरण के अनुसार दोनों जानुओं पर दोनों हाथों की हथेलियाँ सीधी एवं उँगलियाँ प्रसारित अवस्था में रखनी चाहिए। अंगुष्ठ से उँगलियों के मध्यम पर्व का स्पर्श करना चाहिए, क्योंकि वहीं स्वर-मण्डल स्थापित होता है। उँगलियों में केवल मध्यम पर्व पर ही त्रिरेखा दिखलाई देती है। इस त्रिरेखा से ही स्वर-मण्डल अवधार्य है। सामगान के स्वर के अनुसार इस त्रिरेखा के मध्य स्थल से एक-एक यव के अन्तर पर स्वराङ्कन अर्थात् रंग से एक-एक रेखा अंकित की जानी चाहिए। मात्रा-प्रदर्शन हेतु बायें हाथ की उँगलियों पर एक मात्रा, द्विमात्रा, एवं त्रिमात्रा के अनुसार विभाजन तथा प्रयुक्त मात्रा के अनुरूप अंगुष्ठ से विभाजन के चिह्नों का स्पर्श किया जाना चाहिए।[2]

इसी शिक्षा ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि अंगुष्ठ के उत्तम भाग पर क्रुष्ट एवं अंगुष्ठ पर प्रथम स्वर अवस्थित है। प्रदेशिनी पर गान्धार, मध्यमा पर ऋषभ, अनामिका पर षड्ज एवं कनिष्ठा पर धैवत स्थित है। उसके नीचे कनिष्ठा के मूल पर्व पर निषाद का विन्यास होना चाहिए।[3]

वाद्यवृन्द

भारत में सामान्यतः चार प्रकार के वाद्य प्रचलित रहे हैं– (1) तत (2) वितत (3) घन और (4) सुषिर

इनमें वीणा भारत का सर्वाधिक प्राचीन तत श्रेणी का वाद्य है, जिसका ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में अनेकधा उल्लेख हुआ है। वीणा के निर्माण की प्रेरणा, कहा गया है कि धनुष्टङ्कार को सुनकर उत्पन्न हुई और उसी के आकार-आधार पर इसकी निर्मिति हुई।

प्रो० पैनुम (Panum) सदृश विद्वानों ने विश्व के विभिन्न देशों में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही किसी-न-किसी रूप में इसके अस्तित्व का उपपादन किया है। स्वामी प्रज्ञानानन्द के कथनानुसार पाश्चात्य 'Lyre' और 'harp' वाद्यों से यह भिन्न है भले ही अंग्रेजी भाषा में वीणा के लिए ये ही शब्द व्यवहृत होते हों।

1. नारदीया शिक्षा 1.6.1
2. नारदीया शिक्षा 1.6.2-6
3. वही 1.7.3-4

ताण्ड्य ब्राह्मण में 'वाण'[1] तथा 'अपघाटिला'[2] नाम्नी वीणाओं का उल्लेख हैं—वाणं वितन्वन्ति ।' इनमें से 'वाण' में 100 तन्त्रियाँ होती थीं (–'शततन्त्रीको भवति'[3]) । वाद्यविशारदों के अनुसार यह शततन्त्रीक वीणा काष्ठनिर्मित होती थी, जिसमें संलग्न तूँबा बैल के लाल चर्म से मण्डित होता था । इसके पृष्ठ भाग में 10 छिद्र रहते थे, जिनमें मूंज के 10 तार लगे होते थे । इसका वादन बाँस के कोण से सम्पन्न होता था । 'वाण' का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्राप्त होता है ।[4] इसके अनन्तर अथर्ववेद में भी यह वर्णित है ।[5] विद्वानों का अभिमत है कि आज का 'संतूर' वाद्य शततन्त्रीक वैदिक वाद्य वाण का ही अवशेष है ।

'अपघाटिला' का वादन यजमान-पत्नियाँ यज्ञ में उपगानपूर्वक करती थीं । द्राह्यायण के अनुसार इसका वादन मुख के पास रखकर किया जाता था । सायण ने यजमान–पत्नियों के द्वारा व्यत्यासपूर्वक वादित होने वाली पिच्छोला (अथवा पिच्छोरा) तथा काण्ड वीणा के साथ अपघाटिला का तादात्म्य–स्थापन किया है—'इतरयोरेका अपघाटिला संज्ञा ।' वादन–दण्ड से बजाई जाने वाली पिच्छोरा वंश-दण्ड से निर्मित होती थी और 'काण्डवीणा' किसी वृक्ष के काण्डयुक्त डण्ठल से । प्रो० कालन्द ने पिच्छोरा की पहचान आधुनिक गिटार से की है । लाट्यायन[6] और द्राह्यायण[7] के सूत्रग्रन्थों के अवलोकन से सायण के मत की पुष्टि होती है ।

जैमिनीय ब्राह्मण में कर्करी, अलाबू, वक्रा, कापिशीर्ष्णी एषिकी प्रभृति अन्य वाद्ययन्त्रों का उल्लेख है, जो वीणा श्रेणी के ही माने गये हैं ।

वीणा के अतिरिक्त ताण्ड्य में 'दुन्दुभि' नामक वाद्य का उल्लेख भी है—'सर्वासु स्रक्तिषु दुन्दुभयो वदन्ति ।'[8] यज्ञ–मण्डप में वेदी के सभी कोनों पर दुन्दुभिवादन होता था ।

परवर्तीकाल में उपर्युक्त वाद्ययन्त्रों का बहुविध विकास और प्रसार हुआ । ततश्रेणी के जितने भी वाद्य हैं, सभी का मूल वीणा में निहित है । आधुनिक युग

---

1. तां० ब्रा० 5.6.-12
2. वही 5.6.8
3. तां0 ब्रा0 5.6,13
4. धमन्तो वाणं मरुत: सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे—ऋ०सं० 1.85,10
5. को वाणम् को नृतो दधौ–अथर्व संहिता 10.2.27
6. ला० श्रौ० सू० 4.2.5–7
7. द्रा० श्रौ० सू० 11.2.6–8
8. ब्रा० 5.5.18 तथा 19

के सरोद, रबाब आदि वाद्य क्रमशः शारदीया और रुद्रवीणा के अवशेष हैं। नारद की महती और सरस्वती की कश्यपी वीणाओं के अनेक रूपान्तर अद्यावधि प्रचलित हैं। रामायण की विपंची और भरत की चित्रा नाम्नी वीणाएँ वैदिक वाण और अपघाटिला की अन्वयसम्भूता नहीं हैं—यह कौन कह सकता है? अजिण्ठा भरहुत, सांची, अमरावती, भुवनेश्वर, नागार्जुनकोण्डा, महाबलिपुरम और चिदम्बरम् के भित्तचित्रों में उत्कीर्ण वीणावादन के दृश्य और प्रसंग वीणा के युग-युगान्तरीय विस्तार की महागाथा के साक्षी हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण में से शिक्षा ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री को यदि पृथक् भी कर दिया जाय और केवल सामवेदीय ब्राह्मणों में ही संगीत-कला के विकास का प्रतिबिम्ब पाने की चेष्टा की जाय तथापि निम्नलिखित तथ्य उस युग में साङ्गीतिक प्रक्रिया की बहुमुखी प्रगति को रेखांकित करने के लिए प्रमुखतया उपस्थापित किये जा सकते हैं:—

1. वागिन्द्रियजनित गान—कला का विपुल विकास हो चुका था।
2. मन्द्र, तारतर एवं तारतम—इन त्रिविध स्वर—विस्तारों से सामवैदिक गायक पूर्णतया परिचित था।
3. एकल गान और समवेतगान दोनों ही सुप्रचलित थे।
4. प्रस्ताव और प्रतिहार आदि साम-विभक्तियों के रूप में प्रबन्ध—गीति की धातुओं (Music Parts) से गायक सम्यक् रूप से परिचित थे और गान को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उनका यथेष्ट उपयोग करते थे। 13. वीं शती के प्रसिद्ध संगीताचार्य शार्ङ्गदेव ने प्रबन्धगीति—धातुओं के रूप में इसीलिए प्रस्तावादि को ही आधार माना और उन्हें उद्ग्राह, अनुद्ग्राह, सम्बन्ध, ध्रुवक के नये नामों से प्रस्तुत किया।
5. सांगीतिक अलंकार के रूप में स्तोभ की व्याख्या ब्राह्मणों ने ही की, जैसा कि पहले जैमिनीय ब्राह्मण का कथन प्रस्तुत किया जा चुका है।
6. अवनर्दन की प्रक्रिया स्वरों के आरोहण और अवरोहण की सूक्ष्म प्रविधिगत परिचय को लक्षित करती है। उद्वंशीय साम के प्रसंग में ताण्ड्य ब्राह्मण में सांगीतिक एक स्वर के अथवा अनेक स्वरों के अतिक्रमण का सिद्धांत प्रतिपादित है। पारिभाषिक शब्दावली में इसे अतिस्वार अथवा अतिक्रम कहा जाता है।
7. वाद्य-वादन का पर्याप्त उच्चता तक विकास हो चुका था।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामवेदीय संगीत उस उच्च स्थिति पर ब्राह्मण-काल में आरूढ़ हो चुका था जहाँ तन्मयता और परमानन्द की अनुभूति में जन्म-योनि, अवस्था और जन्मान्तरीय संस्कारों की विपरीतता भी बाधक सिद्ध नहीं होती तथा शिशु, पशु और सर्प समानरूप से गान- रस से अप्यायित हो उठते है– 'शिशुर्वेत्ति, पशुर्वेत्ति, वेत्ति गानरसं फणी।'

बरेण्ड फैड्डेगान के शब्दों में आध्यात्मिक आधार पर हुए सांगीतिक विकास की दिशा में सामसंगीत निरन्तर भावी संगीत का दिग्दर्शन करता रहेगा।

सामवेद के ऋषि, आचार्य तथा उनकी वंश परम्परा

आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार ऋषियों, जिन्होंने सामों का साक्षात्कार किया, के नाम-गोत्र का ज्ञान अनेक दृष्टियों से आवश्यक है—

'ऋषीणां नामधेयगोत्रोपधारणम्। स्वर्ग्यं यशस्यं धन्यं पुण्यं पुत्र्यं पशव्यं ब्रह्मवर्चस्यं स्मार्तमायुष्यम्।'[2]

ऋषि-नामों की अवधारणा करने वाला एक-एक ऋषि का दिव्य सहस्र वर्षों की अवधि तक आतिथ्य प्राप्त करता है। उनके द्वारा अभिनन्दित, प्रतिक्षणनन्दित और सम्मानित होकर व्यक्ति अपने स्वाध्याय का सम्पूर्ण लाभ लेने में समर्थ होताहै —

---

1. We are witness of music's birth and we feel happy at India's rich literary inheritance which will in the course of time teach us music's spiritual development, × × ×
   I should like to formulate here my impression of ancient Hindu music. Any one penetrating into vedic chant will be struck by the fact that this chant certainly gave little opportunity for personal inspiration, but that all the same this chant-system in its totality rests on religious emotion. It is in this respect as with the fashion of dress in a remote district, it does not give any chance, to private choice but in its innate it remains an expression of aesthetic sentiment.
   –Barend Faddegon: Studies on Sāmaveda, page 24,
2. आर्षेय ब्राह्मण 1.1 2-3

'इदमुपधारयत एकैकस्य ऋषेः दिव्यं वर्षसहस्रमतिथिर्भवति । अभिनन्दितः प्रतिनन्दितो मानितः पूजितस्ततः स्वाध्यायमुपजीवति ।'[1]

ऋषि-नाम-ज्ञान वस्तुतः काम्य ही नहीं, अपरिहार्य भी है । आर्षेय ब्राह्मण ने इस सन्दर्भ में किसी अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ के वचन को उद्धृत करते हुए कहा है कि ऋषि, छन्द और देवता का ज्ञान किये बिना जो यजन-याजन और अध्यापन में संलग्न होता है, वह स्थावर हो जाता है, गर्त में निपतित होता है और अन्त में पाप और मृत्यु का भी आस्पद बनता है ।[2] इसके विपरीत उपर्युक्त तत्त्वों के ज्ञान-पूर्वक साम-स्वाध्याय में निरत व्यक्ति ऋषियों और प्रजापति की संस्थानता तथा पुनर्जन्म- शृंखला की स्मृति से सम्पन्न हो जाता है ।[3]

आर्चिक और गानभाग के ऋषियों की भिन्नता

सामवेद के विषय में ज्ञातव्य तथ्य यह है कि इसके आर्चिक भाग और गान-भाग के ऋषि भिन्न-भिन्न होते हैं । 'सामवेदार्षेयदीप' के रचयिता भट्टभास्करा-ध्वरीन्द्र का अत्यन्त स्पष्ट कथन है —

'ऋषयस्तु ऋक्सामयोर्भिद्यन्ते'[4]

उदाहरण के लिए पूर्वार्चिक की प्रथम ऋचा 'अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये०' के ऋषि भरद्वाज हैं । इस पर तीन साम प्राप्त हैं, जिनमें से प्रथम के गौतम, द्वितीय के कश्यप और तृतीय के पुनः गौतम हैं । इसी प्रकार 'पुनानः सोम धारया' पर १६ साम प्राप्त हैं और उनके अयास्य आङ्गिरस, मण्डु, वसिष्ठ, सोम आदि विभिन्न ऋषि हैं । इन ऋषियों के नामों पर ही सामों का प्रायः नामकरण सम्पन्न हुआ है, यथा– आयास्य साम और माण्डव साम इत्यादि । कभी-कभी इसके विपरीत प्रवृत्ति भी दिखलाई पड़ती है, जब ऋषि का नामकरण सामविशेष के आधार पर हुआ प्रतीत होता है । उदाहरण के लिए 'दावसुनिधन' और 'हविष्मत' सामों के नामकरण इनके निधन-भागों—क्रमशः 'दावसू (2345)' तथा 'हविष्मते (2345) – के आधार पर सम्पन्न हुए हैं । इनके ऋषि क्रमशः दावसु और हविष्मान् बतलाये गये हैं । प्रतीत होता है, ये इन ऋषियों के उपनाम हैं जो सामों के कारण प्रचलित हो गये । इनके वास्तविक नाम अन्य रहे होंगे ।

पूर्वगान के ऋषियों के नाम आर्षेय ब्राह्मण से विदित हो जाते हैं और ऊह तथा उह्यगानों के ऋषि-नामों पर ताण्ड्य ब्राह्मण में निर्वचनादि के द्वारा प्रभूत प्रकाश निक्षिप्त है ।

---

1. आर्षेय ब्राह्मण 1.1.5
2. वही 1.1 6
3. वही
4. सामवेदार्षेयदीप, भूमिका, 2

शक्वर्याख्य पर्व तक प्रकृतिगान के ऋषियों की अत्यन्त स्पष्ट नामावली 'सामवेदार्षेयदीप' में प्राप्त होती है, जिसमें आर्चिक तथा गान - ऋषियों के नामों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। साम-ऋषियों के नाम-ज्ञान के लिए यह अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है, जो एक अच्छी अनुक्रमणी के रूप में है।

साम-गान की वंश-परम्परा

सामवेद की अध्ययन-परम्परा के पुरोवर्तक तथा सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषियों और आचार्यों की तीन नामावलियाँ प्रमुखतया इस वेद के ब्राह्मणग्रन्थों में संकलित हैं।

इनमें से प्रथम नामावली वंशब्राह्मण में उपलब्ध है। 'वंश' से यहाँ जन्म-परम्परा नहीं, वस्तुतः विद्या-परम्परा अभिप्रेत है। वंशब्राह्मण में सर्वप्रथम ब्रह्मा, ब्राह्मणों, आचार्यों, ऋषियों तथा देवों -वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रणव–को प्रणाम किया गया है। सायण के अनुसार ये 'परापर गुरु' हैं। तत्पश्चात् विपरीत क्रम से, शर्वदत्त गार्ग्य से प्रारम्भ कर ब्रह्मा तक एक नाममाला उल्लिखित हैं। दूसरे शब्दों में यह परम्परा ब्रह्मा से आरम्भ होकर शर्वदत्त गार्ग्य तक जाती है। सायण के अनुसार ये सभी परम्परा-गुरु हैं।

ब्रह्मा स्वयम्भू अर्थात् स्वयम्भातविद्य हैं, अतएव उन्हें किसी से अध्ययन करने की आवश्यकता न थी। सम्पूर्ण परम्परा इस प्रकार है— ब्रह्मा < प्रजापति < मृत्यु (यम) < वायु < इन्द्र < अग्नि < कश्यप < ऋष्यश्रृङ्ग < काश्यप (कश्यप के जन्मना पुत्र) < विभण्डक (ऋष्यश्रृङ्ग के पुत्र) <मित्रभू काश्यप (विभण्डक के पुत्र) <इन्द्रभूकाश्यम <अग्निभूकाश्यप <शवा <देवतरा (शवा के पुत्र) <प्रतिथि <देवतरथ (देवतराशावसायन के पूत्र) <निकोथक भायजात्य <वृषशुष्म वातावत <इन्द्रोत शौनक <दृतिरैन्द्र <शौनक (इन्द्रोत शौनक के पुत्र) <अराल दार्तेय <शूष वाह्नेय भारद्वाज <सुमन्त्र वाभ्रव गौतम <वासिष्ठ आरेहण्य राजन्य <वासिष्ठ चैकितानेय <स्थिरक गार्ग्य <मशक गार्ग्य <उदरशाण्डिल्य (-इन्होंने शौनक अति धन्वा और मशकगार्ग्य दोनों से शिक्षा प्राप्त की थी) <गर्दभीमुख शाण्डिल्य (उदर शाण्डिल्य के पुत्र) <विचक्षण ताण्ड्य <शाकदास भाडितायन <संवर्गाजित लामकायन <गाता गौतम <राधो गौतम (गाता गौतम के पुत्र) <अंशु धानञ्जय्य <सुतेमना शाण्डिल्यायन <सुनीथ कापटव <मित्रविन्द कौहल <केतुर्वाद्य <प्रातरह्न कौहल <सुश्रवा वार्षगण्य <स्वाति औष्ट्राक्षि <मद्रकार शौङ्गायनि <शाम्ब शार्कराक्ष्य एवं औपमन्यव कम्बोज <आनन्दज अन्धनायन <भानुमान औपमन्यव <ऊर्जयन् औपमन्यव <सुशारद शालङ्कायन <श्रवणदत्त कौहल <कुस्तुक शार्कराक्ष्य <शायस्थि भवत्रात <बृहस्पतिगुप्त <सुप्रतीत उलुन्दा <मित्रवर्चा स्थैरकायन <ब्रह्मवृद्धि छन्दोगमाहकि

<गिरिशर्मा काण्ठेविद्धि <निगड पार्णवल्कि <त्रात ऐषुमत <रुद्रभूति द्राह्यायण <शर्वदत्त गार्ग्य ।

इनमें से ब्रह्मा से अग्नि तक देवों के नाम हैं, जिनका मात्र देवशास्त्रीय महत्त्व है। वास्तविक परम्परा ऋषि कश्यप से प्रारम्भ होती है। राधो गौतम से एक अन्य परम्परा आरम्भ हो गई थी, जिसका उल्लेख वंशब्राह्मण के तृतीय खण्ड में है। यह द्वितीय परम्परा नयन तक जाती है, जिसका विवरण इस प्रकार है—राधगौतम <गोभिल <बृहद्वसु गोभिल <गौल्गुलवी पुत्र गोभिल <वत्समित्र गोभिल <मूलमित्र गोभिल <वरुणमित्र गोभिल <अश्वमित्र गोभिल <पूषमित्र गोभिल <अर्यमराध गोभिल <संकर गौतम <पुष्पयशा औदव्रजि <भद्रशर्मा कौशिक <अर्यमभूति कालबव <नयन ।

उपर्युक्त सूची में उल्लिखित स्वाति का नाम नाट्यशास्त्र में भी उल्लिखित है। यह वाद्य विशारद थे और नाटकों में वाद्य प्रयोग के आरम्भ का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। कौहल या कोहल के वंशज भी गीत, वाद्य और नाट्य-प्रयोगों में अग्रणी रहे हैं।

द्वितीय परम्परा में गोभिलों का प्रशस्त अवदान उल्लेखनीय है, यद्यपि सम्प्रति इनके नाम से केवल 'गोभिलगृह्यसूत्र' ही उपलब्ध है किन्तु सामवेद के प्रचार-प्रसार में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वयमेव स्पष्ट है। पुष्पयशा औदव्रजि ही संभवतः 'पुष्पसूत्रम्' के प्रणेता हैं, क्योंकि उत्तर भारत के एक हस्तलेख में 'पुष्प-सूत्रम्' के रचयिता–रूप में गोभिल का उल्लेख है, जो गोभिलीय परम्परा से उनके सम्बन्ध का द्योतक है।

उपर्युक्त नामावली से उस प्राचीन समाज, जिसमें ये ऋषि रहते थे, तथा उनके व्यक्तित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। इनमें से कतिपय नाम अष्टाध्यायी के तद्धित प्रकरण और गणपाठ में भी उपलब्ध हैं। गर्दभीमुख, औष्ट्राक्षि, शार्कराक्ष्य जैसे नाम विलक्षणता ही नहीं, विनोदप्रियता के भी प्रतीक हैं।

सामवेद के उपर्युक्त आचार्यों में अनेक ब्राह्मणेतर वर्णों से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। आरेहण्यराजन्य तो क्षत्रिय हैं ही और बृहस्पतिगुप्त के 'गुप्त' आस्पद को आधार रूप में लेने पर वे भी वैश्यवर्ण से सम्बद्ध हो जाते हैं जो सामवेद की सार्व-वर्णिक लोकप्रियता का द्योतक है।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में साम-प्रवचन-परम्परा की दो सूचियाँ प्राप्त होती हैं।[1] इनमें से प्रथम सूची गायत्र साम की परम्परा के उन्नायकों की है तथा

1. जैमि॰ उप॰ ब्रा॰ 3.7.3-5 तथा 4.9.1-2

द्वितीय उनकी है, जिन्होंने गायत्र साम की उद्गीथ भक्ति-परम्परा को प्रशस्त किया। 50 नामों वाली प्रथम परम्परा इस प्रकार है—

ब्रह्म < प्रजापति < परमेष्ठी प्राजापत्य < सवितृदेव < अग्नि < इन्द्र < काश्यप < ऋष्यशृंग काश्यप < देवतरा श्यावसायन काश्यप < शुष वाह्नेय काश्यप < इन्द्रोत दैवाप शौनक < दृति ऐन्द्रोत शौनक < पुलुष प्राचीनयोग्य < राजा हृत्स्वाशय आल्लकेय माहावृष < राजा जनश्रुत काण्ड्विय < सायक जानश्रुति काण्ड्विय < नगरी जानश्रुतेय काण्ड्विय < शंग शाट्यायनि आत्रेय < राम क्रातुजातेय वैयाघ्रपद्य < शंख बाभ्रव्य < दक्ष कात्यायनि आत्रेय < कंस वारकि < प्रोष्ठपद वारक्य < कंस वारक्य < जयन्त वारक्य < कुबेर वारक्य < जयन्त वारक्य < जनश्रुत वारक्य < सुदत्त पाराशर्य < अषाढोत्तर पाराशर्य < विपश्चित् शकुनिमित्र पाराशर्य < जयन्त पाराशर्य < श्याम जयन्त लौहित्य < पल्लिगुप्त लौहित्य < सत्यश्रवा लौहित्य < कृष्णधृति सात्यकि < श्यामसुजयन्त लौहित्य < कृष्णदत्त लौहित्य < मित्रभूति लौहित्य < श्यामजयन्त लौहित्य < त्रिवेद कृष्णजाताय लौहित्य < यशस्वी जयन्त लौहित्य < जयक लौहित्य < कृष्णरात लौहित्य < दक्ष जयन्त लौहित्य < विपश्चित् दृढजयन्त लौहित्य < वैपश्चित दार्ढजयन्ति दृढजयन्त लौहित्य < वैपश्चित दार्ढजयन्ति गुप्त लौहित्य।

उद्गीथ भक्ति के उन्नायकों से सम्बद्ध अपरसूची में इन्द्र, अगस्त्य, इष श्यावाश्व, गौषूक्ति और ज्वालायन के अनन्तर शाट्यायनि से सुदत्त पाराशर्य तक उपर्युक्त नाम ही प्राप्त होते हैं।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण तथा वंशब्राह्मण दोनों ही इस बिन्दु पर सहमत हैं कि कश्यप या काश्यप को अग्निदेव से साम-ज्ञान प्राप्त हुआ। उपर्युक्त सभी सूचियों में अनेक नाम समान हैं। इनके विश्लेषण से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह ज्ञात होता है कि कश्यप, प्राचीनयोग्य, काण्डविय, वारक्य, पाराशर्य, गोभिल और लौहित्य परिवारों ने सामवेद की अध्ययन-परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

'सामतर्पण' में प्राप्त राणायनादि 13 सामशाखा प्रवर्तकों के नामों का उल्लेख प्रथम परिच्छेद में ही हो चुका है।

सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित दैवतविज्ञान

स्वरूप :

ताण्ड्य ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि देववृन्द भी पहले मरणधर्मा थे।[1] यागानुष्ठान के द्वारा ही वे देवत्व को पा सके—अतएव कोई भी यागानुष्ठान के

1. तां० ब्रा० 23.12.2

बल से देवत्व की प्राप्ति कर सकता है—'एताभिर्वै देवा देवत्वमगच्छन् देवत्वं गच्छन्ति य एता उपयन्ति ।'[1] इस प्रकार स्वरूप की दृष्टि से देवगण पूर्वकालिक पुण्यकर्मा जन प्रतीत होते हैं, जिनके मन, वचन और कर्म सत्याधिष्ठित हैं ।[2]

सामान्यतः देवों पर मानवीय क्रिया-कलाप और व्यवहारों को अन्वित किया गया हैं, किन्तु कहीं-कहीं इनके स्वरूप को अतिमानुष रूप देने की चेष्टा भी परिलक्षित होती है । उदाहरणार्थ छान्दोग्य उपनिषद् का वह कथन प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसके अनुसार देवगण भोजन-पान से रहित हैं और वे अमृत को देखने से ही तृप्त हो जाते हैं —

'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति (-3.6.1) ।'

संख्या :

सामान्यतः ताण्ड्यकार ने तैंतीस देवों की संख्या का उल्लेख किया हैं, जिसमें आठवसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार सम्मिलित हैं ।[3] कहीं-कहीं प्रजापति का उल्लेख 34वें देव के रूप में है ।[4] यह निर्विवाद है कि वैदिक देव-मण्डल में प्रजापति को विशेष महत्त्व ब्राह्मण-काल में ही प्राप्त हुआ ।

अधिष्ठातृत्व :

ताण्ड्य में अग्नि पृथ्वी के, वायु अन्तरिक्ष के और सूर्य द्युलोक के अधिष्ठाता कहे गये हैं ।[5] यज्ञ के सवनों में प्रातः सवन वसुओं, मध्याह्नसवन रुद्रों तथा तृतीय सवन आदित्यों और विश्वेदेवों से सम्बद्ध है ।[6] त्रिवृदादि स्तोम क्रमशः अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवादि से निबद्ध हैं ।[7] देवताध्याय ब्राह्मण के द्वितीय खण्ड में विभिन्न छन्दों का भी देवों से सम्बन्ध स्थापित है । तदनुसार गायत्री से अग्नि का, उष्णिक् से सविता का, अनुष्टुप् से सोम का, बृहती से बृहस्पति का, त्रिष्टुप् से इन्द्र का,

---

1. वही 23.6.2; 2. षड्० ब्रा० 1.1.9
3. देवता वाव त्रयस्त्रिंशोऽष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च त्रयस्त्रिंशो—तां० ब्रा० 6.2.5 तथा 22.8.4
   ताण्ड्य में ही एक स्थल पर 12 आदित्यों के स्थान पर आठ का ही उल्लेख है (24.12.4) । सायण ने इन्हें आदित्य-मण्डल में आठ प्रमुख सदस्यों की मान्यता दी है । ब्राह्मणकार ने आदित्यों की अष्ट संख्या के समर्थन में 'अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जाताः' ऋचा दी है (24.12 6) ।
4. प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशो देवतानाम्—तां० ब्रा० 22 8.5
5. तां० ब्रा० 6.7.3 6. छा० उप० 2.24
7. तां० ब्रा० 6.1.6-11

जगती से विश्वेदेवों का और पंक्ति से वसुओं का सम्बन्ध है। सभी अतिच्छन्द प्राजापत्य और विच्छन्द वायुदेवत्य हैं।

सामों के देवता :

देवताध्याय ब्राह्मण में निधन (साम के अन्तिम भाग)—भेद से सामों के 10 देवता बतलाये गये हैं; ये हैं—अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, वरुण, त्वष्टा, अंगिरा, पूषा, सरस्वती और इन्द्राग्नी। इनमें से अग्नि से इडानिधन (यथा कालेय और रौरवादि साम), ऋगन्त्यपदनिधन (यथा-योधाजयसाम), तथा ईकारनिधन वाले (महात्त्सप्र, महावैराजादि) साम सम्बद्ध हैं। इडानिधनादि आदिष्ट निधनों के अतिरिक्त अन्य सभी निधनों का सम्बन्ध इन्द्र से है। स्वरनिधन वाले वामदेव्य प्रभृति साम प्राजापत्य हैं। स्तोभरहित और मात्र ऋगाश्रित साम सोम से सम्बद्ध हैं। यज्ञायज्ञीय आदि वाङ्निधनसामों के देवता वरुण हैं। वारवन्तीय और अभीवर्तादि अक्षरानुस्वर सामों का सम्बन्ध त्वष्टा से है। स्वरपृष्ठादिसाम आङ्गिरस हैं। स्वर्णिधन वाले काशीत देवोदासादि साम पूषन् देव से सम्बद्ध हैं। 'कयानश्चित्र' आदि वाङ्निधनसाम सारस्वत हैं।[1]

इसी ब्राह्मण में आगे वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवादि देव-समूहों को भी सभी सामों से निधनचतुष्टय के आधार पर सम्बद्ध किया गया है।

अन्ततः सभी सामों के मूल देवता ब्रह्मा बतलाये गये हैं, क्योंकि प्रारम्भ में उन्होंने ही उनकी सृष्टि की है—

'अथान्तरतमानि सर्वाणि ब्रह्माणि सामानि इति सर्वान्तरतमानि।'[2]

गायत्रसाम की सर्वदेवात्मकता :

देवताध्याय ब्राह्मण के चतुर्थ खण्ड में गायत्रसाम की आधारभूत सावित्री में सकल देवों के अस्तित्व का उत्पादन मानवीकरण प्रक्रिया से है। तदनुसार ब्रह्मा उसके शिरोभूत हैं। द्युलोक ललाट है। चन्द्रमा और सूर्य नेत्र, अग्नि मुख, सरस्वती जिह्वा, त्वष्टा ग्रीवा, वसु और रुद्रगण बाहु, वायु हृदय, इन्द्र पृष्ठभाग, विष्णु नाभि, प्रजापति जघन, मरुद्गण उरू, वेद चरणयुगल, विद्युत् मुस्कान, वायु निःश्वास, पर्वत अस्थियाँ, समुद्र वस्त्र और नक्षत्र अलंकारस्वरूप हैं।[3]

सप्तस्वरों के देवता

सामवेदीय ब्राह्मणों ने विभिन्न स्वरों का भी तत्तद् देवों से सम्बन्ध स्थापित किया है, जिसके अनुसार क्रुष्ट के प्रजापति ब्रह्मा अथवा विश्वेदेव, प्रथम के

1. देवताध्याय ब्राह्मण 1.1-20
2. वही 1.21
3. वही 4.1

आदित्य, द्वितीय के साध्य, तृतीय के अग्नि, चतुर्थ के वायु, मन्द्र के सोम और षष्ठ अतिस्वार्य के देवता मित्रावरुण हैं।

सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार प्रमुख देवता :

उपर्युक्त विवरण के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि ताण्ड्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राधान्य अग्नि, इन्द्र, प्रजापति और सोम का ही है। इनके पश्चात् विष्णु, वरुण, आदित्य, सरस्वती, बृहस्पति, रुद्र, मरुत् और साध्यगण का स्थान है।

प्रधान देवों में भी इन्द्र और अग्नि की सर्वाधिक विशिष्टता लक्षित होती है। ताण्ड्य और षड्विंश ब्राह्मणों ने इनकी ओजस्वितमता का उल्लेख कर इसी तथ्य का उद्घाटन किया है—

'इन्द्राग्नी वै देवानामोजिष्ठा' (ता० ब्रा० 24.17 31 तथा षड् ब्रा० 4.1.18

अपने–अपने गणों में भी विभिन्न देवों की प्रमुखता उल्लिखित है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार वसुओं में अग्नि, रुद्रों में इन्द्र, आदित्यों में वरुण, मरुतों में सोम और साध्यों में ब्रह्मा की प्रधानता है। उपनिषद्गत इस तारतम्य में अनेक देवों को उनके गण से भिन्न गण से सम्बद्ध कर दिया गया है जिसकी प्रयोजनवत्ता किसी सन्दर्भ विशेष में ही अन्वर्थ होती है।

ताण्ड्य तथा षड्विंश ब्राह्मणों में अग्नि को सर्वदेवात्म कहा गया हैं, जो उनकी उच्च स्थिति का द्योतक हैं—'अग्निर्वै सर्वा देवताः।'[2]

इन्द्र के पराक्रमों का विस्तार से उल्लेख है जिनकी विवेचना आख्यायिकाओं के सन्दर्भ में की जा चुकी है। उनके वृत्र–वधादि आख्यान ताण्ड्य और षड्विंश में अनेकधा आये हैं। इन्द्र के पराक्रमों, प्रणय–प्रसंगों और अनुग्रह–दृष्टि का पौनःपुन्येन का कथन है।

प्रजापति ऋग्वेद संहिता में गौणस्थान के ही अधिकारी प्रतीत होते हैं किन्तु ताण्ड्य ब्राह्मण में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। किसी भी आपत्तिकाल में देवों का मार्गदर्शन वही करते हैं। देवों के मध्य श्रेष्ठताविषयक पारम्परिक विवादों में भी उन्हीं की आधिकारिक भूमिका दिखलाई देती है, प्रायः सभी सोमयागों, विभिन्न स्तोमों और किम्बहुना सम्पूर्ण सृष्टि की रचना का श्रेय उन्हें प्राप्त है।

सामवेदीय ब्राह्मणों में सोम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान स्वाभाविक है। उसे राजा कहा गया है– यज्ञ में उसके आसन को इसीलिए 'सम्राडासन्दी' नाम से अभिहित करने की परम्परा है।

---

1. छा० उप० 3.6.9
2. तां० ब्रा० 9.4.5 तथा षड्० ब्रा० 4.1.21

वर्ण की दृष्टि से वह ब्राह्मण है—'सोमो वै ब्राह्मणः।'[1]
जहाँ तक सोम के स्वरूप का प्रश्न है, सामवेदीय ब्राह्मणों में मूलतः वह सोम-रसाधिष्ठातृ देव के रूप में ही चर्चित है। इस सम्बन्ध में यहाँ विभिन्न कल्पनाओं का अवसर अनुपलब्ध है।

विष्णु का यद्यपि ताण्ड्यादि ब्राह्मणों में उल्लेख अनेक बार हुआ है, किन्तु इन्द्र की अधिक व्यापकता के कारण वह कुछ अभिभूत से प्रतीत होते हैं। विष्णु का विशेष महत्त्व यज्ञ की दृष्टि से है, जहाँ उनका समानाधिकरण दिखलाई देता है—'यज्ञो विष्णुः।'[2]

सम्पूर्ण हविर्द्धान मण्डप विष्णु का शरीर माना गया है और रराटी उनका शिर—'विष्णोः शिरोऽसि।'[3]

इन्द्र और विष्णु के सम्मिलित पराक्रमों में विजय की अवश्यम्भाविता उल्लिखित है[4], किन्तु ऐसी विजयों में प्राप्त निधि के विभाजन में इन्द्र को जहाँ दो भाग प्राप्त हुए हैं, वहीं विष्णु को केवल एक भाग से ही सन्तोष करना पड़ा है।[5]

वरुण यज्ञ के दुरिष्ट (दोषान्वित यजन) को ग्रहण करते हुए उल्लिखित है।[6] इस प्रकार नैतिकता और सदाचार से यहां भी उनका सम्बन्ध अविच्छिन्न लक्षित होता है।

द्रोणकलशादि याग-वस्तुओं तथा साम की उद्गीथादि भक्तियों को आदित्य के साथ समीकृत करने से ब्राह्मणयुगीन वैदिक देव-मण्डल में आदित्य का भी उल्लेखनीय स्थान प्रतीत होता है। इन्द्र को प्रायः उनके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है।

सरस्वती

ऋग्वेद की अपेक्षा ताण्ड्यगत एक आख्यायिका से ज्ञात होता है कि वाग्-देवता का पहले यज्ञ में भाग निर्धारण नहीं था, जो उसके रुष्ट होकर चले जाने के अनन्तर हुआ। ताण्ड्यकार ने वाणी और सरस्वती की एकरूपता का अत्यन्त स्पष्ट कथन किया है—'वाग्वै सरस्वती।'[7]

वाणी के बेकुरा, वाचस्पति, सरस्वती आदि अनेक पर्यायों का उल्लेखकर उसे 'शबली' (कामधेनु) कहा गया है।[8]

---

1. तां० ब्रा० 23.17.5
2. वही 9.6.10
3. वही 1.1.8
4. वही 20.15.6
5. वही
6. वही 15.2.4
7. तां० ब्रा० 6.7.7
8. वही 6.7.6

ताण्ड्य ब्राह्मण में बृहस्पति को देवों का पुरोधा और उद्गाता बतलाया गया है।[1] देव पौरोहित्य की प्राप्ति बृहस्पति को यागानुष्ठान के द्वारा ही हुई।

गण रूप में रुद्रों का ताण्ड्य में बहुधा उल्लेख है, किन्तु इस वर्ग के विनायक और स्कन्द प्रभृति देवों को प्रसन्न करने का विधान सामविधान ब्राह्मण में ही प्राप्त होता है।[2]

ताण्ड्यकार ने मरुतों को इन्द्र से सम्बद्ध रूप में ही प्रायः प्रस्तुत किया है। एक स्थल पर उन्हें इन्द्र की प्रजा भी बतलाया गया है, जिनसे इन्द्र ने सहस्र गायें ले ली थीं।[3]

साध्यसंख्यक देवगण का उल्लेख करते समय ताण्ड्य ब्राह्मण में 'देव' विशेषण का प्रयोग प्रायः नियमित रूप से हुआ है—'साध्या वै नाम देवा आसन्।'[4] कहा गया है कि इन्हें स्वर्ग में स्थान पाने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ा।[5] इससे प्रतीत होता है कि देवता के रूप में इन्हें कठिन संघर्ष के अनन्तर ही मान्यता मिली।

उपर्युक्त देवों के अतिरिक्त अन्य अनेक देवों, गन्धर्वों और अप्सराओं का उल्लेख भी प्रासंगिक रूपों में ताण्ड्यादि ब्राह्मणों में हुआ।

छन्दोविचिति

सामवेदीय ब्राह्मणों में छन्दों का बहुविध गौरव प्रदर्शित है। इनका वर्णन सप्राण रूप में है। कहीं ये सोम का आनयन करते हैं और कहीं अन्य कार्य।[6]

गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों को यज्ञ में क्रमशः एक-एक सवन से सम्बद्ध किया गया है।[7]

ऋषि और देवता के समान मन्त्र-स्वाध्याय से पूर्व छन्दो-ज्ञान भी आवश्यक है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम-गान से पूर्व छन्दोविशेष का चिन्तन विधेय है—

'येनच्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात् तच्छन्द उपधावेत्।'[8]

ताण्ड्य के अनुसार छन्दों के मध्य से एक भी छन्द की अवलुप्ति से यजमान के विनष्ट हो जाने की आशंका रहती है—

छन्दसां वा अन्ववलुप्तिं यजमानो ऽन्ववलुप्यते'[9]

---

1. ता० ब्रा० 6.5.5 तथा 6.7.1 2. सामविधान ब्राह्मण 1.4.17
3. ता० ब्रा० 21.1.1 4. वही 8.4.1 5. वही।
6. ता० ब्रा० 6.9.22 7. वही 6.3.11
8. छा० उप० 1.3.9-10 9. ता० ब्रा० 6.3.12

देवताध्याय ब्राह्मण के द्वितीय खण्ड में छन्दों के वर्णों और देवों का अत्यन्त आकर्षक वर्णन है। तदनुसार गायत्री का शुक्ल, उष्णिक् का शबल, ककुप् का पीला अनुष्टुप् का कृष्ण, बृहती का लाल, पंक्ति का नीला, त्रिष्टुप् का स्वर्णिम और जगती का गौर वर्ण है। दैवत प्रसंग में छन्दों के देवों का उल्लेख हो चुका है और निर्वचन (—भाषा शास्त्रीय विवेचन वाले परिच्छेद में—) के सन्दर्भ में छन्दों की लालित्य और कल्पनापूर्ण निरुक्तियों की भी मीमांसा देखी जा सकती है।

साम-सम्पादन में छन्दों की भूमिका का निरूपण करते हुए कहा गया है—

'स यदा गायत्रं बृहत्यां गायति, बार्हतं जगत्याम्, जागतं त्रिष्टुभि, समतां चापद्यते। तस्मादेतत् सामेत्याह। समा उ ह वा अस्मिंश्छन्दांसि साम्यादिति तत्साम्नः सामत्वम्।'[1]

अभिप्राय यह है कि साम का आधार समानता है जो गायत्रीछन्दस्क ऋचा में उत्पन्न साम बृहतीछन्दस्क ऋचा में गाने, बृहतीछन्दस्क ऋचा में उत्पन्न साम जगतीछन्दस्क ऋचा में गाने तथा जगतीछन्दस्क ऋचा में उत्पन्न साम त्रिष्टुप् छन्दस्क ऋचा में गाने से उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ 'अश्वं न त्वा०'[2] — इस गायत्रीछन्दस्क ऋचा में उत्पन्न वारवन्तीय संज्ञक साम 'अभित्वा शूर नो नुमः'[3] इस बृहतीछन्दस्क ऋचा में गाया जाता है। इसी प्रकार बृहतीछन्दस्क 'पुनानः सोम धारया०'[4] ऋचा में उत्पन्न बार्हत साम जगतीछन्दस्क 'यज्ञायज्ञा'[5] ऋचा में गाया जाता है। इस प्रसंग का तृतीय उदाहरण जगतीछन्दस्क 'प्रक्षस्य वृष्णः०[6] में उत्पन्न जागत साम के 'मूर्धानं दिवः'[7] इत्यादि त्रिष्टुप्छन्दस्क ऋचा में गाने का है।

'छन्द' और 'साम' की पारस्परिक निकटता इतनी अधिक है कि 'छन्दोग' और 'सामग' समानार्थी हो गये हैं। ताण्ड्यगत 'छन्दोग' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए सायणाचार्य का कथन है— 'छन्दोगायत्री त्रिष्टुब्जगतीभिर्गीयन्त इति छन्दोगा.' (ता० ब्रा० 3.9.3)। इसकी एक अन्य व्युत्पत्ति भी है, जो अधिक स्पष्ट है— 'छन्दो वेदविशेषं सामाख्यं गायन्ति इति छन्दोगाः।' इसी कारण ताण्ड्य ब्राह्मण में गीयमान सामों के छन्दोवैशिष्ट्य का उपपादन अत्यन्त रम्य रूप में किया गया है। एक स्थान पर छन्दों के संयोजन की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि तीन

---

1. सामविधान ब्राह्मण 1.1.13
2. सामवेद संहिता 1.17
3. वही 1.233
4. वही 1.511
5. वही 1.35
6. वही 3.609
7. वही 1.67

उष्णिक् और एक गायत्री को मिलाये जाने से तीन बृहती छन्द निष्पन्न हो जाते हैं।[1]

ताण्ड्यकार ने गायत्री को यदि छन्दों की ज्योति और तेज बतलाया है [2] तो उष्णिक् और ककुप् को यज्ञ की नासिका– 'नासिके वा एते यज्ञस्य यदुष्णिक्-ककुभौ ।[3]

अभिप्राय यह है कि इनके द्वारा यज्ञ की गरिमा बढ़ती है। आगे इन्हें प्राण कह कर गौरव-मण्डित किया गया है –

प्राणा वा उष्णिक्ककुभौ ।[4]

त्रिष्टुप् छन्द ओज, शक्ति और पराक्रम का प्रतीक है– 'ओजो वीर्यं त्रिष्टुबो-जस्येव वीर्ये पराक्रम्य प्रयान्ति ।'[5] बृहती छन्द सभी छन्दों का स्वरूप है– बृहत्यः सर्वेषां वा एताश्छन्दसां रूपम् ।'[6] देवों की स्वर्गाप्ति में भी बृहती सहायक सिद्ध हुई थी–'बृहत्या वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् ।'[7] जगती छन्द समस्त छन्दों का परमपोष स्वरूप है– 'जगती वै छन्दसां परमं पोषं पुष्टा ।'[8]

विभिन्न सामों की सृष्टि में भी छन्दों की महती भूमिका है। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार गायत्री छन्द रथन्तर साम की उत्पत्ति का कारण है–'गायत्री वै रथ-न्तरस्य योनिः ।'[9] इसी प्रकार यज्ञायज्ञीय साम का भी अनुष्टुप् छन्द से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ताण्ड्यकार का कथन है कि वाणी अनुष्टुप् स्वरूप है और यज्ञायज्ञीय साम उसका सारभूत तत्त्व– 'वागनुष्टुप् वाचो रसो यज्ञायज्ञीयं वाच्येवाऽस्य रसं दधाति ।'[10]

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मणों में छन्दों के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य संकलित हैं।

छन्दों के सन्दर्भ में एक उल्लेखनीय प्रश्न यह है ऋचा के साम– रूपान्तरण में छन्द परिवर्तित हो जाता है अथवा वही रहता है ? इस विषय में वक्तव्य है कि

---

1. ता० ब्रा० 4.4.3
2. 'ज्योतिर्वै गायत्री छन्दसाम् ज्योतिः' ता० ब्रा० 13.7.2; 'तेजो वै गायत्री छन्दसाम्' –वही 15.10.7
3. वही 8.5.4
4. ता० ब्रा० 8.5.5
5. वही 14.1.6
6. वही 16.11.10
7. वही 16.12.7
8. वही 21. 10.9
9. वही 15. 10.6
10. वही 18. 6. 21

सिद्धान्त रूप से छन्द का परिवर्तन नहीं माना जाता' जैसा कि 'सामवेदार्षेयदीप' के रचयिता भट्टभास्कराध्वरीन्द्र का कथन है-छन्दोदैवतयोर्न भेदः।'

किन्तु व्यवहार में अनेक स्तोभों के योग के अनन्तर ऋचा के गान स्वरूप में अक्षरों की वृद्धि होने से छन्दोगत परिवर्तन भी होना चाहिए। इस विषय में सम्प्रति साधिकार कुछ कह पाना सम्भव नहीं है।

उप निदान सूत्र के अनुसार सामवेद के प्रमुख छन्द गायत्री आदि सात आर्ष छन्द ही हैं। उत्कृति अन्तिम छन्द है, जिसमें 104 अक्षर होते हैं –

'आथातश्छन्दसां विचयं व्याख्यास्यामः। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तिस्त्रिष्टुब्जगती इति सप्तार्षाणि। एकाक्षरपदादीनि चतुःक्षराधिकानि प्रतिच्छन्दसम्। गायत्र्यादीनामुत्कृतिरवसानम् (प्रथमोऽध्यायतः)।'[1]

सामवेदीय छन्दोविचिति के निर्धारण में ताण्ड्य ब्राह्मण के योगदान का उपनिदानसूत्र के अन्त में गार्ग्य ने सर्वप्रथम उल्लेख किया है–

ब्रह्मणात् ताण्डिनश्चैव पिङ्गलाच्च महात्मनः।
निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्॥'

गार्ग्य के ही स्वर में स्वर मिलाकर निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि सामज्ञान की दृष्टि से छन्दोज्ञान का विपुल महत्त्व है–

'छन्दोविदेव विप्रस्तु धर्मतस्तद्गुणान्वितः।
छन्दसामेति सालोक्यममृतत्वं च गच्छति॥'

(—अष्टमोऽध्यायतः)

---

1. उपनिदान सूत्रम् (सामगानां छन्दः)– डा० मंगलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित, सरस्वती भवन, बनारस, 1931

चतुर्थ परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ सम्पत्ति

श्रौतयाग

'यज्ञो वै विष्णुः'[1] प्रभृति श्रुतियों से यह स्पष्ट है कि यज्ञ-तत्त्व वैदिक वाङ्मय का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। यह श्रुति विहित कर्म-स्रक् का सुमेरुभूत है। याग-प्रक्रिया का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण ही ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमुख उद्दिष्ट है।

ऐतरेय ब्राह्मण में समस्त वैदिक याग पाँच प्रकार के माने गये हैं—'स एव यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि पशुः सोमः।'[2] म० म० पं० चिन्नस्वामि शास्त्री के अनुसार वेदों में चार प्रकार के कर्म विहित हैं—1. दर्विहोम, 2. इष्टियाग, 3. पशुयाग और 4. सोमयाग। प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल दुग्ध, दधि, तण्डुलादि द्रव्यों से क्रियमाण होम अग्निहोत्र है, इसी प्रकार के कुछ अन्य होम-विशेष भी 'दर्विहोम' कहलाते हैं, उनके लिए 'इष्टि' या 'याग' नाम का व्यवहार नहीं होता। दर्शपूर्णमासादि याग अल्पकाल-साध्य होने के कारण इष्टियाँ हैं। पशुयाग वर्षा ऋतु में या अन्य श्रौत ग्रन्थोक्त कालों में पशु के हृद्यादि विभिन्न अंगों से सम्पन्न होते है। सोम-लता का क्रय कर उसके अभिषवनपूर्वक विभिन्न देवों के निमित्त रस-सम्प्रदान सोमयाग है।[3] इस प्रकार श्रौतयागों की सीमा में मुख्यतया हविर्यज्ञ तथा सोमयाग ही मान्य हैं।

यज्ञों की प्रकृति-विकृतिरूपता :

उपर्युक्त यागों में से कुछ प्रकृति होते हैं और कुछ उनकी विकृतियाँ। प्रकृति-यागों का निरूपण उनके अनुष्ठेय सभी अंगों के साथ होता है, किन्तु विकृतियागों की केवल विशेष बातों का उल्लेख कर दिया जाता है, अन्य सामान्य अनुष्ठेयाङ्गों के लिए वे अपने प्रकृतियागों पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए दर्शपूर्णमासेष्टि सभी इष्टियों की प्रकृति है—अन्य इष्टियों में इसके अनेक अनुष्ठान अनुवर्तित होते हैं। अग्नीषोमीय पशुयाग सभी पशुयागों की प्रकृति है; अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम

1. तां० ब्रा० 13.5.5 2. ऐत० ब्रा०

3. तां० ब्रा० की भूमिका (द्वितीय भाग), पृष्ठ 8

सभी सोमयागों की प्रकृति है। यहाँ एक तथ्य यह उल्लेख्य है कि कोई इष्टि पशुयाग अथवा सोमयाग में से किसी की भी अंग तो बन सकती है, पशुयाग भी सोमयाग का अंग तो बन सकता है किन्तु किसी इष्टि अथवा दूसरे पशुयाग का अंग नहीं बन सकता है। इसी प्रकार सोमयाग किसी दूसरे सोमयाग का अंग तो बन सकता है, किन्तु किसी इष्टि अथवा पशुयाग का नहीं।

सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार यज्ञ संस्था का उद्भव :

यज्ञ संस्था के उद्भव और विकास की दृष्टि से सामवेद के ब्राह्मणों में अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत प्राप्त होते हैं। यज्ञ-कर्म के सुसम्पादन की दृष्टि से गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि की स्थापना का प्राथम्य सर्वविदित है। षड्विंश ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋग्वेद से गार्हपत्य, यजुर्वेद से दक्षिणाग्नि और सामवेद से आहवनीयाग्नि की उत्पत्ति हुई—'ऋग्वेदाद्गार्हपत्यो यजुर्वेदाद्दक्षिणाग्निः सामवेदादाहवनीयः।'[1] इन्हीं अग्नियों से आगे यज्ञपुरुष की उत्पत्ति हुई, जो सहस्र शिरों वाला, सहस्र नेत्रों वाला और सहस्र चरणों वाला था।[2] सामविधान ब्राह्मणगत एक अन्य आख्यायिका के अनुसार देवगण प्रजापति के पास गये। उनसे उन्होंने प्रश्न किया कि हमें स्वर्ग-प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस पर प्रजापति ने उन्हें यज्ञानुष्ठान का निर्देश देकर कहा कि इससे तुम स्वर्ग-प्राप्ति कर सकते हो—'ते देवाः प्रजापतिमुपाधावन्। तेऽब्रुवन्। 'कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम' इति। तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून प्रायच्छत्—'एतैः लोकमेष्यथ।'

सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित श्रौतयाग :

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रधानतः सोमयागों का ही निरूपण हुआ है। ताण्ड्य में केवल अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम से लेकर सहस्रसंवत्सर साध्य सोमयागों का ही विस्तृत विधान प्राप्त होता है। जैमिनीय ब्राह्मण और षड्विंश में हविर्यज्ञान्तर्गत अग्निहोत्र का विवेचन भी प्राप्त होता है। कुछ इष्टियों का मात्र नाम्ना उल्लेख सामविधान में भी है।[1]

सोमयागों का वैशिष्ट्य :

सोमयागों का सर्वोपरि महत्त्व निरूपति करते हुए ताण्ड्य में कहा गया है कि देवों ने हविर्यज्ञों—आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादि से भूलोक पर विजय प्राप्त की, पशुयागों से अन्तरिक्ष को जीता, किन्तु स्वर्ग पर

1. षड्० ब्रा० 5.1.2
2. वही, इस यज्ञ पुरुष से पुरुषसूक्त में उल्लिखित विराट्पुरुष तुलनीय है।
3. सामवि० ब्रा० 1.3.3; 4-6; 8 इत्यादि

विजय उन्हें तभी प्राप्त हुई, जब उन्होंने सोमयागों का अनुष्ठान किया--'हविर्यज्ञैर्वै देवा इमं लोकमभ्यजयन्नन्तरिक्षं पशूमद्भिः सोमैरमुम् ।'[1]

सामवेदीय ब्राह्मणों में अग्निहोत्र-निरूपण :

षड्विंश में शीघ्र सम्पन्न हो जाने के कारण अग्निहोत्र की विशेष प्रशंसा की गई है--'सद्यो ह वा एष यज्ञः संस्थामुपैति ।'[2] इसे ज्येतिष्टोम के सदृश बतलाया गया है। एतदर्थ ज्योतिष्टोम के अनेक कृत्यों की अग्निहोत्र के कृत्यों मे एकरूपता प्रदर्शित की गई है; कहा गया है कि अग्निहोत्र के सम्पादन से सभी यज्ञ स्वयमेव अनुष्ठित हो जाते हैं, सबसे प्राप्य फल प्राप्त हो जाता है--'अग्निहोत्रे सर्वैर्ह वा एतस्य यज्ञक्रतुभिरिष्टं भवति ।'[3] इस सन्दर्भ में एक आख्यायिका के माध्यम से कहा गया है कि प्रजापति ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष की देखकर सहस्र संवत्सरात्मक यज्ञ को विभिन्न यागों के क्रम से, जिनमें गवामयन, द्वादशाह, अतिरात्र, षोडशी, उक्थ्य और अग्निष्टोमादि हैं, अग्निहोत्र में प्रतिष्ठित कर दिया। इसलिए अग्निहोत्र के अनुष्ठान से अन्य यज्ञ-साध्य इष्ट भी सिद्ध हो जाते हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में भी अग्निहोत्र की भूयसी स्तुति प्राप्त होती है। उसमें इसका वर्णन प्रथम प्रपाठक के पूरे पैंसठ खण्डों में बड़े विस्तार से किया गया है। एक अनुच्छेद में वहाँ इसे सहस्रसंवत्सरसाध्य सोमयाग से भी उत्कृष्ट बतलाया गया है।[4] सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् में अग्निहोत्र की प्ररोचना करते हुए कहा गया है कि जैसे क्षुधातुर बालक सर्वथा माता के समीप जाते हैं, वैसे ही प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं—

'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत ।'[5]

इन अंशों से सामवेदीय अनुष्ठाताओं की दृष्टि में अग्निहोत्र की कितनी अधिक महिमा थी, इस पर प्रकाश पड़ता है। अन्य स्थलों पर भी इसके न करने से प्रत्यवाय होने की बात कही गयी है। श्रौत सूत्रों के अनुसार अग्निहोत्र अग्नि को उद्दिष्ट करके सायं-प्रातः क्रियमाण एक विशिष्ट कर्म है जिसमें द्रव्य है दुग्ध, यवागू, तण्डुल और घृतादि से वे आहुतियाँ दे सकते हैं जिनका कोई काम्य प्रयोजन है। सायंकालीन अग्निहोत्र का मुख्य देव अग्नि है और प्रात. साध्य का सूर्य।

---

1. तां० ब्रा० 17.13.18
2. षड्० ब्रा० 5 1.5
3. वही 5.1.6-9 तथा 5.2.।
4. जैमि० ब्रा० 1,3—इस प्रसंग में प्रो० बोडेवित्स का जैमिनीय ब्राह्मणगत अग्निहोत्र-निरूपण पर लिखित ग्रन्थ उल्लेखनीय है।
5. छा० उप० 5.24

अग्निहोत्र से पूर्व अग्न्याधान का विधान अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में है, किन्तु षड्विंश में अरणि-मन्थन जन्य अग्नि को प्राथमिकता दी गई है। यदि वह न प्राप्त हो सके, तो लौकिक अग्नि को ही लाकर आहवनीयाधार में (स्थापित करके) व्याहृतियों से होम करना चाहिए। इस विषय में षड्विंश ब्राह्मण में विकल्प के रूप में हस्त, अज-कर्ण, कुशस्तम्ब तथा जलराशि का भी उल्लेख है।[1] अग्निहोत्र के अनुष्ठान में स्वयं आहुतियाँ डालनी चाहिए, क्योंकि अन्यों के द्वारा प्रदत्त 100 आहुतियों से शिष्य प्रदत्त एक आहुति श्रेष्ठ है, शिष्य प्रदत्त 100 आहुतियों से पुत्रकृत एक आहुति श्रेष्ठ है और पुत्रकृत 100 आहुतियों से आत्मप्रदत्त एक आहुति श्रेष्ठ है[2]—शोभन तो यह है कि यजमान आहुत्यर्थं दुग्ध-दोहन भी स्वयं करे–'स्वयं होता स्वयं दोही स्वयमेवोपतिष्ठेताग्निहोत्रम्।'[3]

हुतावशिष्ट हवि ही इसकी दक्षिणा होती है।[4] श्रौतसूत्रों में अग्निहोत्रविषयक अन्य बहुत से नियम प्राप्त होते हैं, जिनके यहाँ उल्लेख की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

सामवेदीय ब्राह्मणों में दर्शपूर्णमासादि अन्य इष्टियों का विधिवत् निरूपणप्रायः नहीं किया गया है।

ताण्ड्यादि में सोमयाग–निरूपण :

जैसा कि पहले कहा गया है, ताण्ड्यादि ब्राह्मण मुख्यतः सोमयागों के ही प्रस्तावक हैं। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि सोमायागों के भी हौत्र और आध्वर्यव कर्म का विशेष निरूपण इनमें नहीं है; ये केवल औद्गात्र कर्म का ही विस्तृत वर्णन करते हैं, जो उपयुक्त ही है। वस्तुतः सोमयाग के सम्पादन में तीनों वेदों और उनके ऋत्विकों की आवश्यकता होती है। इस विषय में 'आपस्तम्ब परिभाषा' का यह कथन महत्त्वपूर्ण है— 'यज्ञं व्याख्यास्यामः। स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदैः। ऋग्वेदयजुर्वेदाभ्यां दर्शपूर्णमासौ। यजुर्वेदेनाऽग्निहोत्रम्। सर्वैरग्निष्टोमः।[5] इनका विवरण निम्नवत् है—

1. षड्० ब्रा० 5.1.12
2. अन्यैः शतहुतान् होमानेकः शिष्यहुतो वरम्।
शिष्यैः शतहुतान् होमानेकः पुत्रहुतो वरम्।
पुत्रैः शतहुतान् होमानेको ह्यात्महुतो वरम्॥
3. षड्० ब्रा० 5.11.14
4. वही, 5.1.15
5. आपस्तम्ब परिभाषा 1.1-7

विभिन्न ऋत्विक् और उनके सामान्य कार्य :

सोमयागों में यजुर्वेद से सम्बद्ध और यजुषों से साध्य अध्वर्युगणकर्तृक कार्य ये हैं— दीक्षा, सोमक्रय, वेदि–निर्माण, दक्षीणीया-- प्रायणीयेष्टि, प्रवर्ग्य एवं उपसद्, अग्नीषोमीयादि पशुयाग, सोमाभिषव, ग्रहचमसादिग्रहण, तदङ्गमन्त्रपाठ और विभिन्न होम। अध्वर्युगण में सम्मिलित ऋत्विकों के नाम ये हैं— 1. अध्वर्यु, 2. प्रतिप्रस्थाता, 3. नेष्टा और 4. उन्नेता। ऋग्वेद के द्वारा विधीयमान कृत्यों में याज्या, पुरोनुवाक्या, आज्य, प्रउग, निष्केवल्य तथा मरुत्वतीयादि शस्त्रों के अतिरिक्त तदङ्गभूत प्रतिगर आदि भी समाविष्ट हैं। ऋग्वेदीय होतृगण में ये ऋत्विक् हैं— 1. होता 2. मैत्रावरुण (नामान्तर–प्रशास्ता), 3. अच्छावाक तथा 4. ग्रावस्तुत। हौत्रकर्म का ऋग्वेदीय ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में विस्तृत विधान प्राप्त होता है। सामवेद से सम्बद्ध क्रिया-कलाप के अनुष्ठान का दायित्व उद्गातृगण पर होता है, जिसमें चार ऋत्विक् सम्मिलित है— 1- उद्गाता, 1. प्रस्तोता, 3. प्रतिहर्ता और 4. सुब्रह्मण्य। इनके कार्यों की विस्तृत प्रस्तुति आगे की जायेगी। यहाँ केवल इतना उल्लेखनीय है कि उद्गातृगण का कार्य मुख्यतः श्रौतसूत्रोक्त क्रम से सदस् में बैठकर साम–गान करना है। उपर्युक्त गणत्रयी के कार्य-कलाप की न्यूनता अतिरेकता तथा अन्य सम्भावित दोषों का निरीक्षण करने वाला एक निरीक्षक–मण्डल भी होता है जो ब्रह्मगण कहलाता है। ब्रह्मा के लिए मौन रहने का विशेषतया षड्० ब्रा० में उल्लेख है। जिस समय होता, अध्वर्यु और उद्गाता अपने-अपने कार्य में संलग्न हों, उस समय ब्रह्मा के लिए वाग्यमन ही श्रेयस्कर है— 'यावदृचा यजुषा साम्ना कुर्युस्तावद् ब्रह्मा वाचंयमो बुभूषेत्'[1] इसमें ये ऋत्विक् सम्मिलित होते हैं— 1. ब्रह्मा, 2. ब्राह्मणाच्छंसी, 3. आग्नीध्र, (नामान्तर—अग्नीत्) तथा 4. पोता। इनके अतिरिक्त कुछ चमसाध्वर्यु भी होते हैं जो ऋत्विकों के सहायक के रूप में कार्य करते हैं। इन्हीं 16 ऋत्विजों की सहायता से सोमयाग का अनुष्ठान सम्पन्न हो पाता है।[2] याग में इनका क्रम भी उपर्युक्त प्रकार से ही होता है। षड्विंश (1.3.16) उन्हीं को ऋत्विक् के रूप में नियुक्त

1. षड्० ब्रा०, 1.5.6
2. वस्तुतः विभिन्न देवों के निमित्त विविध हवियों का समर्पण ही याग है, जिसकी प्रक्रिया इस प्रकार है— अध्वर्यु जुहू वादिपात्र में हविष लेकर होता की ओर देखकर उसे आज्ञा देता है— 'अग्नि के लिए अनुवाक्या का पाठ करो।' अनुवाक्या ऋङ्मयी होती है जो अध्वर्यु के प्रैषवचन के अनन्तर पढ़ी जाने के कारण 'अनुवाक्या' कहलाती है। इस ऋक्-पाठ के पश्चात् आग्नीध्र नामक ऋत्विक् से कहे– 'आश्रावय' अर्थात् मैं यह हविष् अग्नि को देना चाहता हूँ,

करने का निर्देश है, जो अर्थज्ञानपूर्वक वेद के प्रवक्ता हों– 'यज्ञो वा अथ जज्ञ इत्याहुरेष वाव जात एषोऽवलुप्तजरायुरेष आर्त्विजीनो य एतं वेदमनुब्रूते ।' तथा—'तस्मादेवंविदं सुब्रह्मण्यं कुर्वन्ति नानेवंविदम्' (षड्० ब्रा० 1.2.13) । इसी योग्यता को ध्यान में रखकर ब्रह्मा के पद पर वसिष्ठगोत्रोत्पन्न व्यक्ति को नियुक्त करने का आग्रह षड्विंश में हैं—'अपि हैवंविदं वा वासिष्ठं वा ब्रह्माणं कुर्वीत' (1.5.3.) ।

षड्विंश में ही यह भी कहा गया है कि प्रत्येक ऋत्विक् को अपने कर्म का सम्पादन बड़ी कुशलता से करना चाहिए । होता से यदि कोई कृत्य छूट जाता है, तो उससे यजमान को वाणी की हानि होती है, अध्वर्यु से कृत्य छूटने पर चक्षु की, ब्रह्मा से मन की, उद्गाता से करणीय कृत्य छूट जाने पर श्रोत्रेन्द्रिय की तथा चमसाध्वर्युओं से अज्ञानवश कृत्य छूट जाने पर लोमादि की हानि यजमान को होती है (षड्० ब्रा० 3.1) । यदि सभी ऋत्विक् अपने-अपने अनुष्ठेय कृत्यों को प्रमाद-रहित होकर सुसम्पन्न करते हैं, तो यजमान को उपर्युक्त अंगों का लाभ होता है । इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि यजमान की पशु-सम्पत्ति अध्वर्यु पर, कीर्त्ति होता पर, स्वयं वह और सन्तानें उद्गाता पर और योगक्षेम ब्रह्मा पर अवलम्बित है-–'पशवो हाध्वर्युमनुकीर्तिर्होतारं योगक्षेमो ब्रह्माणमात्मा च प्रजा चोद्गातारम्' (षड्० ब्रा० 3.1.10) ।

अतएव सभी को अपने कर्तव्य का निर्वाह बड़ी सावधानी से करना चाहिए ।

सोमयाग में सोमलता तथा उसके विकल्प :

सोमयाग करने का इच्छुक अधिकारी व्यक्ति (सपत्नीक आहिताग्नि त्रैवर्णिक) के द्वारा सोमलता को खरीदकर उसका अभिषवन किया जाता है । तत्पश्चात् ग्रह-चमसादि तदर्थं विहित पात्रों में उस रस को भरकर, अग्न्याधानपूर्वक विभिन्न देवताओं के निमित्त (उस रस का) समर्पण ही सोमयाग है । अग्न्याधान के अन्तर्गत गार्हपत्यादि तीनों अग्नियों का आधान किया जाता है ।

तुम यह बात अग्नि को सुना दो ।' वह प्रत्युत्तर में कहे-'अस्तु श्रौषट्' अच्छा । सुनाता हूँ ।' तत्पश्चात् अध्वर्यु होता से कहे—'हे होता ! प्रकृति देवता की याज्या का पाठ करो । इस पर होता सम्बद्ध ऋचा का पाठकर उसके अन्त में 'वषट्— वषट्' रूप में वषट्कार को भी पढ़े । इसके अनन्तर अध्वर्यु अपने हाथ में ली हुई हविष् का प्रक्षेप अग्नि में कर दे । इसी समय यजमान 'इदमग्नये इदं न मम कहे । यह ही उत्सर्ग—प्रकार इष्टियों में है । सोमयागों में होता के अनन्तर मैत्रावरुण पुरोनुवाक्या का पाठ करता है ।

प्रतीत होता है कि आधुनिक युग में ही नहीं, ताण्ड्य ब्राह्मण के रचनाकाल में भी सोमलता दुर्लभ हो गयी थी। इसीलिए ताण्ड्यब्राह्मणकार ने सोम के स्थान पर 'पूतीक' नाम्नी लता के प्रयोग का विधान किया हैं—'यदि सोमं न विन्देयुःपूतीकानभिषुणुयुः।'[1] और यदि पूतीक भी न प्राप्त हो सके तो उसके स्थान पर अर्जुनतृणों का अभिषवन करना चाहिए—'यदि न पूतीकानर्ज्जुनानि।'[2]

इस सन्दर्भ में एक आख्यायिका दी गई है. जिसके अनुसार पूतीक लता सोमांशु से ही उत्पन्न हुई है। देवों को पूतीक से वही तृप्ति और तुष्टि प्राप्त हुई थी, जैसी सोम-सेवन से हो सकती है।[3] पूतीक के अभाव में अर्जुन तृणों के प्रयोग-विधान का औचित्य भी एक आख्यायिका से प्रदर्शित है, जिसका आशय भी उपर्युक्तवत् ही है।[4]

सोमयागों का वर्गीकरण :

यज्ञानुष्ठान में लगने वाले समय मुख्यतः सुत्या-दिनों के आधार पर अर्थात् सोमलता के निष्कासित रस का आहवनीयाग्नि में आहुति-प्रदान जितने दिनों में सम्पन्न हो जाता है, उतने ही दिनों की संख्यानुसार सोमयाग तीन प्रकार के हैं—एकाह, अहीन और सत्र। जिसमें एक ही दिन में सोमरस का सम्प्रदान सम्पन्न हो जाता है, वह 'एकाह' है। 'अहीन' वह है जिसमें एकाह के पश्चात् 12 दिनों से पूर्व तक सोमरस से याग होता है। 'अहीन' के भी दिनों की संख्यानुसार 'द्वयहः', 'त्र्यहः', 'षड्ह', 'द्वादशाह' प्रभृति अवान्तर भेद होते हैं। अहीनयाग में तीनों वर्णों का अधिकार रहता हैं, दक्षिणा होती है, अन्त में अतिरात्र का अनुष्ठान होता है, तथा एक, दो, तीन, चार या अनेक यजमानों के द्वारा निष्पन्न होता है—'त्रैवर्णिकाधिकारिकः सदक्षिणोऽतिरात्रसंस्थाकः एकद्विचतुराद्यनेकयजमानकर्तृकः सोमयागोऽहीनः।' 'सत्र' वह याग है जिसमें 13 दिनों या इससे अधिक दिनों में प्रतिदिन सोमरस का समर्पण होता हैं। इसमें सभी यजमान होते हैं, इसीलिए सभी को समान रूप से सत्रजन्य फल प्राप्त होता है और दक्षिणा नहीं दी जाती। सत्र भी दो प्रकार का है—रात्रि सत्र और अयनसत्र। 100 दिनों से न्यून अवधि में जब

1. तां० ब्रा०, 9.5.3 2. वही
3. वही, 9.5.4
4. शतपथ ब्राह्मण (4.5.20) में सोम के स्थान पर पूतीक और अर्जुन तृणों के अतिरिक्त कुछ और भी विकल्प दिये हैं—यथा—फाल्गुन पौधा, दूर्वा, हरितकुश। स्व० म० म० काणे के अनुसार सोमयाग का अनुष्ठान करते समय दक्षिण भारत में 'रांशेर' (मराठी नाम) नामक पौधे का उपयोग किया जाता है (धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, हि० अनु०, पृष्ठ 555)।

सोमयाग सम्पन्न होता है, तो वह 'रात्रिसत्र' है; उसके अनन्तर सम्पद्यमान सोमयाग 'अयनसत्र' कहलाता है।

'एकाह' सोमयाग में यद्यपि अग्नि में सोमरस का प्रदान एक ही दिन में हो जाता है, तथापि उसमे पूर्व चार दिनों में कुछ अंगयागों का अनुष्ठान होता है। इस प्रकार अंगयागों के साथ एकाह सोमयाग पाँच दिनों में निष्पन्न होता है, किन्तु शीघ्रतावश अंगयागों के साथ अनेक दिन-साध्य सोमयाग एक ही दिन में भी किया जा सकता है। उस समय वह 'साद्यस्क्र' कहलाता है।

साद्यस्क्रों की प्राय: दो कोटियाँ हैं। कुछ में दीक्षा से लेकर अवभृथान्त सम्पूर्ण कर्म एक ही दिन में हो जाता है; कुछ में पहले दिन दीक्षा और अगले दिन सोमक्रय से लेकर अवभृयान्त कर्म सम्पन्न होते हैं।[1]

ताण्ड्यमहाब्राह्मण और सामवेदीय श्रौतसूत्रों में अनेक प्रकार के 'एकाह' उल्लिखित हैं, जिनमें से एक है ज्योतिष्टोम। 'ज्योतिष्टोम' के नामकरण का हेतु यह है कि 'ज्योति' त्रिवृत् पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश स्तोमों का पारिभाषिक नाम है; 'ज्योतिष्टोम' इन्हीं त्रिवृत् प्रभृति स्तोमरूप ज्योतियों से निष्पन्न होता है।[2]

समाप्ति भेद से वस्तुत: ज्योतिष्टोम की तीन ही संस्थाएँ हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र; जैसा कि लाट्यायन का कथन है—'स्वतन्त्रस्य ज्योतिष्टोमस्य संस्था-विकल्पा:। आग्निष्टोम्यमुक्थ्यतातिरात्रमिति'।[3] 'ज्योतिष्टोम' के सात भेद हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम। जिन सामों-स्तोत्रों से इनका समापन होता है, प्राय: उन्हीं के आधार पर इनका नामकरण हुआ है; इस प्रकार अग्निष्टोमसंस्थ सोमयाग अग्निष्टोमसाम से पूर्ण होते हैं; उक्थ्यसंस्थ सोमयाग उक्थस्तोत्रों से समाप्त हैं, जो अग्निष्टोम के अनन्तर प्रयोज्य होते हैं; षोडशियाग षोडशि साम से और अतिरात्रसंस्थ याग सन्धि सहित रात्रि–

---

1. साद्यस्क्रों के विषय में सायणाचार्य का यह कथन उल्लेखनीय है—
'साद्यस्क्रो नाम पञ्चैकाहा:। तेषु प्रथमद्वितीययोर्दीक्षाप्रभृत्यवभृथान्तं सर्वमेकस्मिन्नेवाहन्नुष्ठेयम्। तृतीयस्य तु एकस्मिन् दिवसे दीक्षा, परस्मिन् दिवसे सोमक्रयाद्यवभृथान्तम्। चतुर्थपञ्चमयोरप्येकम्। यद्वा एका दीक्षा सोमक्रयप्रभृत्युपवसथान्नं द्वितीयेऽहनि सुत्येत्येवं सूत्रकारमतम्। पञ्चस्वपि साद्यस्क्रान्वयात् सद्य एव एकस्मिन्नेवाऽहनि दीक्षाद्यवभृथान्तं कर्त्तव्यमिति मतान्तरम्—(ताण्ड्य ब्रा० 16.12 की भाष्य-भूमिका)।
2. त्रिवृत्पञ्चदश सप्तदश एकविंश एतानि ज्योतींषि यत् एतस्य स्तोमा.।
—तैत्तिरीय ब्राह्मण
3. ला० श्रौ० सू० 8.1.17

स्तोत्रों से समाप्त होते हैं। अग्निष्टोमचमस–भक्षण के अनन्तर जब षोडशिस्तोत्र का विधान पूर्ण करके ज्योतिष्टोम सम्पन्न किया जाता है, वह अत्यग्निष्टोम कहलाता है। इसमें क्षत्रिय अधिकृत हैं, जैसा कि आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराज ने तैत्तिरीय-श्रुति उद्धृत करते हुए उपोद्घात में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है— 'तदा क्षत्राधिकारः। नित्यं चास्य बृहत्पृष्ठं तत् क्षत्रियो यतः श्रूयते हि षोडशिनं प्रकृत्य तैत्तिरीयकम्— 'अत्यग्निष्टोमो राजन्यस्य गृह्णीयाद् इति' (पृष्ठ 59)। कुछ के नामकरण दूसरे आधारों पर भी हुए है। उदाहरण के लिए 'अप्तोर्याम' का नामकरण ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार इस दृष्टि से हुआ है कि इसके द्वारा अभीष्ट की प्राप्ति होती है।[1]

अग्निष्टोम की विविधरूपता :

समाप्ति- भेद से ज्योतिष्टोम के सात प्रकारों पर सभी श्रौतसूत्रकार सहमत नहीं है। आपस्तम्ब[2] तथा सत्याषाढ़[3] के अनुसार उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम केवल अग्निष्टोम के परिष्कृत रूपमात्र हैं। शतपथ[4] तथा तैत्तिरीय[5] ब्राह्मणों का मत हैं कि अग्निष्टोम उक्थ्य, षोडशी एवं अतिरात्र ज्योतिष्टोम के ही विविध रूप हैं।

सोमयाग-हेतु यज्ञ-स्थान (देव-यजन) की रूपरेखा[6]

सोम-यज्ञ के सम्पादन-हेतु विस्तीर्ण स्थान की आवश्यकता होती है, इसलिए यह गृहाङ्गण में नहीं किया जा सकता। यागार्थ गृह से बाहर कहीं किसी विस्तृत स्थान का सन्धान किया जाता है। षड्विंश (3.3.11-25) में देवयजन के लिए उपयुक्त भूमि के अनेक लक्षणों और विशेषताओं का उल्लेख किया गया है; यथा वह उन्नत न हो ऊसर न हो, तथा औषधियों से युक्त हो, वह स्थान सर्वाधिक उपयुक्त है। किन्तु यदि इस प्रकार का स्थान न प्राप्त हो सके, तो जिस स्थान पर यमजान की श्रद्धा हो, वही देवयजन के लिए उपयुक्त है— वहीं यजन करने से उसे समृद्धि प्राप्त होती है—'अप्युहैक एवमाहुर्यस्मिन्नेव कस्मिंश्चिद् देशे श्रद्दधानो यजनं ऋध्नोत्येवेति' (3.3.25)।

1. तां० ब्रा०, 20.3.4-5 2. आप० श्रौ० सू० 14.1.1
3. सत्या० श्रौ० 9.7 4. शत० ब्रा० 4.6.3.3
5. तै० ब्रा० 1.3.2
6. देवयजन की यह रूपरेखा सामान्य रूप से है; ताण्ड्यादि में क्रतुविशेष के सन्दर्भ में जो विशिष्ट निर्देश है, उन्हें क्रतु के साथ ही प्रदर्शित किया जायेगा।

बायें पृष्ठ पर अङ्कित रेखाचित्रसे ज्ञात होता है कि वहाँ इष्टियाग की तरह एक ओर पशुयाग की उत्तरवेदि की भाँति दूसरी वेदि बनाई जाती है। उन दोनों वेदियों के मध्य में स्थित भूमि पर दो मण्डप बनाये जाते हैं। इस प्रकार चार स्थान बनाये जाते हैं। यों सोमयाग में पूर्व पश्चिम तक क्रमशः उत्तरवेदि, हविर्द्धानमण्डप, सदोमण्डप और ऐष्टिकवेदि होती है। एक बड़ी वेदि पर ही उत्तर वेदि, हविर्द्धानमण्डप और सदोमण्डप बनाये जाते हैं। यह बड़ी वेदि महावेदी कहलाती है। उत्तर वेदि से पूर्व की ओर महावेदि से पूर्व सीमांत रेखा का जो मध्य भाग है वहाँ यूप--निखनन के लिए गर्त बनाया जाता है, जिसे 'यूप' या 'यूपावट' कहते हैं। उत्तरवेदि से जो मध्यस्थान है, वह 'नाभि' कहलाता है। वहाँ ऐष्टिकवेदि से आहवनीयाग्नि लाकर स्थापित की जाती है। ऐष्टिकवेदि के निमित्त भी मण्डप बनाया जाता है। इस मण्डप का नाम 'प्राचीनवंशशाला' या 'प्राग्वंशशाला' है। उस शाला की चारों दिशाओं में सदोमण्डप और हविर्द्धानमण्डप में से प्रत्येक के पूर्व और पश्चिम ओर एक-एक द्वार बनाया जाता है। दोनों वेदियों के मध्य में सर्वत्र कुछ पर्दों का व्यवधान रहता है। सदोमण्डप और हविर्द्धानमण्डप में जो अन्तराल है, उसकी सीध में कुछ दूर पर बायीं ओर 'आग्नीध्रीयागार' और दाहिनी ओर 'मार्जालीयधिष्ण्य' बनाये जाते हैं। प्राग्वंशशाला के पश्चिमी किनारे मध्य बिन्दु से लेकर महावेदि के पूर्वी छोर के मध्यबिन्दु (यूपावट) तक एक रेखा बनाई जाती है। यह 'मध्य रेखा' कहलाती हैं। महावेदि के ही पूर्वोत्तर कोण के बाहर 'चात्वाल'[1], उससे पश्चिम ओर कुछ दूरी पर 'शमित्रशाला' और 'उत्कर'[2] बनाये जाते हैं। अग्निष्टोम–अनुष्ठान के समय उत्तरवेदि के नाभिस्थान पर प्रारम्भ से चौथे दिन आहवनीयाग्नि रखी जाती है। इसके पश्चात् प्राग्वंशशालास्थ आहवनीयाग्नि 'गार्हपत्याग्नि' कहलाने लगती है। हविर्द्धान-मण्डप में सोमलता से भरे हुए दो शकट रखे जाते हैं। दक्षिण हविर्द्धान अर्थात् मध्यरेखा से दक्षिणपार्श्व में स्थापित सोमपूर्ण शकट के नीचे वर्गाकार भूमि की रचना कर उसके चारों कोनों पर चार-चार गड्ढे बनाये जाते हैं, इन्हें 'उपरव' कहते हैं। चारों ओर उपरवों के ऊपर दो काष्ठ फलक रखे जाते हैं। इनमें से प्रत्येक को 'अधिषवणफलक' कहा जाता है। दक्षिणहविर्द्धान के सामने 'खर' बनाया जाता है। वहाँ 'ग्रह' और 'चमस' रखे जाते हैं। इसी हविर्द्धान-मंडप में बायीं ओर उत्तर हविर्द्धान शकट तथा दो-तीन कलश (–पूतभृत, आधवनीय तथा

1-2 'चात्वाल' एक प्रकार का गड्ढा है, और 'उत्कर' वह स्थल है जहाँ वेदि की धूलि बटोरकर रखी जाती है–'चात्वालो नाम पश्वादौ वेद्यर्थे क्रियते वटः। देशः स उत्करो ज्ञेयः कीर्यन्ते यत्र पांशवः॥'

एकधन—) रखे जाते हैं। द्रोणकलश उपरवों के पश्चिम में स्थापित किये जाते हैं। सदोमण्डप में शस्त्रपाठ करने वाले और स्तोत्र-गायक बैठते हैं। उसमें पूर्वदिशा में, एक ही पंक्ति में बायें से दाहिने क्रम से अच्छावाक, नेष्टा, पोता, ब्राह्मणाच्छंसी, होता और प्रशास्ता का एक-एक धिष्ण्य रहता है। 'धिष्ण्य' बालू से बनाया गया थोड़े स्थान वाला अग्नि-स्थापना का स्थान है। प्रशास्तृधिष्ण्य के पश्चात् भूमि पर उदुम्बर वृक्ष की एक शाखा गाड़ी जाती है। षड्विंश में औदुम्बरी का जो निरूपण किया गया है, तदनुसार वह ग्रन्थिरहित, अनेकशाखा रहित और छिद्र रहित मूल-भाग वाली होनी चाहिए। उसका आकार यजमान के अनुरूप होना चाहिए— 'अशुषिरमूलामग्रन्थिं पृथुबुध्नामेकजाम्। यजमानमात्र्यौदुम्बरी भवति'— 5.3.1-2। निदानसूत्र (1.11.19) के अनुसार औदुम्बरी पर क्षौम, शाण अथवा कार्पास में से कोई भी वस्त्र लपेटा जा सकता है। इसी शाखा के समीप बैठकर सामवेदीय ऋत्विक् गान करते हैं। प्राचीन वंशशाला में मध्यम रेखा के दक्षिण पार्श्व में, पूर्व दिशा में पादचतुष्टययुक्त मूंज के बने दो आसन रखे जाते हैं। उनमें से एक को 'सम्राडासन्दी' और दूसरे को 'राजासन्दी' कहा जाता है। सोम की मान्यता राजा के रूप में है और 'राजासन्दी' उसी का आसन है। इसके सामने 'सम्राडासन्दी' आसन रहता है, जिस पर 'सम्राट् महावीर' अर्थात् 'धर्मधारणपात्र' रखा जाता है। दक्षिणपार्श्व में, पूर्व दिशा में 'उच्छिष्ट खर' और पश्चिम दिशा में 'धर्मार्थ खर'— ऐसे दो खर[1] रखे जाते हैं। दक्षिण द्वार पर 'अजाशङ्कु' और 'वत शङ्कु' रहते हैं। शामित्रशाला में पशु का आलभन होता है। वहीं पशु के अंगों को पकाने के लिए जलती हुई लकड़ी (उल्मुक) भी रहती है। आग्नीध्रीयागार और मार्जालीय कुण्डों में एक-एक धिष्ण्य रहता है।

यूप की विशेषताएँ :

सोमयागों में प्रयुज्यमान यूप का षड्० ब्रा० (5.4) में विशेष वर्णन प्राप्त होता है। उसके अनुसार क्षीरयुक्त वृक्ष का यूप होना चाहिए; उसे नीचे से स्थूल, मध्य में अनुरूप और ऊपर सूक्ष्म होना चाहिए। उसे ग्रन्थियुक्त, व्रणयुक्त, टेढ़ा-मेढ़ा, दग्ध, बिल्कुल शुष्क, घुना और कुटिल नहीं होना चाहिए। पुष्टि-कामना से पलाश का, ब्रह्मवर्चस् की कामना से बिल्व का, अन्नाद्य की कामना से उदुम्बर का और बल-कामना से खदिर का यूप बनाया जा सकता है।

---

1. यज्ञीय पात्रों को रखने के लिए हस्त परिमाण रूप में बनाया गया मृत्तिकाचय —'उत्तरवेद्या दक्षिणतश्चात्वालपुरीषेण हस्तमात्रं चतुरङ्गुलोन्नतं चतुरस्रमायतनं करोति तत् खर इत्युच्यते'—श्रौतपदार्थनिर्वचनम्, पृष्ठ 154, वाराणसी।

पञ्चविंश और षड्विंश में निरूपित श्रौतयागों का विहंगमावलोकन :

षड्विंशयुक्त सम्पूर्ण ताण्ड्य महाब्रह्मण में (178+5) कुल=183 क्रतुओं का निरूपण प्राप्त होता है। ताण्ड्य के प्रथम तीन अध्यायों में यज्ञों से सम्बद्ध याजुष मन्त्रों तथा विष्टुतियों का विवरण होने पर भी साक्षात् याग-वर्णन नहीं हुआ है। यज्ञमीमांसा वस्तुतः चतुर्थ अध्याय से प्रारम्भ होती है। अध्याय और खण्ड के अनुसार क्रतुओं की नाम्ना प्रस्तुति इस प्रकार की जा सकती है—

क्रतु-नाम	अध्याय	खण्ड	क्रतु-नाम	अध्याय	खण्ड
1. गवामयन	4–5		पांच अग्निष्टुत्		
2. अग्निष्टोम	6		1. पापनिर्हरणार्थ	17	5
3. व्यूढ द्वादशाह	10–15		2. ब्रह्मवर्चस्-हेतुक	,,	6
छः एकाह			3. पशुकामनाजन्य	,,	7
1. ज्योतिः	16	1	4. यज्ञविभ्रष्ट का	,,	8
2. गो	;,	2	5. अन्नाद्यकामियों का	,,	9
3. आयुष्	,,	3	तीन त्रिवृत्स्तोम		
4. अभिजित्	,,	4	1. प्रजापति का अपूर्व	17	10
5. विश्वजित्	,,	5–6	2. बृहस्पतिसव	,,	11
6. सर्वजित्	,,	7	3. सर्वस्वार	,,	12
चार साहस्र			चार चातुर्मास्य		
1. ज्योतिः	16	8	1. वैश्वदेवस्थानिक अग्निष्टोम	17	13
2. सर्वज्योतिः	,,	9	2. वारुणप्रघासस्थानिक	,,	13
3. विश्वज्योतिः	,,	10	3. साकमेधस्थानिक त्रिरात्र	,,	13
4. त्रिरात्रसम्मित	,,	11	4. शुनासीरीय स्थानिक	,,	13
पांच साद्यस्क			1. उपहव्य अनिरुक्त	18	1
1. स्वर्गकामियों का	16	12	2. ऋतपेय	,,	2
2. आमयाविप्रभृतियों का	,,	13	3. अन्य ऋतपेय	,,	3
3. अङ्गिरसों का अनुक्रीत	,,	14	4. वैश्यस्तोम	,,	4
4. विश्वजित् शिल्प	,,	15	5. तीव्रसुत	,,	5
5. एकत्रिक	,	16	6. वाजपेय	18	6–7
चार व्रात्ययज्ञ			राजसूय		
1. व्रात्यगण शिक्षकों का	17	1	1. पवित्र	18	8
2. निन्दितों का	,,	2	2. अभिषेचनीय	18	8
3. कनिष्ठों का	,,	3	3, दशपेय	18	9
4. ज्येष्ठों का	,,	4	4. केशवपनीय	18	10
			5. व्युष्टिद्विरात्र	18	11

क्रतु–नाम	अध्याय	खण्ड
द्वन्द्वसोम		
1. राट्	19	1
2. विराट्	,,	2
3. औपशद्	,,	3
4. पुनस्तोम	,,	4
5. चतुष्टोम	,,	5
6. अन्यचतुष्टोम	,,	6
7. उद्भित्	,,	7
8. बलभित्	,,	7
9. अपचिति (प्रथम)	,,	8
10. अपचिति (द्वितीय)	,,	9
11. पक्षी	,,	10
12. ज्योतिः	,,	11
13. ऋषभ	,,	12
14. गोसव	,,	13
15. मरुत्स्तोम	,,	14
16. कुलाय	,,	15
17. इन्द्रस्तोम	,,	16
18. इन्द्राग्निस्तोम	,,	17
19, विघन (प्रथम)	,,	18
20. विघन (द्वितीय)	,,	13
13 अतिरात्र		
1. ज्योतिष्टोम	20	1
2. सर्वस्तोम	,,	2
3. अप्तोर्याम	,,	3
4. नवसप्तदश	,,	4
5. विषुवदतिरात्र	20	5
6. गोष्टोम अतिरात्र	,,	6
7. आयुष्टोम अतिरात्र	,,	7
8. अभिजिदतिरात्र	,,	8
9. विश्वजिदतिरात्र	,,	9
10. त्रिवृदतिरात्र	,,	10
11. पञ्चदशातिरात्र	20	10
12. सप्तदशातिरात्र	20	10
13. एकविंशातिरात्र	20	10
अहीनयाग		
तीन द्विरात्र		
1. अङ्गिरसों का द्विरात्र	20	11
2, चैत्ररथ द्विरात्र	,,	12
3. कापिवन द्विरात्र	,,	13
छः त्रिरात्र		
1. गर्गत्रिरात्र	20	14-16 (21-3)
2. अश्वत्रिरात्र (अश्वमेध)	21	4
3. वैदत्रिरात्र	,,	5
4. छन्दोमपवमान	,,	6
5. अन्तर्वसु	,,	7
6. पराक	,,	8
चार चतूरात्र		
1. चतुर्वीर	21	9
2. जामदग्न्य	,,	10
3. वासिष्ठ	,,	11
4. विश्वामित्र का संजय	,,	12
तीन पञ्चरात्र		
1. अभ्यासंग्य (देवपञ्चाह)	21	13
2. पञ्चशारदीय	,,	14
3. अन्तर्महाव्रत (व्रतवान्)	,,	15
तीन षड्रात्र		
1. ऋतुओं का षड्रात्र	22	1
2. त्रिकद्रुक	,,	2
3. अभ्यासंग्य (पृष्ठ्यावलम्ब)	,,	3

क्रतु-नाम	अध्याय	खण्ड
सात सप्तरात्र		
1. सप्तर्षियों का सप्तरात्र	22	4
2. प्रजापति का सप्तरात्र	,,	5
3. छन्दोमपवमान	,,	6
4. जामदग्न्य	,,	7
5. प्रजापति का अवधान	,,	8
6. जनक सप्तरात्र	,,	9
7. पृष्ठ्यस्तोम	,,	10
1. अष्टरात्र	22	11
दो नवरात्र		
1, देवों का नवरात्र	22	12
2. अन्य नवरात्र	22	13
चारदशरात्र		
1. त्रिककुप्	22	14
2. कौसुरुविन्द (पूर्दशरात्र)	,,	15
3. अन्य (छन्दोमदशाह)	,,	16
4. देवपुर	,,	17
1. एकादशरात्र पौण्डरीक	22	18
सत्र		
दो त्रयोदशरात्र		
1. आप्त द्वादशाह	23	1
2, प्रतिष्ठाफलक	,,	2
तीन चतुर्दशरात्र		
1, सर्वर्धिसाधन	23	3
2. अन्य चतुर्दशरात्र	23	4
3. प्रतिष्ठा साधन	23	5
चार पञ्चदशरात्र		
1. देवत्वप्राप्तिफलक	23	6
2. ब्रह्मवर्चस्फलक	,,	7
3. सत्राहीनोभयफलक	,,	8

क्रतु-नाम	अध्याय	खण्ड
4. प्रजाफलक	23	9
अन्य		
1. ऐन्द्र षोडशरात्र	23	10
1. प्राजापत्य सप्तदशरात्र	,,	11
1. देवों का अष्टादशरात्र	,,	12
8. वायु का एकोनविंशतिरात्र	,,	13
1. पुरुषफलसाधनविंशतिरात्र	,,	14
दो एकविंशतिरात्र		
1. पशुफल साधन	23	15
2. ब्रह्मवर्चस् फलक	,,	16
1. द्वाविंशतिरात्र	,	17
1. त्रयोविंशतिरात्र	,,	18
दो चतुर्विंशतिरात्र		
1. स्वर्गसाधन	23	19
2. प्रजापशुसाधन	,,	20
1. प्रजापति का पञ्चविंशतिरात्र	23	21
1. षड्विंशतिरात्र	23	22
1. सप्तविंशतिरात्र	23	23
1. अष्टविंशतिरात्र	23	24
1. एकोनत्रिंशद्रात्र	23	25
1. त्रिंशद्रात्र	23	26
1. प्रजापति का एकत्रिंशद्रात्र	23	27
1. द्वात्रिंशद्रात्र	23	28
तीन त्रयस्त्रिंशद्रात्र		
1. प्रतिष्ठाफलक	24	1
2. ऋद्धिफलक	,,	2
3. सर्वफलसाधन	,,	3
1. चतुस्त्रिंशद्रात्र	,,	4
1. पञ्चत्रिंशद्रात्र	,,	5
1. षट्त्रिंशद्रात्र	,,	6

क्रतु-नाम	अध्याय	खण्ड
1. सप्तत्रिंशद्रात्र	24	7
1. अष्टात्रिंशद्रात्र	,,	8
1. एकोनचत्वारिंशद्रात्र	,,	9
1. चत्वारिंशद्रात्र	,,	10
सात एकोनपञ्चशद्रात्र		
1. पापव्यावृत्तिफलक	24	11
2. श्रीफलक	,,	12
3. आञ्जनाभ्यञ्जन	,,	13
4. संवत्सरसम्मित	,,	14
5, सविता के ककुप्	,,	15
6. प्रतिष्ठाफलक	;,	16
7. प्रजाविभवफलक	,,	17
1. एकषष्टिरात्र	24	18
1. शतरात्र	24	19
1. गवामयन (पूर्वविहित)	24	20
अन्य		
1. आदित्यों का अयन	25	1
1. अङ्गिरसों का अयन	,,	2
1. दृति और वातवान का अयन	,,	3
1. कुण्डपायियों का अयन	25	4
1. तपश्चितों का अयन	,,	5
1. प्रजापति का द्वादश संवत्सर	,,	6
1. शाक्त्यों का अयन	,,	7
1. शतसंवत्सर	,,	8
1. अग्नि का सहस्र	,,	9

क्रतु-नाम	अध्याय	खण्ड
तीन सारस्वतसत्र		
1. मित्रावरुण का अयन	25	10
2. इन्द्राग्नि का अयन	,,	11
3. अर्यमा का अयन	,,	12
दो इष्ट्ययन		
1. दार्षद्वत	25	13
2. तुरायण	,,	14
1. सर्पों का सत्र	25	15
1. त्रिसंवत्सर	25	16
1. प्रजापति का सहस्र संवत्सर	25	17
1. विश्वसृजदेवों का सहस्र संवत्सरसाध्य अयन	25	18

षड्विंशगत ५ याग

1. श्येनयाग (3/8) }
2. इषुयाग (3/9) } अभिचारफलक
3. संदंश (3/10) }
4. वज्र
5. वैश्वदेव त्रयोदशरात्र

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि ताण्ड्य में सर्वप्रथम गवामयन का वर्णन है, जो सभी सत्रों की प्रकृति है। तदनन्तर ज्योतिष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र का निरूपण है, ये समस्त एकाह और अहीन यागों की प्रकृति हैं। तदनन्तर विभिन्न द्वादशाह निरूपित हैं। द्वादशाहों के पश्चात् चार अध्यायों में एकाहों का वर्णन है। इनके अनन्तर तीन अध्यायों में अहीनयागों तथा तीन ही अध्यायों में सत्रों का विधान प्राप्त होता है।

यागों का क्रम :

ताण्ड्य ब्राह्मण में सर्वप्रथम गवामयन सत्र का वर्णन है क्योंकि वही उसका मुख्य प्रतिपाद्य है जैसा कि सायण का कथन है—'अस्मिन् ब्राह्मणे प्राधान्येन गवामयनं प्रतिपाद्यते'। ताण्ड्य के ही क्रम को कुछ श्रौतसूत्रों ने भी अपनाया है। आर्षेयकल्प तो सामवेदीय ही है, किन्तु कात्यायन और आपस्तम्ब ने इस क्रम का अवलम्बन नहीं किया है, इसलिए असुविधाकारक होने के कारण हमारे लिए भी गवामयन के सन्दर्भ में ताण्ड्योक्त क्रम अपनाना संभव नहीं है।[1]

1. यद्यपि ताण्ड्यब्राह्मणने किसी कारणविशेषवश, जो सम्प्रति अज्ञात है, गवामयन का निरूपण सबसे पहले किया है, किन्तु अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम को वहीं 'यज्ञ-मुख' बतलाया है – 'यज्ज्योतिष्टोमो यज्ञमुखन्तत्' (ताण्ड्य ब्रा० 4.1.6); इसी तथ्य को ध्यान में रखकर जै०ब्रा० ने संभवत: अग्निहोत्र के अनन्तर अग्निष्टोम को प्राथमिकता दी है। आर्षेयकल्प ने यद्यपि ताण्ड्योक्त क्रम को ही अपनाया, किन्तु उसके व्याख्याकार वरदराज को यह उचित नहीं प्रतीत हुआ और इसीलिए उन्होंने उस परम्परा का परिवर्तन उपोद्घात के अन्तर्गत सर्व-प्रथम अग्निष्टोम तथा व्यूढद्वादशाह का विस्तृत निरूपण कर किया—प्रारम्भ में अग्निष्टोम-वर्णन का अभाव उन्हें गंभीरता से खटका है। इसी कारण गवामयन से पूर्व उन्होंने उस अभाव का निराकरण कर दिया। वरदराज के मनोभाव को ये पंक्तियाँ बड़ी स्पष्टता से व्यक्त कर देती हैं—

'अथार्षेयकल्पो व्याख्यातव्य:। तत्र च सर्वक्रतुप्रकृतिभूतस्य त्रिपर्वणो ज्योतिष्टोमस्य सर्वाहर्गणप्रकृतिभूतस्य च व्यूढस्य द्वादशाहस्य ब्राह्मणेनैव क्लृप्तिरुक्तेति तदुपजीवनेन क्रत्वन्तराण्येव कल्पितानि। अस्माभिस्त्वस्य प्रबंधस्य कात्स्न्यार्थं तयोस्तावत् प्रयोग: सूत्रब्राह्मणानुसारेण प्रदर्श्यंते'—(आ० क०, विवृति, उपोद्घात, पृष्ठ 1)।

इस सन्दर्भ में तीसरा कारण यह है कि गवामयन अनेक सोमयागों का समुच्चय है, इसलिए उन सोमयागों के निरूपण से पूर्व गवामयन का विवरण देना उचित नहीं प्रतीत होता है।

जैमिनीय ब्राह्मणगत याग-क्रम :

जैमिनीय ब्राह्मण में याग-निरूपण के लिए ताण्ड्य से भिन्न क्रम स्वीकार किया गया है, उसमें यज्ञों का क्रम इस प्रकार है—(प्रथम प्रपाठक)—अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, (द्वितीय प्रपाठक)—गवामयन, एकाह, अहीन, सत्र और पुनः गवामयन; (तृतीय प्रपाठक)—द्वादशाह। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक जैमिनीय ब्राह्मण का सर्वशुद्ध पाठ उपलब्ध नहीं हो जाता। यों अग्निष्टोम का प्राथम्य सर्वथा उचित ही है।

अग्निष्टोम

नामकरण और अनुष्ठान का फल :

सर्वप्रकृतिभूत अग्निष्टोम का नामकरण 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये'[1]—इस आग्नेयी ऋचा में उत्पन्न 'यज्ञायज्ञीय-अग्निष्टोम' साम से समाप्त होने के कारण हुआ है।[2]

अग्निष्टोम के अनुष्ठान से सभी फल प्राप्त हो जाते हैं, इसीलिए यह मुख्य है, अन्य उक्थ्यादि से एक एक फल की प्राप्ति ही होती है–'एष वाव यज्ञो यदग्निष्टोमः। एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाह्रियते सर्व्वेभ्योऽग्निष्टोमः।'[3]

'ज्योतिष्टोम' शब्द से भी मुख्यतः अग्निष्टोम ही विवक्षित होता है, जैसा कि सायण का कथन है—'यद्यपि सर्वेषामपि ज्योतिष्टोमत्वमस्ति तथापि उक्थातिरात्र-संस्थयोः पृथक् वक्ष्यमाणत्वात् अग्निष्टोमसंस्थैव 'ज्योतिष्टोम' शब्देन उच्यते'।[4]

ताण्ड्य ब्राह्मण में अग्निष्टोम को 'ज्येष्ठयज्ञ' की गरिमा से विभूषित किया गया है – 'ज्येष्ठयज्ञो वा एष यदग्निष्टोमः।'[5] यह श्रेष्ठता प्राप्त करने का साधन है।[6]

काल :

श्रौतसूत्रों और पद्धतियों के अनुसार अग्निष्टोम का आरम्भ किसी भी शुभ दिन हो सकता है। प्रायः शुक्लपक्ष की एकादशी को प्रारम्भ कर पूर्णिमा को समाप्त करने की परम्परा है।

---

1. ग्राम० 1.4.35-4
2. यज्ञायज्ञीय इत्यस्यामाग्नेय्यामुत्पन्नेनाग्निष्टोमसाम्ना समाप्तेरस्याग्निष्टोम इति नाम सम्पन्नम्—(ताण्ड्य ब्रा० 6.1.1 पर सायण-भाष्य)।
3. तां० ब्रा० 6.3 1-2, इस पर सायण-भाष्य का यह अंश द्रष्टव्य है—'अग्निष्टोम इति सर्वफलसाधनत्वेन मुख्यत्वादेष एव यज्ञः। इतरे त्वेकैक-फलसाधनत्वाज्जघन्या इत्यर्थः।
4. तां० ब्रा० 4.1.6 पर भाष्य
5. तां० ब्रा०, 6.3.8 6. वही, 6.3.9

सोमप्रवाक विधि :

सर्वप्रथम यजमान 'सोमप्रवाक' नामक ऋत्विक् का वरण कर उसे अन्य ऋत्विकों को आमन्त्रित करने के लिए भेजता है। लाट्यायन[1] के अनुसार ऋत्विक् उसी को नियुक्त करना चाहिए जो ऋषिकुलोत्पन्न, अनूचान और शुद्धाचरणवान् हो। सोमप्रवाक अन्य ऋत्विकों से कहे—'अमुक शर्मा 12 सौ दक्षिणा वाले ज्योतिष्टोम याग से यजन करेंगे, आप उसके औद्‌गात्र (या अन्य आर्त्विज्य) को स्वीकार करें।' यदि उन्हें नियुक्ति अस्वीकार हो, तो 'नमः सोमाय राज्ञे' प्रभृति कहकर निषेध कर दें और यदि करना हो तो 'महन्मेवोचः' प्रभृति वे मन्त्र कहें, जिनका ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रारम्भ में उल्लेख है।[2]

वरण और अर्घ्यादि :

उद्‌गाता के आने पर उसका देववरण और मानुषवरण होता है, जैसा कि षड्‌विंश में कहा गया है—'स एतान् दैवानृत्विजो वृत्वाथैतान् मानुषान् वृणीत। य एनमभिराधयेयुः' (3.3.3)। वृत ऋत्विकों को परिचारकों के द्वारा समानीत विष्टरद्वय, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय और मधुपर्क यथोक्त विधियों से प्रदान किये जाते हैं।

देवयजनयाचन :

मधुपर्क-प्रतिग्रह के अनन्तर पहले यजमान क्षत्रिय से फिर उद्‌गाता से देवयजन की याचना करता है, उद्‌गाता 'देवयजनवान् हो' कहकर देवयजन को जाने से पूर्व प्रस्तोता और सुब्रह्मण्य को विभिन्न कर्मों में नियुक्त कर अपने घर जाता है। कुछ श्रौतसूत्रकारों यथा—लाट्यायनादि के अनुसार यह कृत्य मधुपर्क विधि से पूर्व हो जाना चाहिए, जो उचित प्रतीत होता है, क्योंकि देवयजन पहुँचने पर ही उसे मधुपर्क प्रदान किया जाता है।

ऋत्विकों के सामान्य नियम :

आर्त्विज्य-उपक्रम-काल में सभी ऋत्विकों के लिए यज्ञोपवीत-धारण, आचमन और यज्ञाङ्ग के प्रति अव्यवहित आभिमुख्य आवश्यक है। जब तक विशेष आदेश न हो, सभी कृत्य प्राङ्‌मुख होकर करने चाहिए।

यजमानकर्तृक कुछ प्रारम्भिक कृत्य :

यज्ञशाला में अरणि-मन्थन जन्य अग्नि की स्थापना कर, मण्डप के बाहर यजमान एक विशिष्ट शाला में नख-श्मश्रु-छेदन, उदुम्बर की टहनी से दन्त-धावन कर

1. ऋत्विगार्षेयोऽनूचानः साधुचरणः—ला० श्रौ० सू० 1.1.7
2. ओम् महन्मे वोचो भर्गो मे वोचो यशो मे वोचः स्तोमं मे वोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्मावतु तन्माविशतु तेन भुक्षिषीय।—तां० ब्रा० 1.1.1

स्नानादि करता हैं; अपराह्ण में दम्पति घृत एवं दधिमिश्रित ओदन का भोजन करते हैं। यजमानमण्डप में पूर्वद्वार से तथा उसकी पत्नी पश्चिम ओर से प्रवेश करती है।

दक्षिणीया, प्रवर्ग्य, उपसद् और प्रायणं याख्य इष्टियों में, आगे जिनका विस्तृत विवरण दिया जाएगा, साम-गान प्रस्तोता करता है। वह यजमान के द्वारा वृत होकर पूर्व दिशा से पत्नीशाला में प्रवेश कर, उत्तर ओर से अग्नि के समीप जाकर गार्हपत्य के पीछे बैठकर अथवा खड़े होकर दो तार्क्ष्य-साम गाता है। प्रवर्ग्य में वामदेव्य साम गाता है। ऊपर उल्लिखित इष्टियों का परिचय[1] इस प्रकार है :—

दीक्षणीया :

इसमें अग्नि और विष्णु देवता होते हैं; द्रव्य होता है एकादशकपालपुरोडाश। यजमान के अञ्जन और अनुलेपनादि संस्कार होते हैं। मुष्टिबन्ध के अनन्तर औद्ग्रभणहोम का विधान है। तत्पश्चात् दीक्षा होती है—कृष्णमृग चर्म पर आसीन होकर, मेखला बाँधकर शिर को उष्णीष से आच्छन्न कर लिया जाता है। नक्षत्र-दर्शन तक यजमान मौन रहता है। सन्ध्या के समय प्रतिप्रस्थाता उच्च स्वर में कहता है—'यह यजमान दीक्षित हो गया।' अनेक नियमों का पालन करते हुए उसे यागान्त तक केवल दुग्ध पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

महावीर-संभरण :

प्रवर्ग्य-होम के निमित्त एक पात्र होता है, जो 'महावीर' कहलाता है। गर्म घी में दुग्ध डालने से 'घर्म' नामक एक खाद्य विशेष बनता है। दूध का यह डालना ही 'प्रवृञ्जन' कहलाता है। 'घर्म' को पकाने के लिए उलूखल के आकार का मृत्तिका-पात्र बनाया जाता है।

सूर्यास्त होने पर व्रताहार (दुग्ध-मात्र) ग्रहण किया जाता है। क्षत्रिय यजमान यवागू और वैश्य आमिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं। तदनन्तर भूमि पर दक्षिण से अग्नि की ओर मुख करके सो जाते हैं।

---

1. यद्यपि औदगात्र देकर ही ताण्ड्यानुशीलनविषयक हमारा दायित्व सम्पन्न हो जाता है; किन्तु हौत्र और आध्वर्यव के अभाव में अग्निष्टोम का सम्यक् स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता, अतएव अन्य शाखीय श्रौतसूत्रों और पद्धतियों की सहायता से अग्निष्टोमगत शेष सोमयागों में केवल ताण्ड्यादि गत विवरण ही दिया जायेगा।

प्रायणीया इष्टि :

यह इष्टि दूसरे दिन होती है। इसमें पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम, सविता और अदिति—ये पाँच देवता होते हैं। प्रथम चार देवों को आज्य तथा अदिति को चरु की आहुति प्रदान की जाती है।

इसके अनन्तर सोम-क्रय किया जाता है। खरीदे गये सोम को अध्वर्यु शकट पर रखकर, उसमें दो बैलों को सन्नद्ध कर शकट को शाला में ले आता है; सोम को उदुम्बर की आसन्दी पर रखकर शाला में स्थापित कर दिया जाता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में सोम का अपहरण हो जाने पर प्रायश्चित्त-विधान है; एतदर्थ आगे वहाँ कुछ साम गानार्थ विहित हैं।[1]

'प्रायणीय' नाम का निर्वचन करते हुए ताण्ड्य में कहा गया है कि इसके द्वारा देवों ने स्वर्ग लोक की प्राप्ति की थी।[2]

अन्य ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में सोम-क्रय और उसकी साधन-भूत 'सोमक्रयणी' गाय के विषय में बहुत से नियम दिये गये हैं, जिन्हें उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

आतिथ्येष्टि :

सोम राजा है, उसे अतिथि मानकर सम्मानार्थ यह इष्टि की जाती है। इसके प्रमुख देवता विष्णु हैं और द्रव्य है नवकपाल पुरोडाश। इडा-भक्षण के पश्चात् तानूनप्त्र संज्ञक कृत्य में यजमान एवं ऋत्विक् एक दूसरे का अमंगल न करने का प्रण लेते हैं। इसके अन्तर्गत आज्य-स्पर्श होता है और अवभृथ तक परस्पर सौमनस्य बनाये रखने की शपथ ली जाती है। सभी 'मदन्ती' नामक पात्र के तप्त जल का स्पर्श करते हैं। आतिथ्या के प्रधान याग के समय प्रस्तोता 'प्रेष्ठं वः' (सा० सं० 1244-46) इस तृच पर आश्रित 'औशनस्' साम का गान करता है। अन्त में सोमाप्यायन और निह्नवन कृत्य भी होते हैं।

प्रवर्ग्य[3] :

---

1. तां० ब्रा० 9.5
2. प्रायणीयेन वा अह्वा देवाः स्वर्गं लोकं प्रायन्यत् प्रायं स्तत्प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्।—तां० ब्रा० 4.2.2
3. सभी प्रवर्ग्य सामों का देवता धर्म होता है। प्रवर्ग्यगत सामों और उनके गान की प्रक्रिया के विस्तृत विवरण के लिए आर्षेयकल्प के आरम्भ में वरदराजकृत 'उपोद्घात (पृष्ठ 10-11) द्रष्टव्य है।

यह प्रातः और अपराह्‌ण अनुष्ठेय कृत्य है। अश्विन देवयुग्म और इन्द्र इसके देवता हैं। यजमान-पत्नी को यह कृत्य नहीं देखना चाहिए। इसमें तीन खर (गार्हपत्य और आह्वनीय के उत्तर की ओर दो तथा तीसरा उसी के समानान्तर) बनाकर दो महावीर पात्रों को रखा जाता है। मूँज निर्मित इण्डुओं को जलाकर, उन्हें दोनों खरों में रखकर, उसमें आज्ययुक्त महावीर पात्र रखकर होता के मन्त्र-पाठ करने के समय प्रत्येक प्रणव पर स्रुवा से आज्य को डाला जाता है। तत्पश्चात् रौहिण पुरोडाशों को घुमाया जाता है। उसमें प्रथमतः दाहिने पुरोडाश का होम करके, गाय को दुहकर, पुरोडाशों द्वारा महावीर को लाकर, उसमें बकरी का दूध डालकर, दूध के फट जाने पर गो-दुग्ध डाल दिया जाता है। यही 'घर्म' है। तत्पश्चात् उत्तर के रौहिण का अनुष्ठान होता है।

उपसद् इष्टि :

यह भी प्रातः और अपराह्‌ण अनुष्ठेय है। इसके देवता है– अग्नि, सोम और विष्णु। इन्हें जुहूसे आहुतियाँ दी जाती हैं। द्रव्य के रूप में सर्वत्र आज्य का व्यवहार होता है। प्रातः–सायं सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विक् के द्वारा 'सुब्रह्मण्याह्वान' किया जाता है। इसका प्रयोजन यज्ञभूमि पर आने के लिए इन्द्र का आह्वान करना है। षड्‌विंश ब्राह्मण के प्रथम अध्याय में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है; तदनुसार आह्वान का प्रकार यह है– सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विक् उत्कर पर स्थित होकर स्त्री की भाँति आदरपूर्वक तीन बार कहे —

> 'सुब्रह्मण्यो ३म् सुब्रह्मण्यो ३म् सुब्रह्मण्यो ३म् हरिव
> आगच्छ। मेष वृषणश्वस्य आगच्छत आगच्छत।'[1]

इसमें दूसरे दिन 'त्र्यहे' 'द्वयहे', चौथे दिन 'श्वः' और पाँचवे दिन 'त्र्यहे' के स्थान पर 'अद्य' कहना चाहिए। कुछ श्रौतसूत्रों के अनुसार 'त्र्यहे' के स्थान पर 'चतुरहे' कहना चाहिए। इस प्रकार सुब्रह्मण्या-आह्‌वान करने के पश्चात् 'सासि सुब्रह्मण्ये' [2] प्रभृति षड्‌विंशोक्त सात पद यजमान से कहलाकर जल का स्पर्श किया जाता हैं।

उपर्युक्त क्रम से प्रत्येक दिन दो उपसद् हो जाते हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ- इन तीन दिनों में उपसद् इष्टि का अनुष्ठान होता है तथा प्रवर्ग्य–सम्पादन भी किया जाता है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम में कुल छः उपसद् होते हैं। सभी उपसदों के अन्त में आतिथ्यान्तवत् सोमाप्यायन--निह्नवन और सुब्रह्मण्याह्वान होते हैं।

दूसरे दिन भी ये ही सभी कृत्य होते हैं।

---

1. षड्० ब्रा० 1.1.7-16 2. वही, 1.1.9

तीसरे दिन प्रातः और अपराह्ण प्रवर्ग्य तथा उपसद्-होम होते हैं। सौमिकी महावेदि का निर्माण होता है तथा प्रातः-सायं सुब्रह्मण्याह्वान होता है।

औदुम्बरी का उच्छ्रयण[1] :

सायण के अनुसार उद्गाता का यह प्रथम कार्य है। औदुम्बरी का उच्छ्रयण करने का इच्छुक उद्गाता पूर्व की ओर से देवयजन में प्रवेश करता है और ताण्ड्योक्त 'द्युतानस्त्वेति पृथिवीम्'[2] प्रभृति मंत्र पढ़ते हुए, सामने से औदुम्बरी के समीप जाकर, उदङ्मुख खड़े होकर अध्वर्यु के साथ औदुम्बरी को उठाये। इसी प्रसंग में सोमयाग में उद्गाता प्रभृति किस प्रकार बैठकर साम-गान करें, इसका विवरण ताण्ड्य ब्राह्मण[3] में दिया गया है। तदनुसार औदुम्बरी के उत्तर में आसीन उद्गाता गान भाग को गाये; पश्चिम में आसीन प्रस्तोता अपने भाग को गाये; दक्षिणाभिमुख प्रतिहर्ता अपना कार्य करें; अन्य होता प्रभृति सात ऋत्विक् प्राङ्मुख बैठकर आर्त्विज्य करें।

चतुर्थ दिन :

इसे 'उपवसथ्य अहः' भी कहते हैं। इस दिन प्रवर्ग्य (दो बार) उपसद् (प्रातः ही दो बार), सुब्रह्मण्याह्वान, हविर्द्धानप्रवर्तन (दोनों सोम-शकटों को प्राचीनवंशशाला से हविर्द्धानमण्डप में ले आना) तथा अग्नीषोमप्रणयन (प्राचीन वंशशालागत ऐष्टिकवेदिस्थ आहवनीय से उल्मुक का तथा राजासन्दीस्थ सोम का यथाक्रम आग्नीध्रीय धिष्ण्य हविर्द्धानमण्डप में आनयन) ये कृत्य होते हैं। आग्नीध्रीय धिष्ण्यों में भी उल्मुक ले जाये जाते हैं। सुत्या अर्थात् पाँचवे दिन वाणी अखिन्न रहे इस इसलिए इस दिन वेद-पाठ प्रायः बन्द रहता है।[4] प्रस्तोता कुशाकरण में व्यस्त रहता है।[5]

अग्नोषोमीय पशुयागः

अग्नि और सोम के निमित्त पशु-याग होता है। इसके साथ ही दौर्ब्रह्मण्य की निवृत्ति के लिए भी इसी प्रक्रिया से पशु-याग किया जाता है। दुर्ब्राह्मण उसे

---

1. तां० ब्रा० 6.4.1 2. वही, 6.4.2 3. वही 6.4.14
4. आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराज का कथन है-- 'सौत्येऽहनि वाचा ग्लानिर्मा भूदित्येवमर्थमुपवसथ्येऽहनि न स्वाध्याध्ययनं कुर्युः ।'—उपोद्घात, पृष्ठ 16
5. वरदराज के अनुसार उसकी प्रविधि यह है - 'प्रस्तोता यज्ञवृक्षसम्बन्धिनीः प्रादेश-मात्रीः त्वग्भागे कुशपृष्ठसमानपृष्ठाः समीकृतभिन्नप्रदेशा अङ्गुष्ठपर्वपृथुमात्रीः यथामूलस्थूला यथाग्रसूक्ष्माश्च कृशाः कारयित्वा गन्धवतीभिरोषधीभिः हरिद्राकुङ्कुमादिभिरनुलिप्य कुशाविधानेन क्षौमादिना परिवेष्य औदुम्बरीं मध्यमधिवासयेत्'—आर्षेयकल्प, उपोद्घात।

कहते हैं जिसके पिता और पितामह 'सोमपीथी' न रहे हों; इस दोष के निवारण के निमित्त ही पशु-याग किया जाता है। अग्नीषोमीयप्रणयन-काल में प्रोस्तोता अग्निव्रत (ओवा। सं ते पयांसिआ० गान 175) तथा सोमव्रत (कहो वा त्वमिमा आ० गा० 176) का तीन बार गान करता है।

वपा-मार्जन के पश्चात् घड़े में स्रोतस्विनी नदी का जल लाया जाता है, जो 'वसतीवरी' कहलाता है। सन्ध्या होने से पूर्व सोम निचोड़ते समय 'वसतीवरी' नामक जल का उपयोग रस को बढ़ाने के लिए किया जाता है। वसतीवरी जल लाने के पश्चात् सुब्रह्मण्य नाम-ग्रहण सहित सुब्रह्मण्याह्वान करता है।

प्रातरनुवाकोपाकरण :

चौथे दिन के बाद रात्रि के चतुर्थ प्रहर में (ताण्ड्य 9.4.1) पक्षियों की चहचहाहट से पहले ही अध्वर्यु के द्वारा प्रेषित होता प्रातरनुवाक के शस्त्र का पाठ करे। प्रातरनुवाक के अन्तर्गत पाठनीय ऋक्समूह अग्नि, उषस् और अश्विन् को उद्दिष्ट कर पढ़ा जाता है, क्योंकि ये देव प्रातः आ जाते हैं। प्रतिदेवता पठनीय मन्त्र-समूह को 'क्रतु' की आख्या दी गयी है। इस सन्दर्भ में प्रतिक्रतु गायत्री से जगती तक सात छन्दों में निबद्ध- एक-एक सूक्त पठनीय माने जाते हैं। प्रस्तोता इमं स्तोमम् (ग्रा० 2.7.66.1) इत्यादि यज्ञसारथि-साम का गान करता है; तत्पश्चात् तीन बार 'लोकद्वारम्' प्रभृति वासवसाम (आ० गा० 50) का गान होता है। इसके अनन्तर प्रातरनुवाक के निमित्त बैठे होता के पास जाकर, उदङ्मुख बैठकर उद्गाता विश्वरूपागान (सा 1.822-830) करता हैं। षड्विंश ब्राह्मण (1.4) में उपलब्ध विवरण के अनुसार अध्वर्यु के द्वारा आमन्त्रित उद्गाता पूर्वद्वार से हविर्धानमण्डप में प्रवेश कर हविर्धान शकट के उत्तर चक्र के सम्मुख उदङ्मुख बैठता है और विश्वरूपागान करता है। विश्वरूपागान में वे तीन स्तोत्रियाएं सम्मिलित हैं जिनमें विश्वरूप शब्द आया है, वे हैं पुञ्जे वाचं शतपदीम्०' प्रभृति। षड्विंश में कश्यपगोत्रोत्पन्न ऋषियों और कुसुरुबिन्द औद्दालकि की आख्यायिका द्वारा विश्वरूपागान की भूयसी प्रशंसा की गई है। फिर सुब्रह्मण्याह्वान होता है। इसके पश्चात् 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नीम्०' प्रभृति ज्योतिर्गान होता है। प्रातरनुवाक् के समाप्त होने पर होता जैसे ही 'अभूदुषा' कहता है, तब प्रस्तोता आदि 'ऋतस्यसदन' प्रभृति ताण्ड्योक्त (1.2.2) मन्त्र पढ़कर वेदि के समीप यथोक्त रीति से बैठ जाते हैं।

पञ्चम दिन :

इसे 'सुत्या-दिन' भी कहते हैं। इसी दिन सोमाभिषव, ग्रह-ग्रहण और उसके होम आदि का अनुष्ठान होने से यह प्रधान दिन है। ऋत्विग्गण सूर्योदय पूर्व से ही उपांशु प्रस्तरखण्ड से सोमरस निकालने लगते हैं।

प्रातरनुवाक् के साथ ही आग्नीध्र या प्रतिप्रस्थाता निर्वाप की तैयारियाँ करने लगता है। निर्वाप में पाँच देवता और इतनी ही हवियाँ होती हैं। इन्द्र के लिए एकादश कपाल पुरोडाश, हरिवत् इन्द्र के लिए धाना, पूषवत् इन्द्र के लिए करम्भ, सरस्वतिमत् इन्द्र के लिए दधि और मित्रावरुणवत् इन्द्र के निमित्त पयस्या की आहुतियाँ दी जाती हैं। तत्पश्चात् अग्नीत् इन्द्र और वायु के लिए अभिप्रेत पात्रों को रखता है।

एकधन-आनयन :

प्रातःकाल जलाशय से तीन या पाँच कलशों में, जिन्हें 'एकधन' कहते हैं, जल लाया जाता है। यह लाया गया जल भी 'एकधन' ही कहलाता है—'इमा गृहीता आप एकधनपदवाच्याः।'[1]

सोमाभिषवण :

अभिषवण-फलकों के चारों ओर आसीन ऋत्विक् सोम रस निकालने की विभिन्न प्रक्रियाएं करते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार सोम-शोधन के समय धारा को टूटने नहीं देना चाहिए, क्योंकि धारा के टूटने से याग भी विछिन्न हो जाता है— 'अच्छिन्नं पावयन्ति यज्ञञ्चैव प्राणांश्च सन्तन्वन्ति सन्ततं पावयन्ति यज्ञस्य सन्तत्यै।'[2]

सोमाभिषव के दो प्रकार हैं— (1) महाभिषव (2) क्षुल्लकाभिषव। महाभिषव अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता करते हैं। वे नापे गये सोम को चॉर भागों में बाँटकर उस पर प्रहार करते है तथा रस निकालने के लिए निग्राम्या नामक जल के छींटे मारते रहते हैं। अन्त में रस निकाल लेते हैं। क्षुल्लकाभिषव के अन्तर्गत अध्वर्यु सोम को जल के साथ कूटता है—'सोमवल्ल्याः जलेन कुट्टनमभिषवणमुच्यते।'[3]

प्रोहणादि कृत्य :

इसी प्रक्रिया में प्रोहणादि कृत्य होते हैं। सोमाभिषव हो चुकने पर ताण्ड्यानुसार[4] अध्वर्यु प्रभृति तीन ऋत्विक् 'ऋतपात्रमसि[5] मंत्र पढ़ते हुए दोनों हाथों से द्रोणकलश का आलभन करते हैं तथा 'वानस्पत्योऽसि'[6] मंत्रपढ़कर पूर्वदिशा में उसका प्रोहण करते हैं। द्रोणकलश देवों का पान-साधन बतलाया गया है। यह

1. श्रौतपदार्थनिर्वचनम्, पृष्ठ 264
2. तां० ब्रा० 6.6.19
3. श्रौतपदार्थनिर्वचनम्, पृष्ठ 270
4. तां० ब्रा० 6.5.1
5. वही, 1.2.3
6. वही, 1.2.4

प्रोहण हविर्द्धान में अक्ष से नीचे होता है। अक्ष के ऊपर दशापवित्र की स्थापना होती है[1]—दशापवित्र शुक्ल होता है[2] और उसे उद्गातृगण फैलाते हैं[3]। अक्ष का उपस्पर्श करना निषिद्ध हैं।[4] वस्तुतः द्रोणकलश के प्रोहण से ऋत्विग्वरण की क्रिया पूरी होती हैं। आगे पत्थरों पर द्रोण कलश का अध्यूहन विहित है।[5] अध्यूहन के अनन्तर कुछ ऐसे कृत्य बतलाये गये हैं, जिनसे ऋत्विक् यजमान को हानि या लाभ पहुँचा सकते हैं।

सम्मार्जन :

तत्पश्चात् उद्गाता 'वसवस्त्वा०' प्रभृति मंत्रों से सोम का सम्मार्जन करता है— 'दोणकलशं पायवन्ति।[6] 'पावयन्ति' क्रिया के बहुवचनान्तप्रयोग के आधार पर कुछ पद्धतिकारों ने सभी ऋत्विकों के द्वारा सम्मार्जन कृत्य को करणीय बतलाया है, किन्तु आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराजने 'लाट्यायन श्रौतसूत्र के वचन 'मन्त्रान् कर्माणि चोद्गातैव कुर्यात्'[7] के प्रमाण से यह व्यवस्था दी है कि बहुवचनान्तप्रयोग का यहाँ सामान्य (अर्थात् आदरार्थक) अभिप्राय है– 'तस्मात् पावयन्तीति सामान्याभिप्रायमिति उद्गात्रैव सम्मार्जनं कार्यम्।'[8]

सम्मार्जन के पश्चात् ताण्ड्य ब्राह्मण में शोध्यमान सोम की धारा का अनुमन्त्रण विहित[9] है। अनुमन्त्रण सोम की सन्तत धारा का होता है और तदर्थ प्रदत्त मन्त्र हैं—'प्रशुक्र०'[10] इत्यादि। आगे सोमशोधन के कुछ अन्य नियम भी ब्राह्मण में दिये गये हैं।[11]

ग्रहों में सोमरस-ग्रहण एवं समर्पण

इसके पश्चात् विभिन्न ग्रहों[12] (पात्रों) में सोम का रस-ग्रहण किया जाता है। प्रथम पात्र को अन्तर्याम ग्रह कहा जाता है। उपांशुग्रह के पूर्व ही दिया

---

1. वही, 6.5.14 2. वही, एतदर्थ एक आख्यायिका भी दी गई है।
3. वही, 6.6.12 4. ता० ब्रा० 6.6.15 5. वही, 6.6.1
6. वही, 6.6 6 7. ला० श्रौ० सू० 1.1.4
8. आर्षेयकल्प, उपोद्घात, पृ० 24
6. तां० ब्रा० 6.6.16 10. वही, 1. .9 11. वही, 6 6 9
12. 'ग्रह' शब्द की व्युत्पत्ति है—'गृह्यतेऽस्मिन्' इति---अर्थात् सोमरस जिसमें संस्थित होता है, वह पात्र। ज्योतिष्टोम के प्रातः सवन में उपांशु से वैश्वदेव तक13 ग्रह, माध्यन्दिन सवन में 9 ग्रह और तृतीय सवन में 5 ग्रह होते हैं। कुल पात्र15 हैं। इन्हीं में से कई की आवृत्ति होती हैं। इनमें से 9 उलूखल, चार मृण्मयस्थालियाँ, दो स्रुक् के मुख की आकृति वाले तथा दो दोनों ओर मुख वाले ऋतुग्रह होते हैं।

जाता है, परन्तु अन्तर्यामग्रह अध्वर्यु के द्वारा सूर्योदय के समय समर्पित किया जाता है। इसके पश्चात् रस-ग्रहण जिन पात्रों से किया जाता है, वे ये हैं-ऐन्द्रवायव्य, मैत्रावरुण, शुक्र, मन्थिपात्र, आग्रयणस्थाली, आग्नेयपात्र, ऐन्द्रपात्र उक्थ्यस्थाली तथा ध्रुवस्थाली। इन्हें 'खर' नामक उच्च स्थान पर रखा जाता है। ये 'धाराग्रह' कहलाते हैं, क्योंकि सोमरस धारा रूप में ढाला जाता है।

ऋत्विकों का वरण—संसर्पण और प्रवृत होम

जब अध्वर्यु आग्रयणग्रह को ग्रहण करते हुए हिङ्कार करता है, तब प्रस्तोता 'प्रवृणीरन्नग्नि. प्रस्तोताहं मानुष०' कहता है, उद्गाता 'बृहस्पतिरुद्गाताहं मानुष० तथा प्रतिहर्ता 'वायु: प्रतिहर्ताहं मानुष०' कहता है। तदनन्तर अध्वर्यु जलस्पर्श करके कुशमुष्टि से दो कुश लेकर हविर्धान से नि:सर्पण करता है। उसके पीछे उद्गाता, उद्गाता के पीछे प्रतिहर्ता, तदनन्तर ब्रह्मा और उसके पीछे यजमानादि संसर्पण करते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में बहिष्पवमानार्थं इस प्रसर्पण के विषय में कहा गया है कि अध्वर्यु प्रमुख पाँच ऋत्विक् जब चात्वाल की ओर प्रसर्पण करते हैं तो उनका यह प्रसर्पण मानो स्वर्गलोग के प्रति ही है।[1] प्रसर्पण की दो विधियाँ उल्लिखित हैं। इनमें से पहली विधि है प्रक्वाण विधि; जैसे अहेरी मृदुपदन्यास करते हुए मृग को पकड़ने के लिए धीरे-धीरे आगे बढ़ता है, वैसे ही बढ़ना प्रक्वाण विधि है।[2] सर्पण करने वालों के मध्य में किसी को नहीं आना चाहिए।[3] तदनन्तर प्रवृतहोम करणीय है; सरस्वत्यर्थं क्रियमाण इन दो होमों के ये मन्त्र ताण्ड्य में दिये गये हैं— 'बेकुरा नामासि सूर्यो मा०।[4] उद्गाता एक तृतीय होम भी 'ऋचंसाम[5]' मन्त्र से करता है।

चात्वाल पहुँचकर अध्वर्यु के बैठ जाने पर सभी बैठते हैं। प्रस्तोता प्रत्यङ्मुख तथा उद्गाता उदङ्मुख बैठता है।[6] इसके पश्चात् बहिष्पवमानस्तोत्र का गान होता है। स्तोत्र-गान के समय प्रस्तावादि विभक्तियों और स्वर-नियम के विषय में आर्षेयकल्प के वरदराजकृत-उपोद्घात (पृष्ठ 26-29) में विस्तृत विवरण

---

1. तां० ब्रा० 6.7.9 2. वही, 6.7.11
3. वही, 6.7.13-15 4. वही, 1.3.1-2
5. साम० सं० 369
6. प्रस्तोता आदि अन्य सामगाता भी द्यावापृथिवी के मिलन-स्थल को देखते हुए समान रूप से मुख किए हुए सभी स्तोत्रों में बैठते हैं—वरदराज, उपोद्घात. आ० क०, पृ० 26

उपलब्ध है।[1] यहाँ केवल इतना कहना समीचीन है कि अध्वर्यु के हाथ से प्रस्तर (दर्भमुष्टि) को लेकर प्रस्तोता 'ब्रह्मन्! प्रशास्तः' कहकर उद्गाता को दे देता है। उद्गाता उस प्रस्तर से जंघा का स्पर्श कर स्तोमयोग अर्थात् 'अग्नेस्तेजसा०'[2] मन्त्र का उच्चारण करता है; 'चात्वालमवेक्ष्य बहिष्पवमान स्तुवन्ति'[3] के अनुसार कुछ अन्य गौण कृत्यों के पश्चात् बहिष्पवमान स्तोत्र प्रारम्भ कर दिया जाता है-चात्वाल पर स्थिर होकर। बहिष्पवमान की नौ ऋचाएं हैं।[4] इनका गान त्र्यावृत रूप में होता है – ये सभी ऋचाएं गायत्र साम में गेय है—'इमे वै लोका गायत्रम्।'[5] पांचवीं ऋचा का गान हो जाने पर प्रस्तर (दर्भमुष्टि) पर हाथ रखे यजमान से कहलाया जाता है—'श्येनोऽसि० संपारय।'[6] यह बहिष्पवमानारम्भकवाचन कहलाता है।

बहिष्पवमान स्तोत्र-गान के समय उन्नेता ऋत्विक् 'आधवनीय' पात्र से सोमरस को 'पूतभृत्' पात्र में डालता है। स्तोत्र के अन्त में अध्वयु-प्रेषित अग्नीत् आग्नीध्रीय से अंगारों को निकालकर धिष्ण्यों पर रखता है।

सवनीय पशु :

अग्निष्टोम में सुत्या के दिन एक पशु की आहुति देने का भी विधान है। यह कल्पसूत्रों और ब्राह्मणान्तरों में विहित है।

सवनीय पशु की वपा की आहुति सम्पन्न हो जाने पर धिष्ण्योपस्थान होता है। सर्वप्रथम आहवनीय का और तदनन्तर क्रमशः आस्ताव, चात्वाल, शामित्र, आग्नीध्रीय का उपस्थान किया जाता है। पूर्वदिशा में सदस् के द्वार पर पश्चिमाभिमुख खड़े होकर क्रमशः होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा और अच्छावाक् आदि के धिष्ण्यों का उपस्थान होता है। तदनन्तर मार्जालीय, औदुम्बरी, ब्रह्मसदन आदि सभी का उपस्थान विहित है। तदर्थ ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रथम

1. गान विषयक विवरण की दृष्टि से यहाँ उल्लेख्य है कि सभी बहिष्पवमान की 9 ऋचाओं को गायत्रसाम में गाया जाता है, जैसा कि तां० ब्रा० 7.1.1 में कहा गया है –'गायत्रं गेयम्।' इसके प्रस्तावादि का विवरण ला० श्रौ० सू०, वरदराज कृत उपोद्घात तथा गायत्रविधानसूत्रम् के आधार पर गानविषयक परिच्छेद में द्रष्टव्य है।
2. तां० ब्रा० 1.3.5
3. वही, 6.7.24
4. 'उपास्मै गायता नरः' से 'अच्छा समुद्रमिदवो०' तक ये 9 ऋचाएं साम० उत्तरा० 1 प्रपाठक के प्रथम अर्ध में संकलित है।
5. तां० ब्रा० 7.1.1
6. वही 1.3.8

अध्याय के चतुर्थ खण्ड में[1] विभिन्न मन्त्र दिये हुए हैं। 'उपस्थान' को ही 'सर्पण' कहा जाता है।

सदस् में उपवेशन, उपह्वान और भक्षण :

सदस् के द्वार से 'ऋतस्य द्वारो०'[2] मन्त्र से सम्मार्जन करके, 'मा मा सन्ताप्तां०'[3] से प्रवेश किया जाता है। दक्षिण ओर से औदुम्बरी के पास जाकर उद्गातृमण्डल 'नमः सखिभ्य'[4] मन्त्र से बैठ जाता है। तत्पश्चात् उद्गातृ-मण्डल परस्पर उपह्वान करता है। तदनन्तर उद्गाता औदुम्बरी को कुशों और क्षौमादि से वेष्टित कर देता है। इसके पश्चात् सोम-चमसों के अवेक्षण और भक्षण की सुदीर्घ प्रक्रिया हैं।[5] जिसके मन्त्र ताण्ड्य ब्राह्मण के प्रथम अध्याय के पञ्चम खण्ड में दिये गये हैं।[6] इन मन्त्रों में सोम-पान से नेत्रादि इन्द्रियों की सामर्थ्य, इन्द्रियों के रूप में अवस्थित ऋषियों की आप्यायनादि कामनाएँ उल्लिखित हैं। बाद में सोम-पान करने वाले प्रतिहर्ता के द्वारा भी चमस् का अभिमर्शन और अध्यायन (द्रोणकलश से सोमरस लेना) विहित है। इन मन्त्रों में सोम को अन्न-बल-प्राप्ति का निमित्त बतलाया गया है। उद्गाता के चमस को उद्गाता के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं ग्रहण कर सकता। सोम-पान के पश्चात् आचमनादि नहीं होता क्योंकि सोम-पान से उच्छिष्ट दोष नहीं लगता—'न सोमेनोच्छिष्टा भवन्ति'।[7]

'सोम' से आहुति और सोम-पान में अध्वर्यु और होतृमण्डल के अतिरिक्त चमसाध्वर्युओं की भी बड़ी भूमिका है जो यजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों में विस्तार से उल्लिखित है। नराशंस-ग्रहण से पूर्व शुक्र एवं मन्थि ग्रहों का प्रचार उल्लेखनीय है। शुक्रग्रह का ग्रहण अध्वर्यु एवं मन्थिग्रह का ग्रहण प्रतिप्रस्थाता करते हैं। 'अवमैस्त०'[8] मंत्र से नाराशंस होता है। भक्षण के पश्चात् चमसों को पुनः आपूरित कर उन्हें दक्षिण हविर्धान के नीचे रख देना ही 'नाराशंस' है। इसके अनन्तर अच्छावाक् के चमस के उन्नयन, होम और भक्षणादि कृत्य होते हैं। तत्पश्चात् ऋतु-ग्रह का विधान है। वसन्तादि छः ऋतुओं और चैत्रादि द्वादश मासों को जिन

1. तां० ब्रा० 1.4.2 से 1.4.15 तक
2. वही 1.5.1 3. वही
4. वही 1.5.2
5. इस प्रक्रिया के विशेष ज्ञान हेतु का० श्रौ० सू० तथा श्रौतपदार्थनिर्वचनम् के अग्निष्टोम-प्रकरण अवलोकनीय हैं।
6. ता० ब्रा० 1.5.3 से ८ तक
7. भा० श्रौ० सू० 5.6.3 8. ता० ब्रा० 1.5.9

ग्रहों में सोम-प्रदान किया जाता है, वे ऋतु-ग्रह कहलाते हैं। ये ग्रह वस्तुतः दो ही हैं, किन्तु उन्हीं की पौनः पुन्येन आवृत्ति की जाने के कारण उन्हें 'द्वादश ग्रह' कह दिया जाता है। कुछ श्रौतसूत्रों में मलमास (नामान्तर-संसर्प तथा अंहसस्पति) के लिए भी एक 13वें ग्रह का विकल्प दिया गया है। ऋतु-ग्रहप्रदानाख्य कृत्य अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता के द्वारा सम्पादित होता है। इन ऋतु ग्रहों के ग्रहण होम और भक्षण की भी एक विशिष्ट विधि है जो कात्यायन श्रौतसूत्र में अवलोकनीय है।

इसके अनन्तर ताण्ड्य ब्राह्मण[1] में चार आज्यस्तोत्र विहित हैं; ये हैं—'अग्न आयाहि वीतये' से 'इन्द्रमग्निं कविच्छदा'[2] तक 12 मन्त्रों के चार स्तोत्र। इन चार आज्य स्तोत्रों के वैसे तो चार ही देवता हैं, किन्तु ताण्ड्य ब्राह्मण में एक आख्यायिका के माध्यम से इन्हें षड्देवत्य निरूपित किया गया है, जिसका क्रम है—अग्नि, मित्रावरुण, इन्द्र और इन्द्राग्नि।[3] इनका गान भी गायत्र साम में ही विहित है—'एषु च गायत्रमेव साम बहिष्पवमानं प्रकृत्य गायत्रविधानात्। आज्येषु सामान्तरानुपदेशात्।'[4] ये सभी आज्यस्तोत्रपञ्चदशस्तोम युक्त हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में इनके इसी दृष्टि से अभ्यावृत्तगान (Constantly returning) की प्रशंसा की गई है।[5] सभी स्तोत्रों का गान उद्गाता औदुम्बरी के आश्रय में बैठकर करता है। प्रत्येक पर्याय के प्रारम्भ में हिङ्कार का विधान है। प्रस्तोता प्रस्तावान्त में कुशा रखता है। उत्तम स्तोत्रिया की प्रस्तुति करके 'शंसिष्यन्तं प्रत्येष' ऐसा कहा जाता है।

प्रातः सवन में ये ही पाँच स्तोत्र होते हैं—बहिष्पवमान तथा चार आज्य स्तोत्र। इस सवन में शस्त्र भी पाँच ही हैं, जिनमें से दो (आज्य तथा प्रउग) होतृ-साध्य हैं और अन्य तीन आज्यशस्त्र मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसिन् तथा अच्छावाक्-साध्य हैं। सामूहिक रूप से इन सभी को होत्रक कहा जाता है।

यजमानवाचन :

आज्यस्तोत्र के पश्चात् उद्गाता यजमान से वाचन कराये—'स्तुतस्य स्तुतमस्यूर्जस्वत्पयस्वदामास्तोत्रस्य स्तोत्रं गम्यादिन्द्रवन्तो वनेमहि भक्षीमहि प्रजामिषम्।'[6]

इसके पश्चात् नाराशंस-भक्षणादि कृत्य होते हैं।

---

1. वही 7.2
2. सामवेद, उत्तरार्चिक, 1.1.4-7
3. चत्वारि सन्ति षड्देवत्यानि—तां० ब्रा० 7.2.3
4. आ० क०, उपोद्घात, वरदराज, पृष्ठ 33
5. गानविषयक परिच्छेद द्रष्टव्य
6. तां० ब्रा० 1.6.3

माध्यन्दिन सवन के लिए ऋत्विजों का प्रसर्पण :

'सवनसंस्थाओं में सर्पण करो'—ऐसा प्रशास्ता के द्वारा कह देने पर सभी बाहर निकलकर मूत्र-त्याग और आचमनादि करते हैं। यहीं प्रातः सवन के कृत्य सम्पन्न हो जाते हैं।

माध्यन्दिन-सवन

प्रारम्भिक कृत्यों में यजमान के द्वारा रौद्र साम ('लोकद्वारम्'-) का गान, धिष्ण्योपस्थान एवं बहिष्पवमान के समान प्रसर्पण और उपवेशनादि है जैसा कि आपस्तम्ब ने कहा है[1]–'बहिष्पवमानवन्माध्यन्दिनं पवमानं सर्पन्ति।'

प्रातः सवन के समान ही सोमाभिषव, ग्रह-ग्रहणादि कृत्यों के अनन्तर माध्यन्दिन पवमान का उपक्रम किया जाता है।

माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र :

सदस् में समुपविष्ट होकर माध्यन्दिनपवमान की 'उच्चा-पुना-प्रगाथं प्रतुद्०' इन ऋचाओं का जप करते हैं। माध्यन्दिन पवमानस्तोत्र में गायत्री, बृहती एवं त्रिष्टुप् छन्दस्क आठ ऋचाओं के तीन प्रगाथों का समावेश है।[2] इनमें गायत्री-छन्दस्क प्रगाथ आमहीयव साम (साम० 672-74), बृहती छन्दस्क दो ऋचाओं का प्रगाथ 'पुनान०' इत्यादि रौरव (यौधाजय) साम (साम० 675-76) तथा 'प्रतुद' (677-79)–औशनकाव्य साम में प्रगेय हैं। ताण्ड्य के अनुसार इसमें तीन छन्द तथा पाँच साम हैं-गायत्र, आमहीयव, रौरव, यौधाजय तथा औशनकाव्य-'त्रिभिश्च छन्दोभिः पञ्चभिश्च सामभिः।'[3] ये तीन छन्द क्रमशः प्राण, अपान और व्यान के प्रतीक हैं।[4] प्रतिहार भाग का गान प्रतिहर्ता करता है, प्रस्ताव और प्रतिहार को छोड़कर उद्गाता गान करता है और निधन का उच्चारण सभी करते हैं। आमहीयव का निधन भाग है-'स्तौष'-जो ऋगक्षरव्यतिरिक्त है–ऐसे ही यौधाजय और औशन भी निधनरहित अर्थात् ऋगक्षरव्यतिरिक्त निधन भाग वाले हैं; रौरवसाम इडा निधन वाला है–'गायत्रन्निधनवदनिधनमैडम्।'[5]

---

1. आप० श्रौ० सू० 13.2.7
2. माध्यन्दिन पवमानस्तोत्र के मन्त्र-प्रतीक ये हैं- 1. उच्चा तेजात० 2. स न इन्द्राय, 3. एना विश्वान्यर्य आ०, 4. पुनानः सोम धारया, 5. दुहान ऊध०, 6. प्रतुद्रव, 7. स्वायुधः पवते, 8. पिता देवानाम्०।
3. तां० ब्रा० 7.3.2 4. वही 7.3.8
5. वही 7.3.5.

माध्यन्दिनपवमान के अनन्तर भक्षणादि कृत्य प्रातः सवन के समान ही होते हैं। भक्षणान्तर दक्षिणा-प्रतिग्रह होता है।

दक्षिणा :

ताण्ड्य के अनुसार दक्षिणा यज्ञ का संश्लेषक द्रव्य है। जैसे बिना श्लेष्मा के रथ नहीं चलता, वैसे ही श्लेष्मा रहित यज्ञ भी नहीं हो सकता। षड्विंश में कहा गया है कि जैसे आहुतियों से देवों को प्रसन्न किया जाता है, वैसे ही दक्षिणा-दान से मनुष्य देवों को यजमान प्रसन्न कर लेता है–'आहुतय एव भागधेयं देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानाम्। आहुतिभिर्हि देवान् प्रीणाति। दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् शुश्रुवषोऽनूचानान् ब्राह्मणान् प्रीणाति'।[1] दक्षिणायुक्त यज्ञ से ही यजमान को सभी फल प्राप्त हो सकते हैं।[2] इसके पश्चात् नाराशंसभक्षण होता है।

पृष्ठ-होम :

तदनन्तर पृष्ठ-होम करने का विधान है जो प्रस्तोता आहवनीयाग्नि में करता है। दो आहुतियाँ स्वाहान्त 'रथन्तरं पिबतु ओम्यम्०' मंत्र पढ़कर डाली जाती हैं।

---

1. षड्० ब्रा० 1.1.30
2. श्लेष्मा वा एतद्यज्ञस्य यद्दक्षिणा न वा अश्लेष्मारथो वहत्यथ'''एतेन दक्षिणावता यं कामं कामयते तमभ्यश्नुते-तां० ब्रा० 16.1.13

वरदराज ने उपोद्घात में 'द्वादशशतदक्षिणम्' कहकर ज्योतिष्टोम की दक्षिणा 12 सौ गायें बता दी हैं। ताण्ड्य में भी एक स्थान पर 'द्वादश शत दक्षिणा' कहकर 12 सौ गायें दक्षिणा में विहित की हैं। गायों के अतिरिक्त वस्त्र, स्वर्णखण्डादि भी विहित हैं। तां० ब्रा० (6.1.5) के अनुसार अश्वतरी, अग्निष्टोम की दक्षिणा के रूप में नहीं दी जाती; वह अदक्षिणीया है। अत्रिगोत्रज ब्राह्मण को हिरण्य दान का विशेष विधान है (तां० ब्रा० 6.6.1)। अध्वर्यु एवं उसके सहायकों को दक्षिणा हविर्द्धानस्थल में दी जाती है किन्तु अन्य ऋत्विकों को सदोमण्डप में। दक्षिणास्वरूप प्रदेय सभी गायों के चार समान भाग किए जाते हैं, जिनमें से एक-एक भाग प्रत्येक गण को दिया जाता है। प्रत्येक गण की गायों के विभाजन की भी एक पद्धति है, जो इस प्रकार है—यथा, अध्वर्यु को जितनी गायें प्राप्त होती हैं, उसकी आधी प्रतिस्थाता को, अध्वर्यु के भाग का तृतीयांश नेष्टा को और चतुर्थांश उन्नेता को मिलता है। इस कारण इन्हें अर्धिन्, तृतीयिन् और पादिन् भी कहते हैं। ऐसा ही अन्य गणों में भी होता है।

पृष्ठस्तोत्र :

पृष्ठ-होम के पश्चात् चार पृष्ठस्तोत्रों के गान का विधान है। यद्यपि षड्विंश ने प्रथम पृष्ठस्तोत्र के रूप में बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का विधान किया है, तथापि दोनों में से प्रत्येक के पूर्णसमर्थ होने के कारण किसी को भी प्रथम पृष्ठस्तोत्र के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।[2] वरदराज ने सर्वप्रथम रथन्तर का ही इस दृष्टि से उल्लेख किया है।[3] इसलिए प्रथम पृष्ठस्तोत्र 'अभित्वा शूर०' (साम० 680-81) इस रथन्तर साम को ही मानना उपयुक्त है। प्रथम ऋचा का अष्टाक्षर भाग प्रस्ताव है।[4] द्वितीय पृष्ठस्तोत्र है वामदेव्यसाम-'कयानश्चित्र०' (साम० 682-4) पर आश्रित। इसका प्रथम पाद प्रस्ताव भाग है। निधन भाग है- 'हा'। तृतीय पृष्ठस्तोत्र है नौधस् साम--'तं वो दस्मम् ०' (साम० 685-6) पर आश्रित। कालेय साम चतुर्थ पृष्ठस्तोत्र 'तरोभिर्व' (साम० 687-9)। इन सामों की गान-प्रक्रिया और महत्त्वादि गान-विषयक परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

प्रातः सवन की भाँति ही प्रशास्ता के कहने पर निष्क्रमण होता है।

सायंसवन

तृतीयसवन के उपाकरण से पूर्व यजमान 'लोकद्वारम्०' प्रभृति आदित्य और वैश्वदेवसाम का गान तीन बार करता है। स्वाहान्त 'नमः आदित्येभ्यः' मन्त्र से उत्तरवेद्यग्नि में होम भी कर देता है। तत्पश्चात् पूर्ववत् धिष्ण्योपस्थान, उपहव, रराटी-आलभन द्रोणकलशवत् वहाँ अवस्थित कुम्भों का सम्मार्जन और धारा का अनुमन्त्रण इत्यादि किए जाते हैं।

आर्भवपवमान स्तोत्र :

इसमें प्रथम स्तोत्र एक तृच (स्वादिष्ठया 689-91), द्वितीय स्तोत्र दो ऋचाओं (पवस्वादि 692-3) से गठित, तृतीय स्तोत्र तृच (इन्द्रच्छादि 694-6),

---

1. अथ यदेव तत ऊर्ध्वं तानि पृष्ठानि। बार्हतान्येकगायत्रीकाणि।—षड्० ब्रा० 1.3.7-8
2. अत्र यद्यपि ब्राह्मणे बृहद्रथन्तरयोर्द्वयोरपि प्रथमपृष्ठत्वेन विधानं तथापि सामर्थ्यात् तयोर्विकल्पः—आ० क०, उपोद्घात, वरदराज, पृष्ठ 40
3. ताण्ड्य का कथन है—'कस्माद्रथन्तरं पूर्वं योगमानश' (तां० ब्रा० 7.5.9)। इसी को आधृत कर वरदराज का मत है—'ब्राह्मणस्य प्रथमप्रयोगे रथन्तरस्यैव वक्तव्यत्वात् ऋक्समाम्नाये रथन्तरस्तोत्रीयस्यैव प्रथमाम्नानाच्च बृहदाश्रयः परस्तादवक्ष्यते।'
4. 'अष्टाक्षरेण प्रथमाया ऋचः प्रस्तौति-तां० ब्रा० 7.7.1

चतुर्थस्तोत्र तृच ('पुरोजिती' 6.97-9) तथा पंचमस्तोत्र भी तृच (अभिप्रियाणि 700-2) पर आधृत है। इनमें से वरदराज कृत उपोद्घात के अनुसार प्रथम स्तोत्र गायत्र-साम में गेय है[1], यों ताण्ड्य में संहित साम में भी उक्त तृच को गाने का विकल्प दिया गया है[2], वरदराज के अनुसार ताण्ड्य का उक्त कथन 'तासु संहितम्' द्वितीय स्तोत्र के सन्दर्भ में है। द्वितीय और तृतीय स्तोत्रों के साम क्रमशः सफ और पौष्कल हैं, चतुर्थ स्तोत्र श्यावाश्व एवं आन्धीगव सामों में गेय है। पंचम स्तोत्र कावसाम में है। आर्भवपवमान स्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त है। कावसाम में पर्व प्रस्ताव भाग है, शेष मे पाद। सफ और श्यावाश्व में हाइकार निधन है, आन्धीगव में 'तनवे अपश्वानं श्नथिष्टना'–यह अन्तर्निधन है, काव में अन्त्यस्वर निधन भाग है।

इसके पश्चात् यजमान-वाचन और नाराशंस-भक्षणादि कृत्य होते हैं।

यज्ञायज्ञीय साम :

प्रतिहर्ता जब सौम्य चरु का भक्षण कर लेता है, तब अग्निष्टोम-साम अर्थात् 'अज्ञायज्ञा वो अग्नये' इस प्रगाथ में निबद्ध यज्ञायज्ञीय-साम का गान होता है। इसी से अग्निष्टोम सम्पन्न होता है, इसलिए यह 'अग्निष्टोम-साम' भी कहलाता है। एकविंश स्तोम की सप्तसप्तिनी विष्टुति इसके लिए विहित है।

यज्ञायज्ञीय साम के पश्चात् यजमान-वाचन से लेकर दधि भक्षणान्त कुछ अवान्तर कृत्य विहित हैं।

शस्त्रों एवं स्तोत्रों का संहत (Consolidated) विवरण :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अग्निष्टोम में 12 शस्त्रों एवं 12 स्तोत्रों का मुख्यतः विधान है। 12 शस्त्र ये हैं—प्रातःसवन में होतृ-साध्य आज्य तथा

---

1. तत्र स्वादिष्ठया तृचे प्रथमं गायत्रम्। आत्मा वै यज्ञस्य पवमानो मुखं गायत्री प्राणो गायत्रम्। यद्गायत्र्यां गायत्रेण स्तुवन्ति (तां० ब्रा० 7.3.7) इत्यस्य ब्राह्मणस्य गायत्रं पुरस्ताद् भवति। स्वारमन्तत इत्यस्य चोत्रपवमानद्वय-साधारणत्वात् षड्विंशे चार्भवपवमानमधिकृत्य 'द्वे गायत्र्यां सामनी' (षड्० ब्रा० 1.3.12) इति वचनात्। सावित्री गेयं यत्रागीतम्' (देव० ब्रा० 3.23) इति श्रुतेश्च। अतएवापवति ज्योतिष्टोमे कल्पः अन्तरेण गायत्रसंहिते गाय-त्रीसामान्यावपेत् इति। द्वितीयं संहितम्।—आ० क०, उपो०, पृष्ठ 43 —यों पुष्पसूत्र (1.21.7) में 'स्वादिष्ठया' इस तृच को 'संहितसाम' ही कहा गया है-'स्वादि संहितम्।'
2. 'तासु संहितम्' (तां० ब्रा० 8.4.8.) पर सायण का कथन है–'अथोक्ते च तृचे संहितमपि विधत्ते।'

प्रउगशस्त्र; इसके अतिरिक्त तीन आज्यशस्त्र अन्य हैं जो मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी एवं अच्छावाककर्तृक हैं। माध्यन्दिनसवन में होतृ-कर्तृक मरुत्वतीय तथा निष्केवल्य शस्त्र हैं। इनके अतिरिक्त मैत्रावरुण, अच्छावाक् एवं ग्रावस्तुत-साध्य तीन अन्य शस्त्र हैं। सायं सवन में वैश्वदेव एवं आग्निमारुत नामक दो होतृकर्तृक शस्त्र हैं। जहाँ तक स्तोत्रों का सम्बन्ध है, प्रातःसवन में पाँच स्तोत्रों का गान होता है— बहिष्पवमान तथा अन्य चार आज्यस्तोत्र। माध्यन्दिनसवन में माध्यन्दिनपवमानादि पाँच स्तोत्र तथा पृष्ठस्तोत्र विहित हैं। सायं सवन में मुख्यतः ये स्तोत्र हैं—आर्भवपवमान (5) तथा अग्निष्टोम साम। स्तोमों की दृष्टि से त्रिवृत्स्तोम में बहिष्पवमान का, पंचदशस्तोम में चार आज्यस्तोत्रों एवं माध्यन्दिनपवमान का, सप्तदशस्तोम में चार पृष्ठस्तोत्रों एवं आर्भवपवमान का तथा एकविंशस्तोम में यज्ञायज्ञीय-साम का गायन होता है।

द्वादशस्तोत्रों का औचित्य :

ताण्ड्य में प्रदत्त आख्यायिका के अनुसार अग्निष्टोम के द्वादश स्तोत्रों का साम्य संवत्सर के द्वादश मासों से है—'द्वादशेन च स्तोत्रेणाग्निष्टोमस्य पर्यगृह्णात् द्वादशेन च मासा संव्वत्सरस्य।'[1] यह संख्या पशु-समृद्धि की भी कारणभूत है।[2]

आग्निमारुत शस्त्र और यज्ञायज्ञीय-साम का सम्बन्ध अग्निदेवता से है और अग्निष्टोम इन्हीं दोनों से समाप्त होता है. इसलिए वह ब्रह्मवर्चस् का हेतु है।[3]

स्तोमों के विधान का औचित्य :

त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंशस्तोमों के विधान का औचित्य यह कहकर निरूपित किया गया है कि स्तोमों के मध्य ये स्तोम सर्वाधिक शक्तिशाली हैं, इसलिये इनसे स्वर्गलोक की सम्यक् प्राप्ति होती हैं। इनका विधान उसी प्रकार किया गया है जैसे संग्राम में विजयाभिलाषी सम्राट् अपने रथ में सर्वाधिक तीव्रगामी अश्व सन्नद्ध करते हैं।[4]

अवभृथ एवं उदयनीयेष्टि :

अवभृथ-काल में अध्वर्यु–प्रेषित प्रस्तोता उत्तर की ओर से सम्राडासन्दी के पास जाकर अवभृथ–साम (अहावोहावा: अग्निष्टपती—ग्रा० गे० 12.12.4,5.3) का गान करता है। अन्त में सभी ऋत्विक् उसके साथ बोलते हैं। जहाँ अवभृथ इष्टि करनी होती है, वहाँ सोमलिप्त पात्रों को जल में डाल दिया जाता है; यजमान सहित सभी ऋत्विक् स्नान करके देवयजन पर पहुंच करके उदयनीयेष्टि का सम्पा-

1. तां० ब्रा० 6.1.2   2. वही 6.3.3   3. वही 6.3.5
4. तां० ब्रा० 6.4.15

दन करते हैं। सूर्यास्त होने पर आहवनीयाग्नि में अग्निहोत्रादि का सम्पादन किया जाता है। उदयनीय और उदवसानीय इष्टियों में दो साम विहित है— उदवद्भार्गव (साम० 1 पर निबद्ध 555) और उद्वंशीय (गायन्ति त्वा—साम० 1314 –6) ।

रथन्तरपृष्ठ अग्निष्टोम यहीं सम्पन्न हो जाता है। इसके पश्चात् वरदराज ने बृहत्पृष्ठ अग्निष्टोम के आज्यस्तोत्रादि बतलाये हैं। कतिपय स्तोत्रीयाओं और सामों की भिन्नता ही इसका वैशिष्ट्य है।

उक्थ्यसंस्थ ज्योतिष्टोम

'उक्थ्य' की व्युत्पत्ति है—'उत्थाप्यते सोमोऽनेन'—अर्थात् इससे सोम को ऊपर उठाया जाता है। वरदराज के 'तस्य सर्वमग्निष्टोमवत्' से स्पष्ट है कि इसके सम्पादन की प्रक्रिया अग्निष्टोम के सामान ही है। अन्तर केवल इतना है कि अग्निष्टोम के चमस-भक्षण के अनन्तर इसमें 'उक्थ्य' संज्ञक तीन स्तोत्र बढ़ जाते हैं, ये हैं—'एह्यूषु' (705–7) पर आधृत साकमश्वसाम, 'वयमु त्वा०' (708-9) पर आधृत सौरभसाम और 'अधाहीन्द्र०' (710–2) पर आधृत नार्मेध साम ये सभी एकविंश स्तोमयुक्त हैं। इस प्रकार इसमें कुल 15 स्तोत्र (12 + 3) होते हैं। स्तोत्रों के साथ ही 3 शस्त्र भी बढ़ जाते हैं। इसके पशु-याग में एक पशु भी बढ़ जाता है अर्थात् इसमें इन्द्र और अग्नि के निमित्त दो पशु विहित हैं। ब्रह्मवर्चस्, पशु पुरुष और अन्नाद्यादि की कामनाओं के सन्दर्भ में छन्दोगत विकल्प भी उल्लिखित हैं।[1]

ताण्ड्य में षोडशिसंस्थ ज्योतिष्टोम के अनुल्लेख का कारण :

उक्थ्य के अनन्तर 'षोडशी' का निरूपण होना चाहिए किन्तु ताण्ड्य में उसका वर्णन नहीं प्राप्त होता है। इस विषय पर सायण का कथन है- 'एवमुक्तो ज्योतिष्टोमः सर्वप्रकृतिभूतः। स च यद्यपि चतुःसंस्थः तथापि 'न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति' (तै० सं० 6.6.11) इत्यादिश्रुतिः षोडश्यपृथक्त्वादत्र ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादि-संस्थाश्रयात्मक एवोक्तः।[2]

तात्पर्य यह कि तैत्तिरीय शाखा में यह कहा गया है कि 'षोडशी' कोई स्वतंत्र यज्ञ नहीं है, इसीलिए ताण्ड्य में उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया। वस्तुतः ज्योतिष्टोम की तीन संस्थाएँ ताण्ड्य में उल्लिखित हैं। ताण्ड्य के अनुरूप ही यागों की स्तोमक्लृप्ति-विधायक आर्षेयकल्प में अतिरात्रसंस्थ ज्योतिष्टोम के दो भेद

1. तां० ब्रा० 8.8-10
2. तां० ब्रा० 9.3 की अवतरणिका।

बतलाए गये हैं – अषोडशिक और सषोडशिक। षोडशिक अतिरात्र के ही संदर्भ में ताण्ड्य ने षोडशिस्तोत्र और उसके सामों का निरूपण कर दिया है।

अतिरात्रसंस्थ ज्योतिष्टोम

ताण्ड्य के नवमाध्यायगत प्रथम दो खण्डों में इसका विधान हुआ है। यहाँ इसके तीन रात्रिपर्यायों का वर्णन है। ये पर्याय वे चार आवर्त हैं, जिनमें रात्रि के समय तीन स्तोत्रों एवं शास्त्रों का गान एवं पाठ होता है। इस याग में कुल 29 स्तोत्र एवं इतने ही शस्त्र होते हैं। इसका समापन 'अतिरात्र' संज्ञक सामों से होता है।

अषोडशिक पक्ष में, प्रथम पर्याय में 'पान्तमावो अन्धस' (713–5) प्रगाथ पर आधृत वैतहव्य साम, 'प्रव इन्द्राय मादनम्' (716—8) पर आधृत शाक्त्य साम, 'वयमु त्वा' (719–1)-पर आधृत काण्व साम तथा 'इन्द्राय मद्वहने' (722-3) पर आधृत श्रौतकक्ष साम का विधान है। मध्यपर्याय में 'अयं त इन्द्र०'—इस दैवोदास साम, 'आ तू न इन्द्र क्षुमन्तम्०'–इस आकूपार साम, 'अभित्वा वृषभ सुत' इस आर्षभ साम तथा 'इदंवसो सुतमन्धा०--इस गार साम का विधान है। उत्तम पर्याय में माधुच्छन्दस्, दैवातिथ, सौमेध और कौत्स साम विहित है। सान्ध्यकाल में सन्धिसामों का गान होता है। षोडशिक पक्ष में 'इन्द्र जुषस्व०' पर आधृत गौरीवित साम ही षोडशिसाम के रूप में एकविंशस्तोम में गाया जाता है।

अतिरात्रसंस्थ ज्योतिष्टोम में शाखान्तरीय श्रौतसूत्रों के अनुसार चार पशुओं से पशुयाग विहित है।

अग्निष्टोमप्रकरण में विहित क्षुद्रयाग :

ताण्ड्य ब्राह्मण के ज्योतिष्टोम प्रकरण (षष्ठ से नवमाध्याय के प्रथम दो खंडों तक) में विभिन्न कामनाओं के अनुसार कतिपय अवान्तरयागों का उल्लेख हुआ है। इनका विस्तृत विवरण क्षुद्रकल्पसूत्र के प्रथम अध्याय में संकलित हैं जिसमें ताण्ड्य का मात्रआधार लेकर स्तोत्रिया और सामों का निरूपण किया गया है। ये क्षुद्रयाग हैं—ग्राम कामयज्ञ[1-2], प्रजाकामयज्ञ[3], पश्वादिभेषजकामयज्ञ[4]; श्रैष्ठ्य कामयज्ञ[5], मिथःशत्रुभूतबहुयजमानकयज्ञ[6], मिथः सुहृद् बहुयजमानकयज्ञ[7], दीक्षितमहायज्ञ[8], ज्योगामयावियज्ञ[9],

1-2. तां० ब्रा० 5.9.1-2 3. वही 6.9.4-5
4. क्षुद्रकल्पसूत्रम् 1.1.3-4 5. वही 1.1.7
6. वही 1.1.8 7. वही 1.1.9
8. वही 1.1.10 9. 1.2.1

अभिशस्यमानयज्ञ[1], राजयज्ञ[2], राज्ञ ऋद्धिकामयज्ञ[3], द्वियजमान यज्ञ[4], वृष्टिकामयज्ञ[5], गोकामयज्ञ[6], अभिचारयज्ञ[7], पशुकामयज्ञ[8], ज्योगामयावियज्ञ[9], प्रतिष्ठाकामयज्ञ[10], प्रजाकामयज्ञ[11], लोककामयज्ञ[12], भ्रातृव्यवद्यज्ञ[13], विभ्रष्टयज्ञ[14], योनि-यज्ञ[15], ऋद्धिकामोक्थ्य[16], ब्रह्मवर्चसकामोक्थ्य[17], पशुकामोक्थ्य[18], पुरुषकामोक्थ्य[19], अन्नाद्यकामोक्थ्य[20], ज्यैष्ठ्यकामोक्थ्य[21], प्रतिष्ठाकामयज्ञ[22] तथा पशुकामयज्ञ[23]।

व्यूढद्वादशाह

द्वादशाह दो प्रकार का होता है—सत्रात्मक और अहीनात्मक। कात्यायन के अनुसार श्रौतवाक्यों में जहां 'उपयन्ति' एवं 'आसते' आये हैं, वे 'सत्र' के द्योतक हैं और जहाँ 'यजेत्' या 'याजयेत्' शब्द आये हैं, उन्हें—'अहीन' समझना चाहिए।[24] इन दोनों के भी दो अवान्तर भेद हो जाते हैं — समूढ़ एवं व्यूढ, जैसा कि बरदराज का कथन है–

'अथ व्यूढ समूढश्च द्वादशाहो द्विधा मतः।
सत्राहीनत्वभेदेन प्रत्येकं द्विविधः च सः॥'[25]

सायण के अनुसार जहाँ छन्दों का व्यूहन नहीं किया जाता, वह समूढ है और जहाँ किया जाता है, वह 'व्यूढ' है–

'यत्रोक्तं व्यूहनं न क्रियते स समूढः, अपरस्तु व्यूढः।'[26]

---

1. तां॰ ब्रा॰ 1.2-7
2. वही 1.2.8
3. वही 1.2.9
4. वही 1.3.1
5. वही 1.3.2
6. वही 1.3.3
7. वही 1.4.1
8. वही 1.4.4
9. वही 1.4 5
10. वही 1.4.6
11. वही 1.4.7
12. वही 1.4.8
13. वही 1.4.10
14. वही 1.4.11
15. वही 1.4.14
16. वही 1.5.1
17. वही 1 5.8
18. वही 1.6.1
19. वही 1.6.4
20. वही 1.6.9
21. वही 1.6.14
22. वही 1.7.1
23. वही 1.7.3
24. का॰ श्रौ॰ सू॰ 12.1.4
25. आ॰ क॰, उपोद्घात, पृ॰ 6।
26. तां॰ ब्रा॰ 10.5.15 पर सायण–भाष्य

ताण्ड्य में मुख्यतः व्यूढ द्वादशाह का ही वर्णन अभिप्रेत है। छन्दों के व्यूहन की विधि इस प्रकार बतलाई गई है–

'छन्दांसि वा अन्योन्यस्य लोकमभ्यध्यायन्। गायत्री त्रिष्टुभः।
त्रिष्टुप् जगत्याः। जगती गायत्र्याः। तानि व्यौहन् यथालोकम्।'[1]

प्रथम व्यूहन में त्रिष्टुप् के स्थान पर गायत्री, जगती के स्थान पर त्रिष्टुप् और गायत्री के स्थान पर जगती को कर दिया जाता है। व्यूहन के द्वितीय प्रकार में क्रमान्तर हो जाता है अर्थात् गायत्री के स्थान पर त्रिष्टुप्, त्रिष्टुप् के स्थान पर जगती और जगती के स्थान पर गायत्री को रख दिया जाता है।

छन्दोव्यूहन समाप्त होने पर साम-व्यूहन किया जाता है, जैसा कि निदानसूत्र में कहा गया है–

'समाप्ते छन्दोव्यूहे साम-व्यूहं कुरुते।'[2]

द्वादशाह का प्रयोजन :

ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार द्वादशाह देवताओं का ओक (निवास) और गृह है, जैसे यह लोक मनुष्यों का स्थान है[3], इसलिए इसके अनुष्ठान से स्वराज्य, स्वर्गादि लोक, ऐन्द्रिक सामर्थ्य और विराट् सम्पत्ति की प्राप्ति बतलाई गई है।[4] संवत्सरात्मक प्रजापति ने इसकी उपासना से समृद्धि-लाभ किया था, इसलिए यह समृद्धि हेतुक भी है।[5]

दीक्षाएँ, उपसद् एवं प्रसुत :

ताण्ड्यानुसार द्वादशाह में 12 दीक्षाएँ, 12 उपसद् और 12 ही प्रसुत होते हैं—'द्वादश दीक्षा द्वादशोपसदो द्वादशः प्रसुतः।'[6] वे दिन 'उपसद्' कहलाते हैं जिनमें सायं-प्रातः प्रवर्ग्य और उपसद् का अनुष्ठान होता है। ये 12 दीक्षाएँ भी 12 मासों से सम्बद्ध होने के कारण समृद्धिकारिणी होती हैं।

याग के अधिकारी :

द्वादशाह एक ही यजमान के द्वारा अनुष्ठेय है, इसलिए 12 अथवा 24 यजमान सामूहिक रूप से मिलकर अर्थात् एक होकर ही याग की दीक्षा प्राप्त करते हैं।

1. तां॰ ब्रा॰ 10.5.13
2. निदानसूत्र 4. 9.20
3. तां॰ ब्रा॰ 10.5.15
4. तां॰ ब्रा॰ 10.3.3-11
5. एतं द्वादशाहमुपासीदत्सोऽराध्नोत्—तां॰ ब्रा॰ 10 3
6. तां॰ ब्रा॰ 10.3.9

ताण्ड्य में एक अर्थवादात्मिका आख्यायिका के माध्यम से इन अधिकारियों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—'एक ही यजमान को दीक्षा देनी चाहिए, क्योंकि प्रजापति ने अकेले ही इससे समृद्धि-प्राप्त की थी, 12 यजमानों को इस कारण दीक्षा दी जा सकती है, क्योंकि 12 मास इसमें समृद्ध हुए थे; 24 यजमानों को दीक्षा देने का आधार यह है कि इसके अनुष्ठान से 24 पक्ष (अर्द्धमास) समृद्ध हुए थे ।[1] 24 से अधिक यजमानों को दीक्षा देने का निषेध किया गया है ।[2] इनमें से एक गृहपति कहलाता है ।

प्रथम और अन्तिम दिन :

द्वादशाह के प्रथम और अन्तिम दिन अतिरात्र संज्ञक होते हैं । ताण्ड्य के अनुसार प्रथम अतिरात्रसंज्ञक दिन के बाद दो दिन अग्निष्टोमसंस्थ होने चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त अतिरात्रसंज्ञक दिन यज्ञ के चक्षुगोलक स्थानीय हैं और इनके समीप अनुष्ठेय अग्निष्टोमसंस्थ दिन कनीनिका स्थानीय हैं—'चक्षुषी अतिरात्रौ कनीनिके अग्निष्टोमौ ।'[3] अतिरात्रसंज्ञक दिनों में शयन नहीं करना चाहिए,[4] क्योंकि द्वादशाह संवत्सर का दंष्ट्रारूप है । प्रश्न उठाया गया है कि कौन बिना सोये रह सकता है ? उत्तर दिया गया है कि जाग्रत प्रभृति सभी अवस्थाओं में प्राण जागता ही रहता है, उसके जागरण से यजमान का जागरण भी हो जाता है ।

उपर्युक्त चार दिनों के अन्तराल में आठ दिन उक्थ्यसंस्थ होने चाहिए,[5] जैसा कि वरदराज ने कारिकाबद्ध कर दिया है—

> 'तस्याभितोऽतिरात्रौ षोडशिमन्तौ तु कल्पकारोक्त्या ।
> दशरात्रेऽग्निष्टोमावभितोऽष्टौ मध्य उक्थ्याश्च ।।'[6]

---

1. वही 10.3 3. जैमिनीय ब्राह्मण में अधिकारियों का निरूपण और भी अधिक आकर्षक रूप से किया गया है —'यद्य उ भूयांसो यजेरन् द्वादश वा त्रयोदश वा यजेरन्, इमे चत्वारा इमे चत्वारो यमेक इति निर्मिमीरन्, यं कामयेरेन् इमं यज्ञस्य व्यृद्धिर् अन्वियाद् इति, तं हैव यज्ञस्य व्यृद्धिर् अन्वेति; यद्य उ भूयांसो यजेरन् षोडश वा सप्तदश वा यजेरन्निति—इमे चत्वारा इमे चत्वारा इमे चत्वारा इमे चत्वारो यमेक इति निर्मिमीरन्······यद्य उ भूयांसोयजेरंश्च चतुर्विंशतिद् वा ।'—जै० ब्रा० 3.4
2. तां० ब्रा० 10.4 2
3. तां० ब्रा० 10.4.2
4. तां० ब्रा० 10.4.3
5. वही 10.4.5
6. आ० क०, उपोद्घात, पृष्ठ 61

अन्य सोमयागों की भाँति अग्निष्टोम द्वादशाह की भी प्रकृति है, इसलिए द्वादशाहगत दशरात्र के प्रथम त्रिरात्र की क्लृप्ति अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम के प्रातः सवन से द्वितीय त्रिरात्र की क्लृप्ति अग्निष्टोम के माध्यन्दिन सवन से तथा तृतीय त्रिरात्र की क्लृप्ति तृतीय सवन से बतलाई गई है ।[1]

द्वादशाहगत प्रायणीय अतिरात्र—ज्योमिष्टोम के अनुष्ठान में प्रकृतियाग से कुछ भिन्नता भी है । प्रातरनुवाकोपक्रमण-वेला में सुत्याप्रवचनी सुब्रह्मण्या का आह्वान किया जाता है; विश्वरूपा ज्योतिर्गान नहीं होते । सदस् में प्रसर्पण करके उपहवकाल में सभी यजमान परस्पर उपहव करते हैं । चमस भक्षण-काल में उद्गातृ-मण्डल यजमान के चमस का भी भक्षण करता है, क्योंकि वह भी यजमान ही है । माध्यन्दिन और आर्भवपवमानों में उद्गाता आदि सभी हविर्धान में गमन करते हैं ।

ताण्ड्य ब्राह्मण के दशम अध्याय के छठें से ग्यारहवें खण्ड तक पृष्ठ्यषडह के प्रथम, तृतीय और पञ्चम दिन 'राथन्तर' कहलाते हैं—इनमें से प्रथम और पञ्चम दिन त्रिवृत् और त्रिणवस्तोम प्रयोज्य हैं । तृतीय दिन के लिए सप्तदश स्तोम विहित है । द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ दिन 'बार्हत' कहलाते हैं । इन दिनों पञ्चदश और एकविंश स्तोमों का प्रयोग प्रशस्त है ।[2]

पृष्ठ्यषडह के दिनों का विस्तृत विवरण निम्नोक्तवत् है :—

प्रथम दिन :

त्रिवृत्स्तोम, गायत्री छन्द और रथन्तर साम । बहिष्पवमानस्तोत्र में वे नौ ऋचाएँ हैं, जिनमें 'प्रत्न' शब्द लगा है,[3] अर्थात् 'अस्य प्रत्नामनुद्युत०' प्रभृति । 'अग्न आयाहि वीतये', 'आ नो मित्रावरुणा' प्रभृति आज्यस्तोत्र की ऋचाएँ हैं ।[4] माध्यन्दिन पवमानस्तोत्र (प्र सोमासो विपश्चित' इत्यादि) के पश्चात् दधि घर्म का भक्षण विहित है । पृष्ठस्तोत्रगत साम हैं—रथन्तर, वामदेव्य, नौधस और कालेय । 'प्रसोमासो मदच्युत' प्रभृति ऋचाएँ आर्भवपवमान स्तोत्र की स्तोत्रिया हैं । आर्भव में प्रयोज्य अन्य साम हैं—गायत्र, गौरीवित, गौतम तथा काव । इस दिन का समापन 'यज्ञायज्ञीय०' अग्निष्टोम साम से विहित है । त्रिवृत्स्तोम की किस विष्टुति का किस स्तोत्र के सन्दर्भ में प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में शाण्डिल्य, शाण्डिल्यायन, धानञ्जय्य प्रभृति सूत्रकारों के मध्य किञ्चित् मतभिन्नता है जिसके लिए वरदराज-कृत उपोद्घात द्रष्टव्य है ।[5]

---

1. तां० ब्रा० 10.5.17
2. तां० ब्रा० 10.2.5-6
3. वही 11.1.1
4. वही 11.2.3
5. आ० क०, उपो० पृष्ठ 67

द्वितीय दिन :

पञ्चदशस्तोम, त्रिष्टुप् छन्द और बृहत्साम। बहिष्पवमान का प्रथमतृच (प्रतिपत्) है 'पवस्व वाचो॰' प्रभृति। 'अग्निंदूतं॰' प्रभृति ऋचाएँ आज्यस्तोत्र में हैं। माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र में 'वृषा पवस्वधारया॰' प्रमुख स्तोत्रिया है, जिसकी ब्राह्मण में भूयसी अर्थवादात्मिका प्रशंसा की गई है।[1]

तृतीय दिन :[2]

सप्तदशस्तोम, जगती छन्द और वैरूप साम।

चतुर्थ दिन :

एकविंशस्तोम, अनुष्टुप् छन्द और महावैराजसाम। इस दिन के अनुष्ठान से श्री का विशेष लाभ होता है।

पञ्चम दिन :

त्रिणवस्तोम, पंक्तिच्छन्द, शाक्वरसाम।

षष्ठ दिन :

त्रयस्त्रिंशस्तोम, रेवतीसाम, सभी छन्द। षडहसमाप्ति के पश्चात् ऋत्विकों को बहुत नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि वाणी श्रान्त हो चुकी होती है— ऊहुषीक वा एतर्हि वाग्यदा षडहः सन्तिष्ठते न बहु वदेन्नान्यं पृच्छेन्नान्यस्मै प्रब्रूयात्' (तां॰ ब्रा॰ 13.12.14)

दूसरी बात यह कि इस दिन ऋत्विकों को मधुसिक्त अथवा घृताक्त भोजन कराना चाहिए (वही 13.12.15)।

ताण्ड्य ब्राह्मण के 11वें से 13वें अध्याय तक प्रत्येक दिन के बहिष्पवमान, आज्यस्तोत्र, पृष्ठस्तोत्र, माध्यन्दिनपवमान तथा आर्भवपवमान स्तोत्रों की स्तोम-क्लृप्ति (तद्गत सामों तथा स्तोत्रीय ऋचाओं) का औचित्य-प्रदर्शनपूर्वक निरूपण हुआ है। 14वें और 15वें अध्यायों में तीन छन्दोम दिनों के स्तोत्रों, सामों और स्तोत्रीय ऋचाओं का उल्लेख हुआ है। ताण्ड्यब्राह्मणगत यह विवरण इतना विस्तृत और स्पष्ट है कि आर्षेय-कल्पकार ने आर्षेयकल्प में इसे दोहराने की आवश्यकता नहीं समझी।

---

1. तां॰ ब्रा॰ 11.8
2. स्तोत्रीय ऋचाएँ विवरण को नीरस होने से बचाने के लिए नहीं दी गईं, उन्हें आर्षेयकल्प के उपोद्घात (पृष्ठ 66 से 89 तक) में देखना चाहिए। ताण्ड्य में ऋचाओं की अर्थवादमयी प्रशंसा द्रष्टव्य है।

ताण्ड्य ब्राह्मण के रचयिता की दृष्टि में द्वादशाह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण याग है, जिसके प्राय: औद्गात्र-तन्त्र के निरूपण के लिए पूरे छ: अध्याय (अर्थात् सम्पूर्ण ब्राह्मण का एक चौथाई भाग) प्रयुक्त हुए हैं। एक स्थान पर द्वादशाह के अनुष्ठान का सादृश्य समुद्रावगाहन से स्थापित कर ब्राह्मणकार ने अपने मनोगत को स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—'समुद्रं वा एते प्रस्नान्तीत्याहुर्य्ये द्वादशमुपयन्तीति।'[1] द्वादशाह को इतना अधिक महत्त्व देने का मूल कारण यह है कि यह ताण्ड्य में आगे विधीयमान द्विरात्रप्रभृति अहीनयागों और एकादशरात्र प्रभृति सत्रयागों का प्रकृतिभूत है।

ताण्ड्य में व्यूढद्वादशाह का ही विवरण समुल्लिखित है, यह ऊपर कहा जा चुका है। इसके समूढ प्रकार का विवरण ताण्ड्य में न मिलने का कारण आर्षेय-कल्प[2] में विस्तार से दिया गया है जैसा कि सायण का कथन है—'एवं द्वादशाहस्य व्यूढस्य दशरात्रस्य स्तोमक्लृप्तिरुक्ता। समूढस्य तु कल्पकारोक्तप्रकारेणाव-गन्तव्या।'[3]

द्वादशाह की दक्षिणा—सत्रात्मक द्वादशाह में, चूँकि ऋत्विक् भी यजमान होते हैं, इसलिए लाट्यायन के अनुसार किसी को दक्षिणा नहीं दी जाती—

'स्वामिनो हि सर्वे सर्वेषु। तेषां प्रतिग्रहं न विद्यते।'[4]

इसके विपरीत स्थिति है अहीनात्मक द्वादशाह की, जिसमें विभिन्न श्रौतवचनों के अनुसार ऋत्विकों को एक सहस्र या इससे अधिक गायें दक्षिणास्वरूप प्रदान की जाती हैं क्योंकि फल यजमान को प्राप्त होता है।

गवामयन सत्र

ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार पहले गायों ने इस सत्र का अनुष्ठान किया था, इसीलिए इसका नाम 'गवामयन' पड़ा—'गावो वा एतत् सत्रमासत।'[5] तैत्तिरीय संहिता[6] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[7] में भी उसी प्रकार के वचन प्राप्त होते हैं।

दीक्षा-काल :

गवामयन का दीक्षा-काल पहले 'एकाष्टका' अर्थात् माघकृष्णा अष्टमी बतलाया गया है;[8] किन्तु इसमें दो दोषों को दिखलाकर कहा गया है कि एकाष्टका

---

1. तां० ब्रा० 14.5.17 2. आ० क० 7.24
3. तां० ब्रा० 16वें अध्याय की उपक्रमणिका।
4. ला० श्रौ० सू० 10.17.17
5. तां० ब्रा० 4.1.1 6. तै० सं० 7.4.8
7. ऐत० ब्रा० 4.3.3 8. तां० ब्रा० 5.9.1

को दीक्षा नहीं होनी चाहिए—'तस्मादेकाष्टकायान्न दीक्ष्यम् ।'[1] दूसरा मत फाल्गुनी पौर्णमासी का है, क्योंकि फाल्गुन मास वर्षा (संवत्सर) का मुख है, इसलिए शोभन माना गया है, किन्तु इसमें भी एक दोष दिखलाकर तृतीयमत उपन्यस्त किया गया है; वह है चित्रायुक्त पौर्णमासी का, इससे चार दिन पहले दीक्षा हो जानी चाहिए । यह मत सर्वथा निर्दोष है ।

सत्रियों का सशिख वपन :

ताण्ड्य ब्राह्मण (4.9.22) के अनुसार दीक्षा की आनुपूर्वी (क्रम) से सत्रियों के शिखासहित समस्त केशों का गवामयन में वपन होता है—'शिखा अनुप्रवपन्ते ।'

अनुष्ठान की अवधि :

प्रौढ़ ब्राह्मण के चतुर्थाध्याय के प्रारम्भ में आख्यायिका के माध्यम से दो प्रकार का गवामयन बतलाया गया है—दस मास में सम्पन्न होने वाला तथा बारह मासों में सम्पद्यमान । गायों की समृद्धि का उल्लेख करके ताण्ड्यकार ने परोक्षरूप से 12 मासों (361 दिनों) में सम्पद्यमान गवामयन का ही प्राशस्त्य ज्ञापित किया है ।[2]

अनुष्ठान-दिवसों का विवरण :

गवामयन के दो पक्ष हैं—पूर्व और उत्तर; इनमें से प्रत्येक छः मास का होता है; प्रत्येक का पृथक्-पृथक् अनुष्ठेय कृत्य-कलाप संक्षेप में इस प्रकार है—

पूर्व पक्ष

अतिरात्र और प्रायणीय दिन	= 2 दिन
प्रथम मास—चार अभिप्लवषडह और एक पृष्ठ्यषडह	= 30 दिन
द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम मास उपर्युक्तवत्	= 120 दिन
षष्ठ मास—तीन अभिप्लवषडह, एक पृष्ठ्यषडह, अभिजित (एक दिन), तीन स्वरसाम (तीन दिन)	= 23 दिन
इन 28 दिनों में प्रारम्भ के अतिरात्र और प्रायणीयमहः को मिलाने से 30 दिन पूरे हो जाते हैं, और इस प्रकार छः मास पूर्ण हो जाते हैं ।	= 180 दिन
उत्तरपक्ष के अनुष्ठान से पूर्व एक विषुवत् दिन	= 1 दिन

1. वही 5.9.6

2. वही 4.1

विषुवत् दिन संवत्सरसत्र (गवामयन) का मध्यवर्ती दिन माना जाता है—'विषुवान् एष संवत्सरस्य सत्रस्य मध्यतो भवति।'[1]—ताण्ड्य में इसे गवामयन की आत्मा भी कहा गया है—'आत्मा वा एष संवत्सरस्य यद्विषुवान्।'[2] किन्तु इस दिन की गणना न तो मास में होती है और न संवत्सर में ही।

उत्तर पक्ष

गवामयन के उत्तरपक्ष में दिनों का विभाजन विपरीत ढंग से होता है, उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है :—

सप्तम मास—3 स्वरसाम (प्रतिलोम रीति से), विश्वजित्, पृष्ठ्यषडह तथा तीन अभिप्लवषडह	= 28 दिन
अष्टम मास—एक पृष्ठ्यषडह तथा चार अभिप्लवषडह	= 30 दिन
नवम, दशम और एकादशमास—उपर्युक्तवत्	= 90 दिन
द्वादशमास—तीन अभिप्लवषडह, गोष्टोम और आयुष्टोम (दोनों ही उक्थ्यसंस्थ) और द्वादशाह के दशाह	= 30 दिन
इसके पश्चात् महाव्रत और अतिरात्र उत्तर पक्ष के दिनों का कुल योग	= 180 दिन
गवामयनसत्र में लगने वाले दिनों का योग[3]	= 361 दिन

---

1. सायण, तां० ब्रा० 4.6.1 पर भाष्य 2. तां० ब्रा० 4.7.1

3. आर्षेयकल्प के गवामयन-प्रकरण में वरदराज ने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है—'इह गवामयनस्य एकषष्ट्यधिकं शतत्रयं सौत्यान्यहानि सन्ति।···तद्यथा अतिरात्रश्चतुर्विंश प्रायणीयमहश्चत्वारोऽभिप्लवाः षडहाः। पृष्ठ्यः षडहः। इति प्रथमो मासः। स द्वितीयः। स तृतीयः। स चतुर्थः। स पञ्चमः। इति पञ्चमासाः। अथ षष्ठे मासि त्रयोऽभिप्लवाः षडहाः। पृष्ठ्यः षडहोऽभिजित् त्रयः स्वरसामानः (तां० ब्रा० 24.20.1) इत्यष्टाविंशतिरहानि। अतिरात्रश्चतुर्विंशाभ्यां सह षष्ठो मास इति पूर्वः पक्षः। मध्ये विषुवान् दिवाकीर्त्यमहः। अथोत्तरः पक्षः त्रयः स्वरसामानो विश्वजित् पृष्ठ्यः षडहः त्रयस्त्रिंशारम्भणः त्रयोऽभिप्लवाः षडहा इत्यष्टाविंशतिरहानि। व्रतातिरात्राभ्यां सह प्रथमो मासः।···पृष्ठ्यः षडहस्त्रयस्त्रिंशारम्भणश्चत्वारोऽभिप्लवाः षडहा इति द्वितीयो मासः। तथैव तृतीयस्तथैवचतुर्थस्तथैव पञ्चमः। त्रयोऽभिप्लवाः षडहा आयुश्च गौश्च द्वे अहनी द्वादशाहस्य द्वादशाहानि इति षष्ठो मासः। अथ महाव्रतं चातिरात्रश्च। तौ च प्रथममासपूरकावित्युक्तम्।

अनुष्ठान का विस्तृत विवरण

अतिरात्र गवामयन का प्रथम दिन है। ताण्ड्यगत अर्थवाद के अनुसार प्रजापति ने इसके अनुष्ठान से दिन और रात्रि को उत्पन्न किया था--'स एतमतिरात्रमपश्यतमाहरत्तेनाहोरात्रे प्राजनयत्।'[1] यह अतिरात्र षोडशिरहित होता है। दूसरा दिन प्रायणीय होता है, जिसकी सार्थकता यह है कि देवों ने इसके सम्पादन से स्वर्ग-प्राप्ति की थी—'प्रायणीयेन वा अह्ना देवाः स्वर्गं लोकं प्रायन्यत् प्रायंस्तत्प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्।'[2] इस दिन के सभी स्तोत्र चतुर्विंशस्तोमक होते हैं, क्योंकि यह दिन उक्थ्यसंस्थ है—'इदमहरुक्थसंस्थस्तत्र सर्वेषु चतुर्विंश एव स्तोमः कार्य्यः।'[3] 15 स्तोत्र और 15 शस्त्र होते हैं—'पञ्चदशस्तोत्राणि पञ्चदश शस्त्राणि...।'[4] इस दिन विशेष रूप से विहित साम हैं—गायत्र, आमहीयव, ऐड सौपर्ण, रोहितकूलीय, गौङ्गव, अभीवर्त, यज्ञायज्ञीय इत्यादि।

प्रथम मास :

ज्योतिः, गौः, आयुः गौः, आयुः और ज्योतिः—इन छः दिनों का सामूहिक नाम अभिप्लव षडव है, प्रथम ज्योतिः एकाह में ज्योतिष्टोम—अग्निष्टोमसंस्थ के स्तोम विहित है, दूसरा ज्योतिः एकाह उक्थ्यसंस्थ भी किया जा सकता है। इस अभिप्लव षडह की चार बार आवृत्ति की जाती है। इन आवृत्तियों में कुछ सामों का परिवर्तन हो जाता है, अथवा उनका स्थान परिवर्तित हो जाता है ताकि जामि दोष (नीरसता) का परिहार हो सके—'एतच्चाजाम्यर्थम्।[5]

इसके अनन्तर पृष्ठ्यषडह का अनुष्ठान होता है जो द्वादशाह के दशरात्रगत षडह के समान है—ताण्ड्य के 10-15 अध्यायों में उसका वर्णन हुआ है, अन्तर केवल यह है कि आर्षेय कल्प के अनुसार यहाँ अभीष्ट षडह व्यूढ के स्थान पर समूढ प्रकार का होता है; जिसकी क्लृप्ति आर्षेयकल्प में विस्तार से दी गई है।[6] इस षडह में प्रतिदिन एक के अनुसार त्रिवृदादि छःस्तोम विहित हैं। इनकी स्तोम और साम क्लृप्ति के विस्तृत विवरण के लिए आर्षेयकल्प[7] द्रष्टव्य है। अगले 5 मासों तक इन्हीं षडहों की आवृत्ति बिना किसी परिवर्तन के, की जाती है।

षष्ठ मास :

छठे मास में चार के स्थान पर केवल तीन अभिप्लव षडहों का अनुष्ठान होता है जैसा कि सायण का कथन है-- 'षष्ठे मासि त्रीनभिप्लवान् एकं पृष्ठ्यञ्च कृत्वा

---

1. तां० ब्रा० 4.1.4; 2. वही 4.2.2;
3. सायण, तां० ब्रा० 4.2.4 पर भाष्य 4. तां० ब्रा० 4.2.9
5. आ० क० 1.8; पृष्ठ 107 6. वही 7. वही

अभिजिदनुष्ठेयः ततस्त्रयः स्वरसामानः ततो विषुवानिति ।' अभिजित्[1] का आगे एकाहों के प्रसंग में स्वतंत्रनिरूपण करने के कारण चतुर्थाध्याय में उसका विवरण नहीं दिया गया और ब्राह्मणकार सीधे स्वरसामों पर आ गये, किन्तु आर्षेयकल्प में इसकी क्लृप्ति दी गई है । तद्गत वैशिष्ट्य यह है कि त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिषव और त्रयस्त्रिंश--ये छः स्तोम चार भागों में (प्रत्येक भाग में तीन स्तोम होते हैं) विभक्त किये जाते हैं, जैसा तां० ब्रा० में कहा गया है'- 'त्रींस्त्रिवृदभिजितः प्रणयन्ति त्रीन् पञ्चदश त्रीनेकविंश ।'[2]

स्वरसाम :

अभिजित् तथा विषुवान् के मध्य स्वरसामों के रखे जाने का औचित्य ताण्ड्य में यह बतलाया गया है कि ये विषुवदात्मक आदित्य की रक्षा करते हैं, क्योंकि स्वर्भानु नामक असुर ने जब आदित्य को अन्धकार से आच्छन्न कर लिया, तब देवों ने इन्हीं सामों से आदित्य को अन्धकार से मुक्त किया था ।[3] ये स्वरसाम उक्थसंस्थ होने चाहिए या अग्निष्टोमसंस्थ ?—इस विषय में ताण्ड्य में दोनों पक्षों के गुणावगुणों की मीमांसा करके अग्निष्टोमसंस्थ ही करने का निर्णय दिया है-- 'अग्निष्टोमा एव सर्व्वे कार्य्याः ।'[4]

विषुवत् :

इसे 'दिवाकीर्त्यमहः' भी कहा गया है । यह पूर्वोत्तर पक्षों का संक्रमणबिन्दु है । इसके अनुष्ठान से यजमान को देवलोक की प्राप्ति होती है । इस दिन के सभी स्तोत्र एकविंशस्तोमक होते हैं । इस दिन के बहिष्पवमान की प्रतिपत् अर्थात् प्रथम तृच 'वायो शुक्रो अयामित०' को बतलाया गया है ।[5] महादिवाकीर्त्यसाम इस दिन का विशिष्ट साम है ।

उत्तर पक्ष

पूर्वपक्ष में अनुक्रान्तमासों का क्रम परिवर्तित हो जाता है, और वे अवरोहक्रम से अनुष्ठित होते हैं--'प्रत्यवरोहिणो मासा भवन्ति ।[6] ताण्ड्य में एक आख्यायिका के माध्यम से इस विपरीत क्रम का औचित्य प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि लोक में जैसे पहले मूल से आरम्भ करके वृक्ष शिखर पर आरोहण किया जाता है,

---

1. तां० ब्रा० 4.5 की अवतरणिका
2. तां० ब्रा० 16.4.12 3. वही 4.5.2
4. वही 4.5.20 5. वही 4.6.6
6. वही 4.7,9

तत्पश्चात् ऊपर से नीचे उतरते हैं, इसी प्रकार छः मास तक यजमान ऊर्ध्वारोहण, तदनन्तर अवरोह--क्रम से अनुष्ठान कर लोक में प्रतिष्ठित होते है---यथा वा इतो वृक्षं रोहन्त्येवमेनं प्रत्यवरोहन्ति स्वर्गमेव तल्लोकं रुढ्वास्मिंल्लोके प्रतिष्ठन्ति।'[1]

सप्तम मास :

यह षष्ठ के समान ही होता है, केवल क्रमान्तर हो जाता है तथा अभिजित् के स्थान पर विश्वजित् का अनुष्ठान होता है। स्वरसामों में, षष्ठमास का तीसरा स्वरसाम पहला हो जाता है और पहला तीसरा। पृष्ठ्यषडह और अभिप्लव षडह में यही स्थिति होती है। अभिप्लव षडह के छठें दिन का अनुष्ठान पहले दिन तथा पंचम दिन का दूसरे दिन होता है-- इसी प्रकार से अन्य दिनों में परिवर्तन हो जाता है। विश्वजित् का विवरण एकाहों के प्रसंग में द्रष्टव्य है। त्रिवृदादि छः स्तोमों की तीन-तीन के अनुसार चतुर्वारता अभिजित् के समान विश्वजित् में भी बनी रहती है। सातवाँ मास वास्तव में 28 दिन ही रहता है--इसकी पूर्ति अन्त के दो दिनों (महाव्रत और उदनीय अतिरात्र) से समझी जाती है।

अष्टम से द्वादश मास :

अष्टम माम में पूर्वपक्षगत पञ्चममास के एक पृष्ठ्यषडह और चार अभिप्लव षडहों का अनुष्ठान विपरीत क्रम से होता है। 12 वें मास तक पूर्वपक्ष में उल्लिखित कृत्यों का ही अनुष्ठान कुछ परिवर्तित साम-क्लृप्तियों के साथ होता रहता है। इसी कारण ताण्ड्य में विषुवत् के पश्चात् 12 वें मास के गोष्टोम और आयुष्टोम का विवरण दिया गया है जो उक्थ्य रूप से अनुष्ठेय हैं। इनकी क्लृप्तियाँ और अन्य विवरण प्रायः सत्रभूत व्यूढद्वादशाह के दशरात्र के समान ही है।

महाव्रत :

गवामयन का यह उपान्त्य दिन है। श्रान्त क्लान्त ऋत्विकों और यजमानों के द्वारा मनोरंजन और विश्रान्ति हेतु अनुष्ठेय यह एक रुचिर दिन समझा जाता है। इस दिन अधिकांश ऐसे आमोद-प्रमोदपूर्ण कृत्य सम्पन्न होते हैं, जो वस्तुतः आनन्द और उल्लास को उत्पन्न करने वाले हैं। महाव्रत का सम्बन्ध प्रजापति से है, वह महान् है और उसी का यह व्रत है --'प्रजापतिर्वाव महांस्तस्यैतद्व्रतम्।'[2] महाव्रत के स्तोत्रादि का निरूपण प्रतीकात्मक रूप से उसे पक्षिरूप बतलाकर विभिन्न अंगों के रूप में किया गया है। होता का पंचविध पृष्ठस्तोत्र ही महाव्रताख्य है, जिसके विभिन्न स्तोत्र पक्षिरूपी महाव्रत के शिर, दोनों पंखों, पुच्छ और आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'परिमात्' कहे जाने वाले 13 साम पृष्ठस्तोत्र के अंगभूत हैं

1. तां० ब्रा० 4.7-10

1. तां० ब्रा० 4.10-2

जो पक्षी के लोमनखादिस्थानीय है। इन अंगभूत सामों का गान केवल उद्गाता एक बार करता है, निधन और मध्येनिधन भाग के गान-काल में प्रस्तोता और प्रतिहर्त्ता उसके साथ सम्मिलित हो जाते हैं। ताण्ड्य में, इस प्रसंग में विवाद उठाया गया है कि समस्त उद्गान उद्गाता ही करे, अथवा अध्वर्यु और होतृ-मण्डल भी उसमें सम्मिलित हो जाये ? इसका निर्णय यह किया गया है कि उद्गाता ही उद्गान करे, क्योंकि ऋग्वेदाध्यायी और यजुर्वेदाध्यायी के लिए साम का अध्ययन अनियत है, इसलिए उद्गाता के लिए यह कार्य करणीय है—'उद्गातैव सर्वेण शिरः प्रभृतिकेन महाव्रतस्तोत्रेण उद्गायेत···स्वशाखात्वेन सम्यगधीतत्वात् स्वरादिविकल्पाभावेन सम्यक् प्रयुक्तत्वात् तदेव स्तोत्र समृद्धं भवति (–सायण)।' साम-गाताओं की मण्डली महावेदी के विभिन्न स्थानों पर निर्धारित मार्ग से घूम-घूम कर साम-गान करती हुई सम्पूर्ण वातावरण को साम-ध्वनि से गुंजायमान कर देती है। इस दृष्टि से आहवनीय के समीप प्राण साम, चित्याग्नि के समीप अपानसाम तथा व्रतपक्ष नाम के दो साम, चात्वाल के समीप वासिष्ठ निहव साम, आग्नीध्र के समीप सत्रस्यार्द्धि साम, हविर्द्धान के समीप श्लोक और अनुश्लोक साम, मार्ज्जालीय के समीप याम साम, सदस् के समीप आयु तथा नौ स्तोमों और गार्हपत्य के समीप ऋश्यसाम का गान कर उपस्थान किया जाता हैं।[1] गीयमान सामों के साथ वेदी के सभी कोनों में दुंदुभियों का वादन भी किया जाता है– 'सर्व्वासु स्त्रक्तिषु दुन्दुभयो वदन्ति।[2] उद्गाता उदुम्बरकाष्ठ से बनी आसन्दी पर आरोहण करके उद्गान करता है। होता प्रेङ्खा (दोला) पर आरोहण करके शंसन करता है, अध्वर्यु फलक पर आरोहण करके निष्केवल्य शस्त्र का प्रतिगीर्णन करता है। मैत्रावरुणादि अन्य ऋत्विक् कूर्च्चों पर बैठकर अपना कार्य निष्पन्न करते हैं।[3]

इसके पश्चात् एक शूद्र सत्रियों की निन्दा करता है और एक ब्राह्मण उनकी प्रशंसा। ये निन्दक और प्रशंसक क्रमशः 'अपगर' और 'अभिगर' कहलाते हैं। शूद्र और आर्य (ब्राह्मण) के निन्दा–प्रशसापरक विवाद में अन्त में ब्राह्मण की विजय होती है[4]। सभी लोग विभिन्न प्रकार की बोलियाँ,जिनमें ग्राम्यबोलियाँ भी सम्मिलित है, बोलते हैं–सर्वाः संस्कृताश्चासंस्कृताश्च ग्राम्यवाचश्च वदन्ति।'[5]

---

1. वही, 5.4
2. वही 5.6.18
3. तां० ब्रा० 5.5
4. वही 5.6.13-14
5. सायण, तां० ब्रा० गत 'सर्व्वा वाचो वदन्ति' (5.6.20) पर भाष्य।

तत्पश्चात् हस्त-त्राण, धनुष-बाण लिये हुए कवचधारी राजपुरुष रथ पर आरोहण करके देवयजन के चारों ओर गमन करते हैं—सन्नद्धाः कवचिनः परियन्ति।'[1] आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराज ने राजा और सचिवों के इस देवयजन–परिभ्रमण का विस्तृत विवरण दिया है।[2] उद्गान के समय यजमान-पत्नियाँ अपघाटिला नामक काण्डमयी वीणा तथा वाण नाम्नी महावीणा, जिसमें 100 तन्त्रियाँ होती हैं, का वादन करती है।[3] वरदराज ने इस सन्दर्भ में सदस् पूर्वद्वार पर अलावु वीणा, वक्रा (समतन्त्रीका वेत्रवीणा) कपिशीर्ष्णी, पिशीलवीणा (शूर्पा नाम्नी) तथा पिच्छोरा, प्रभृति वीणाओं के वादन का भी उल्लेख किया है।[4]'

यजमान के द्वारा प्रेषित, सजल घट लिए हुए स्त्रियाँ 'यह मधु है, यह मधु हैं'--इसका पौनःपुन्येन उच्चारण करती हुई मार्जालीय धिष्ण्य के चारों ओर नृत्य करती हैं।[5] ए० बी० कीथ ने महाव्रतगत इस नृत्य को कुमारी कन्याओं के द्वारा क्रियमाण नृत्य बतलाया है, जिसका प्रयोजन वर्षा का आवाहन और पशु-समृद्धि था।[6] वेदि से बाहर ब्रह्मचारी और पुंश्चली अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री में संवाद

1. तां० ब्रा० 5.5.1
2. आ० क० (2 11) की व्याख्या, पृष्ठ 145-146
3. तां० ब्रा० 5.6.8; 12;13
4. आ० क० (2.11) की व्याख्या, पृष्ठ 149 से 152
5. परिकुम्भिन्यो मार्जालीयं यन्तीदम्मधिवदम्मधिवति'—तां० ब्रा० 5.6.15
6. A B. Keith : Thus at the Mahāvrata, maidens dance round the fire as a spell to bring down rain for the crops, and to secure the prosperity of the herds. —SANSKRIT DRAMA.

   प्रो० कीथ ने कुछ इसी प्रकार के विचार अन्यत्र भी महाव्रत के विषय में व्यक्त किये हैं—Warriors fully armed, pierce with arrows the outstretched skin of a barren cow which is probably a rain spell. An Ārya and Ṣudra strive on a round hide, the Aryan proving victorious, which may be interpreted as a spell to produce sunshine. Servant maids encircle the मार्जालीय fire with Jugs of water on their heads either thrice or until the Mahāvrata Stotra is finished, evidently as a magic rite to procure sunlight and rain for the crops sympathetic magic is shown in the effort to produce fertility by *maithuna*. Music is

होता है, जिसका विवरण जैमिनीय ब्राह्मण, श्रौतसूत्रों और आ० क० की व्याख्या में वरदराज ने दिया है। जै० ब्रा० ने परिवृत स्थान पर किसी मागध पुरुष और पुंश्चली स्त्री के मैथुनरत होने का उल्लेख भी किया है।[1] वरदराज ने यह विवरण वहीं से लिया है; उनके शब्दों में—'पश्चिमेनाग्निध्रीयं बहिर्वेदि परिश्रिते मिथुनौ संभवेताम्। यौ वर्णौ लभेरन्। संभवो मैथुनम्।'[2] ताण्ड्य इस विषय में मौन है और शांखायन श्रौतसूत्र में तो यह कृत्य स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है।[3] मेरे विचार से यहाँ युग्म संस्थिति मात्र विहित है, वास्तविक सम्भोग नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि महाव्रत के इन कृत्यों का प्रयोजन वर्ष भर की नीरसता का अपनयन है। इस विषय में आर्षेयकल्प के प्राक्कथन में प्रकट डा० वे० रा० शर्मा का अभिमत यथार्थ ही है।[4]

ब्राह्मण-भोजन :

अन्य दिनों के विपरीत, महाव्रत के दिन सभी यजमानों के घर में ब्राह्मण-

---

played and obscene language is used, both possibly with the same object to terrify away hostile demons, especially as the form of music affected is drumming—A. B. Keith. Introd-ction to ऐतरेय आरण्यक, Page 28.

1. जैमि० ब्रा० 2.404
2. आ० क० (2.11 त्र की व्याख्या,) पृ० 153
3. शां० श्रौ० सू० 17.6.2
4. This ensues much elaborate performance of playing of Vinas of different kinds, movements of priests and audience in the YaJnasala, conversation between a brahmacarin and a pums-cali, and the consequent rites—all tending to exhilerate the gatherings and providing enJoyment to the invocent minds of unsophisticated peasantry of a by gone age. This vrata; which is an admixure of religious and secular rites, offers much needed relief to the Rtviks, the Yajmāna and the other funct-ionaries, who have been bound by the rigid rules of the monotonous rituals extending one full year. It truly breathes afresh in them a new spirit of mundane life.

—Arseyakalp, Introduction.

भोजन हेतु अन्न-पाक किया जाता है—'कुले-कुलेऽन्नं क्रियते तद्यत्पृच्छेयुः किमिदं कुर्व्वन्तीतीमे यजमाना अन्नमत्स्यन्तीति ब्रूयुः।'[1]

उदयनीय अतिरात्र :

यह गवामयन का समापन-कृत्य है। सत्रसदृश प्रत्येक दीर्घकालिक याग (प्रायणीय) अतिरात्र से प्रारम्भ होता है और अतिरात्र (उदयनीय) से ही सम्पन्न होता है। दोनों ही अतिरात्रों की क्लृप्ति और प्रक्रिया प्रायः समान है जैसा कि आ० क० और उसके व्याख्याकार का कथन है--'अथोदयनीयाऽतिरात्रस्य तस्य सत्रस्यद्धर्यादि। तस्य क्लृप्तिमाह-

'क्लृप्त उदयनीयोऽतिरात्रो यथा प्रायणीयो यथा प्रायणीयः।'[2]

इसमें सोम-विमोक से लेकर दधि-भक्षणान्त कृत्यों के अनुष्ठित हो जाने पर अवभृथ का सम्पादन होता है। अतिरात्र के अन्त में पृष्ठशमनीय कृत्यों का अनुष्ठान एतदर्थं विशेष रूप से पृथक्शः नियुक्त ऋत्विकों के द्वारा होता है--'उदवसानीयान्तेऽन्यानृत्विजो वृत्वा पृथक्पृष्ठशमनीयैर्यजेरन्।'[3]

गवामयन की दक्षिणा :

ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार गवामयन सत्र में दक्षिणा नहीं प्रदान की जाती, क्योंकि आत्मा ही इसकी दक्षिणा है—'आत्मदक्षिणं वा एतद्यत्सत्रम्।'[4] आत्मा के अवदान का निरूपण करते हुए आगे कहा गया है कि संवत्सरसत्र के प्रारम्भिक दो मासों के अनुष्ठान से यजमान अपने शरीरगत लोमों को देवों के निमित्त पृथक् करता है—इसी प्रकार अन्य मासों से त्वचा, मांस, अस्थि, मज्जा, मज्जागतरस और रक्त को पृथक् करता है। इसके द्वारा उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं—'यदा वै पुरुष आत्मनोऽवद्यति यं कामं कामयते तमभ्यश्नुते।'[5]

एकाह

छः एकाह :

ये हैं ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, अभिजित्, विश्वजित् और सर्वजित्। ताण्ड्य ब्राह्मण के 16वें अध्याय के 1-7 खण्डों में इनका वर्णन है। इनमें से प्रथम तीन 'त्रिकद्रुक' नाम से भी व्यवहृत होते हैं।[6] ये सभी एकाह अग्निष्टोम की विकृतियाँ हैं। प्रस्तुत ज्योतिष्टोम प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम से भिन्न कर्म है, क्योंकि प्रकृतियाग का अन्यत्र निरूपण हो चुका है। वस्तुतः इसका नाम मात्र ही 'ज्योति'

1. तां० ब्रा० 5.6.9 2, आ० क० 2.12 3. वही
4 तां० ब्रा० 4.9.19 5. वही 4.9.20 6. वही 16.3.8

है। ताण्ड्य ब्राह्मण[1] से ज्ञात होता है कि सर्वप्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम का इसमें सर्वप्रथम अनुष्ठान होना चाहिए। त्रिवृदादि स्तोमों में से दो दो मिलकर ज्योतिष्टोम के एक एक सवन का वहन करते हैं; यथा त्रिवृत्पञ्चदश प्रातः सवन को, पञ्चदश और सप्तदश माध्यन्दिन सवन को तथा सप्तदश और एकविंश मिलकर तृतीय सवन का वहन करते हैं।[2] 12 सौ गायों के साथ ही गौ, अश्व, अश्वतर, गर्दभ, अजादि वस्तुएँ भी दक्षिणास्वरूप दी जाती हैं। दक्षिणा का वैशिष्ट्य-प्रदर्शन ताण्ड्यकार ने किया है—'शुभो वा एतत् यज्ञस्य यद्दक्षिणा यद्दक्षिणावता यजते शुभमेवास्मिन् दधाति।'[3]

'गौः' नामक एकाह का प्रयोजन शत्रु-विजय है।[4] सायण के मत से 'गौः' शब्द का अर्थ है तिरोधान, जो 'गोपयति' धातु से निष्पन्न है।[5] यह पञ्चदश-स्तोमयुक्त है।

'आयुः' संज्ञक एकाह स्वर्ग-प्राप्त्यर्थक है।[6] स्तोम-क्लृप्ति गोष्टोम के समान है; ज्योतिष्टोमादि तीनों स्वर्ग्य बतलाये गये हैं;[7] इनसे इन्द्र ने विशेष तृप्ति प्राप्त की थी।

विश्वजित्[8] में यजमान अपने ज्येष्ठ पुत्र के भाग को छोड़कर भूमि तथा भू-श्रमिकों के अतिरिक्त अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान में दे देता है। तदनन्तर यह गोवत्स के लाल चर्म का परिधान धारण करता है। याग के अनन्तर यजमान उदुम्बर वृक्ष के नीचे तीन दिनों तक केवल कन्दमूल एवं फलादि पर निर्वाह करता है।[9] तीन दिनों तक वह निषादों की बस्ती में रहकर नीवार, श्यामाक (साँवाँ) से निर्वाह करता है।[10] तीन दिन तक वह वैश्यों-जनों-तथा अन्य तीन दिनों तक क्षत्रियों के साथ रहता है।[11] वर्ष भर वह भिक्षा भी नहीं मांग सकता।[12] अयाचित रूप से प्राप्त वस्तु से ही जीवनधारण करने का नियम है।[13] वैचित्र्य के लिए उष्णीष धारण करना चाहिए तथा मृण्मय पात्र में जलादि नहीं पीना चाहिए।[14]

इसके अनुष्ठान से उनके मध्य श्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है जो विद्या, कर्म और अवस्था आदि में समान होते हैं।[15]

---

1. वही 16.1.2
2. वही 16.1.6
3. वही 16.1.14
4. तां० ब्रा० 16.2.2
5. वही 16.2.3 पर सायण-भाष्य
6. वही 16.3.3.
7. वही 16.3.7
8. लाट्या० श्रौ० सू० 8.1.19-26; का० श्रौ० सू० 21.1.9-33; जै० श्रौ० सू० 4.3.10-16
9. तां० ब्रा० 16.6.3-4;5
10. वही 16.6.7
11. वही 16.6.8-9
12. वही 16.6.11
13. वही 16.6.7 पर सायण-भाष्य
14. वही 16.6.13-14
15. वही 16.4.3

'अभिजित्' अनुष्ठान से, विजय से अप्राप्त की भी प्राप्ति हो जाती है।[1] विश्वजित् और अभिजित् के यमल अर्थात् युगपत् अनुष्ठान का विधान है।[2] सूत्रकार लाट्यायन के अनुसार धानंजय्य यद्यपि इनके पूर्वापरयजन के पक्ष में हैं[3] किन्तु शाण्डिल्य युगपद् यजन के। इस स्थिति में, प्रत्येक में 16-16 ऋत्विक् होंगे, दक्षिण और उत्तर की ओर दो देवयजन बनेंगे। ताण्ड्य ब्राह्मण के 16वें अध्याय के पञ्चम खण्ड में एतदर्थ स्तोमों, सामों और स्तोत्रीय ऋचाओं का विस्तृत विधान है।

'सर्वजित्' अग्निष्टोमसंस्थ और पञ्चविंशस्तोम-सम्पाद्य है। इससे विजयादि सभी फलों की प्राप्ति विहित है।[4] माहेन्द्र स्तोत्र और सूर्य सम्बन्धी शस्त्र का इसमें प्रयोग होता है।

चार साहस्र एकाह

इनमें सहस्र गायें दक्षिणा के रूप मे दी जाती हैं—'सहस्र दक्षिणा साहस्रा नाम चत्वार एकाहाः।'[5] इनमें से प्रथम एकाह है 'ज्योति'। उपसद् के दिन होता प्रातरनुवाक् के अन्तर्गत सहस्र ऋचाओं का भी पाठ करता है।[6] दूसरा साहस्र 'सर्वज्योति' संज्ञक है। सर्व-प्राप्ति और सर्व-विजय इसके फल हैं।[7] इसमें अग्निष्टोम साम और एकविंश स्तोम विहित हैं। तृतीय साहस्र का नाम है 'विश्वज्योति'। यह उक्थसंस्थ है। बृहत्, रथन्तर तथा आथर्वण सामों का इसमें विधान है। इस प्रसंग में आथर्वण मन्त्रों की विशेष प्रशंसा की गई है, क्योंकि वे देवों के लिए भैषज्यरूप होते हैं।[8]

चतुर्थ साहस्र अग्निष्टोमसंस्थ हैं। इसमें 'संक्षार' साम विशेष रूप से विनियुक्त है। कालन्द ने इन एकाहों के विधान को ताण्ड्य की दृष्टि से विलक्षण बतलाया है।[9] श्रौतसूत्रकारों में केवल आपस्तम्ब और कात्यायन ने ही इनका उल्लेख किया है, क्योंकि यही दोनों तां० ब्रा० का पूर्णतया अनुगमन करते है।

---

1. तां० ब्रा० 16.4.6
2. वही 16.4.10
3. लाट्या० श्रौ० सू० 8.1.27
4. तां० ब्रा० 16.7.1-2
5. तां० ब्रा० 16.8 की सायण-कृत अवतरणिका
6. तां० ब्रा० 16.8.3
7. वही 16.9.1
8. वही 16 10.10
9. In Khandas 8–11 are described the four Sāhasra-Ekāhas, which are peculiar to our Brāhmana.
 —Caland, Trans. of P. B. Page 439.

पाँच साद्यस्क्र एकाह

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में, सोमयागों के वर्गीकरण के अन्तर्गत इनका सामान्य परिचय दिया जा चुका है।

16वें अध्याय के 12वें खण्ड में एक आख्यायिका के माध्यम से ताण्ड्यकार ने यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि आदित्यों और अङ्गिरसों के मध्य पहले स्वर्ग पहुँचने की होड़ में आदित्यों ने इस साद्यस्क्र को ज्ञात कर, एक ही दिन में सोम-क्रय, अयास्य ऋषि का उद्गातृ रूप में वरण, उनके द्वारा स्तोत्रों का सम्पादन और दीक्षादिअवभृथान्त समस्त कृत्यों का अनुष्ठान किया जिससे वे अङ्गिरसों की अपेक्षा पहले स्वर्ग पहुँचे।

प्रथम साद्यष्क के प्रयोजन शत्रु-विनाश, पशु-लाभ तथा स्वर्ग-प्राप्ति प्रभृति हैं।[1] इसमें शुक्लवर्ण का अश्व दक्षिणा रूप में दिया जाता है। दक्षिणागत दोष का निराकरण अयास्य साम के विनियोग से हो जाता है। अग्निष्टोमसंस्थ होने से इसमें 12 स्तोत्र होते हैं; सर्वत्र त्रिवृत्स्तोम का ही प्रयोग होता है और कुल मिलाकर 108 स्तोत्रिया ऋचाएँ होती हैं।

द्वितीय साद्यस्क्र एकाह में एकविंशस्तोम और अग्निष्टोम साम विहित हैं। इसका मुख्य प्रयोजन रोग-निवृत्ति है।[2] अन्य प्रयोजन हैं—अन्नाद्य-कामना और प्रतिष्ठा-कामना।[3] इसकी वेदि-रचना उर्वरा अर्थात् सर्वसस्याढ्या भूमि पर होनी चाहिए। उत्तरवेदि सरल अर्थात् व्रीहि-यवादि से समवेत होनी चाहिए। यूप 'खलेवाली' होता है, जिसका अर्थ सूत्रकारों के अनुसार लाङ्गल सम्बन्धी दण्ड है। एतदर्थ विहित सोम-क्रयसाधन त्रिवत्स (ऐसा बछड़ा, जिसके तीन वर्ष पूर्ण न हुए हों) है, जो अण्डकोशयुक्त हो।[4] अश्वयुक्त रथ पर आरूढ़ होकर सोमप्रवाक इसमें सभी दिशाओं से ऋत्विकों को लाने का प्रतीकात्मक कृत्य करते हैं।[5]

तृतीय साद्यस्क्र एकाह 'अनुक्री' संज्ञक है, जिसका अङ्गिरसों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है।[6] इसके माध्यन्दिन और आर्भवपवमानस्तोत्रों में चतुर्विंशस्तोम का प्रयोग होता है।

चतुर्थ साद्यस्क्र एकाह का नाम 'विश्वजित्' है, जो चित्रभूत होने के कारण 'शिल्प' कहा जाता है। इसके शिल्पत्व का एक कारण यह भी है कि इसमें सभी पृष्ठस्तोत्रों और सभी स्तोमों का प्रयोग होता है। रथ की भाँति समस्त कामनाओं

---

1. तां० ब्रा० 16 12.2 तथा 6
2. वही 16.13.1-4
3. वही 16.13.5
4. तां० ब्रा० 16.13.6-9
5. वही 16.13.10-13
6. वही 16.14.1-2

की पूर्ति करने के कारण इसे 'चक्रीवान्' यज्ञ कहा गया है।[1] यह केवल ताण्ड्य ब्राह्मण में ही विहित है। सायण के अनुसार इसकी दक्षिणा भी सर्वस्व है।[2]

पाँचवा साद्यस्क्र याग वस्तुतः 'श्येनयाग' है, जो अभिचार कर्म से सम्बद्ध होने के कारण षड्० ब्रा० में विहित है। ताण्ड्य में इस का वर्णन नहीं मिलता। हम भी इसका विवेचन आगे अभिचारयागों के प्रसंग में ही करेंगे।

वास्तव में षष्ठ, किन्तु ताण्ड्यगत पञ्चम साद्यस्क्र एकाह 'एकत्रिक' है।[3] तां० ब्रा० गत आख्यायिका के अनुसार प्रजापति ने इसी यज्ञ के द्वारा पृथिव्यादि लोकों का निर्माण किया।[4]

चार व्रात्ययज्ञात्मक एकाह

ताण्ड्य ब्राह्मण के 17वें अध्याय के प्रथम चार खण्डों में चार प्रकार के व्रात्यस्तोमयागों का विधान है, जबकि लाट्यायनश्रौतसूत्र, निदानसूत्र तथा जैमिनीय ब्राह्मण में केवल तीन व्रात्यस्तोमों का उल्लेख है।[5]

ताण्ड्यगत आख्यायिका से ज्ञात होता है कि व्रात्य से ब्राह्मणकार का अभिप्राय आचारहीन से है। तां० ब्रा० में इनकी चार कोटियाँ दी गई है—निन्दित, कनीयान्, ज्यायान् तथा हीनाचार। व्रात्यों के स्वरूप और स्थिति के विषय में सांस्कृतिक विवेचन वाले परिच्छेद में विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ संक्षेप में मात्र इतना वक्तव्य है कि ये सभी वस्तुतः अपने कुल-क्रमागत आचार-व्यवहार से भ्रष्ट और पतित व्यक्ति हैं, जो विहित आचरणों से रहित और निषिद्ध कर्मों में लिप्त हैं। कृषि और वाणिज्यादि कर्म भी ये नहीं करते, बलपूर्वक भोज्यान्न ले लेते हैं।

व्रात्ययज्ञों के अनुष्ठान का प्रयोजन वस्तुतः 'व्रात्यता-निर्हरण' है, जैसा कि सायण का कथन है।[6] यागों के कृत्यों के अनुष्ठान और स्तोत्र-पाठ से उनकी पापराशि भस्म हो जाती है और वे पुनः श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते हैं। यागगत दक्षिणा-दान के अनन्तर वे शुद्ध होकर त्रैविद्य वृत्ति को प्राप्त कर लेते हैं, जैसा कि सायण का कथन है—'व्रात्यत्वापादकं पापं निर्मृज्य शुद्धास्सन्तो गच्छन्ति त्रैविद्यवृत्ति प्राप्नुवन्ति'।[7]

तां० ब्रा० में[8] सर्वप्रथम हीनाचार व्रात्यों, जिन्हें व्रात्यगण शिक्षकों की आख्या भी दी गई है, के शोधन-हेतु याग-विधान है, जिसमें मरुत्स्तोम (षोडशस्तोम) तथा

1. वही 16.15.1-4
2. तां० ब्रा० 16.15.2 पर सायण-भाष्य।
3. वही 16.16.1
4. वही 16.16.2
5. लाट्या० श्रौ० सू० 8.6; निदान सूत्र 6.11-12; जैमि० ब्रा० 2
6. तां० ब्रा० 17.1.16 की सायण कृत अवतरणिका।
7. वही
8. तां० ब्रा० 17.1

ब्रह्म, द्यौ एवं तीन अग्निष्टोम सामों को प्रयोज्य बतलाया गया हैं इस विषय में कतिपय विकल्प भी दिये गये हैं। दक्षिणा में दो प्रकार के द्रव्य विहित हैं - प्रथम वे जिनका सम्पादन गृहपति को करना होता है तथा दूसरे वे जो अन्य व्रात्यों के द्वारा ही सम्पाद्य हैं। इनमें से गृहपति के द्वारा सम्पाद्य वस्तुएँ ये हैं—उष्णीष (पगड़ी), प्रतोद (बैलों को हाँकने के लिए लौह निर्मित अग्रशलाका वाला दण्ड), ज्याह्रोड[1] (इषुरहित केवल धनुर्दण्ड), फलकास्तीर्ण विपथ (काष्ठ फलकों से आस्तीर्ण रथ, जो टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर भी चला जाता था) कृष्णशवास (काली किनारी वाली धोती), कृष्णवलक्ष अजिन (काला और सफेद भेड़-चर्म), रजतनिष्क (चाँदी से निर्मित कर्णालङ्कार)—ये सभी गृहपति को जुटानी पड़ती है, जैसा कि सूत्रग्रन्थों में उल्लेख है—'एतत्सर्वं गृहपतिराहरेत्।' अन्य व्रात्यों के द्वारा सम्पाद्य वस्तुओं में वलूकान्त अर्थात् लाल किनारे की धोतियाँ, दामतूष, दो-दो जूते और शुक्ल-कृष्ण अजिन हैं। ये वस्तुएँ व्रात्य-धन हैं, जिनका दान व्रात्यता से मुक्त होने के लिए आवश्यक है।

सूत्रग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वस्तुएं उन व्रात्यों को ही दे दी जाती थीं, जो विभिन्न कारणों से अभी व्रात्य-चर्या से मुक्त होने की स्थिति में नहीं थे।[2] उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त दक्षिणा रूप में 33 गायें भी गृहपति के द्वारा मगध-प्रदेशीयव्रात्यों को देने का विधान है।[3]

निन्दित व्रात्यों के द्वारा अनुष्ठेय व्रात्यस्तोम इस श्रेणी का द्वितीय एकाह याग है। यह उक्थसंस्थ है। षोडशस्तोम का प्रयोग इसका वैशिष्ट्य है। इसमें अग्निष्टोम साम का एकविंशस्तोम में गान विहित है।[4]

कनिष्ठों के द्वारा सम्पाद्य तृतीय व्रात्यस्तोम याग के पवमान स्तोत्रों में त्रिवृत्स्तोम तथा आज्य और पृष्ठ स्तोत्रों में षोडशस्तोम का प्रयोग विहित है। अग्निष्टोम-साम में एकविंशस्तोम का प्रयोग पूर्ववत् ही है।

चतुर्थ व्रात्यस्तोम स्थविरों के द्वारा अनुष्ठेय है। इसमें त्रिवृदादिस्तोत्रों का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग होता है।

---

1. 'ज्याह्रोड' के अर्थ के विषय में सूत्रकारों के मध्य मतैक्य नहीं है। बोधायन के अनुसार यह चमड़े के तरकश में पिहित 3 बाण और एक चक्री थी, जो व्रात्यों को प्रदेय थी—'धनुष्केणानिषुणा व्रात्याः प्रसेधमाना यन्ति इति ज्याह्रोडः।'
2. व्रात्येभ्यो व्रात्यधनानि ये व्रात्यचर्याया अविरताः स्युर्ब्रह्मबन्धवे वा मागधदेशीयम्।
3. तां० ब्रा० 17.1.14-17 4. वही 17.3.2

पाँच या छः अग्निष्टुत

ताण्ड्य ब्राह्मण के 17 वें अध्याय के 5-9 खण्डों में 5 अग्निष्टुतों की विधि निरूपित है। कुछ आचार्यों ने; जिनके नाम अनुल्लिखित हैं, इस प्रसंग में छः अग्निष्टुतों का निरूपण माना है। उनके अनुसार प्रथम खण्ड में दो अग्निष्टुतों का विधान है, शेष चार खण्डों में अन्य चार का। पाँच मानने वालों का कथन है कि प्रथम अग्निष्टुत अनुष्ठेय नहीं है, क्योंकि वह निन्दापुरस्सर अन्य अग्निष्टुतों के विधानार्थं उल्लिखित है। एक तीसरा मत कल्पकारों का भी है जो चार ही अग्निष्टुत मानते हैं, क्योंकि उन्हीं के स्तोमों और स्तोत्रिया ऋचाओं का उल्लेख है।[1] चार वाले पक्ष में पञ्चम और षष्ठ खण्डों में एक ही अग्निष्टुत का वर्णन माना जाता है।[2] कालन्द ने भी चार ही माने हैं।[3]

प्रथम अग्निष्टुत पाप-निर्हरणार्थक है। वह अपने को अपवित्र समझने वाले के द्वारा अनुष्ठेय है।[4] ताण्ड्यगत आख्यायिका के अनुसार त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप त्रिशिरा के वध से लगे पाप से इन्द्र इस यज्ञ के अनुष्ठान के द्वारा ही मुक्त हो सके थे।[5] इसमें त्रिवृत्स्तोम विहित है।

द्वितीय अग्निष्टोम ब्रह्मवर्चस् की कामना से अनुष्ठेय है। इसमें त्रिवृत पञ्चदश, सप्तदश और एकविंशाख्य चार स्तोम विहित हैं। इनसे क्रमशः मुख, वक्ष, बाहु मध्य भाग और चरणगत अशुद्धि का निराकरण होता है।[6] इसमें अग्निष्टोमसाम भी विहित है।

तृतीय अग्निष्टुत का प्रयोजन भी उपर्युक्त है।[7] इसमें वायु से सम्बद्ध ऋचाओं वाले अग्निष्टोम साम का विनियोग है, जिसके औचित्य का प्रतिपादन करते हुए ब्राह्मणकार का कथन है कि जैसे लोहार की धौंकनी से अग्निगत लौह के अपद्रव्य जल जाते हैं, वैसे ही ये ऋचाएं यजमान को शुद्ध कर देती हैं। आगे स्वर्णकार का उदाहरण दिया गया है—वह जैसे सुवर्ण को तपाकर शुद्ध कर देता है, वैसे ही इस अग्निष्टुत एकाह से भी मालिन्य का अपनयन हो जाता है।

---

1. तां० ब्रा० 17-5 की सायणकृत अवतरणिका।
2. जैमि० ब्रा० 2.134-138; तैत्ति० ब्रा० 2.7.12; आर्षेयकल्प 3.12.13; लाट्या० श्रौ० सू० 8.7.1; निदानसूत्र 6.13; बौधा० श्रौ० सू० 18.12-13; आप० श्रौ० सू० 22.6.5-21, का० श्रौ० सू० 22.4.29-5.5, आश्व० श्रौ० सू० 9.7.22-25, शांखा० श्रौ० सू० 14.51.57
3. पञ्चविंश ब्राह्मण Eng. Trans. page 461.
4. तां० ब्रा० 17.5.2
5. वही 17.5.1
6. वही 17.5.6
7. वही 17.6.2

चतुर्थ अग्निष्टुत पशु-कामना से अनुष्ठेय है। पञ्चम अग्निष्टुत 'ज्योतिष्टोम' संज्ञक और प्रायश्चित्तस्वरूप है। इसका अनुष्ठान उसे करना चाहिए, जिसने किसी याग को असमाप्त रूप में छोड़ दिया हो।

षष्ठ अग्निष्टुत सप्तदशस्तोम के प्रयोग पूर्वक अन्नाद्य कामना से किया जाता है।[1] सप्तदशस्तोम की अन्नरूपता इस कारण है क्योंकि वह अन्न के आधारभूत प्रजापति की देह के मध्य भाग से उत्पन्न हुआ है। सायण ने अग्नि को अन्नाद्य का प्रदाता बतलाते हुए किसी स्मृति से यह श्लोक उद्धृत किया है—

'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥'

तीन त्रिवृत् एकाह

ताण्ड्य ब्राह्मण के 17 वें अध्याय के 10-12 खण्डों में प्रजापति का अपूर्व, बृहस्पतिसव तथा सर्वस्वारसंज्ञक तीन त्रिवृत एकाह निरूपित हैं।

प्रजापति का अपूर्व :

ताण्ड्य के अनुसार नामकरण का आधार यह है कि प्रजापति ने इसके द्वारा अपूर्वता प्राप्त की[2], अर्थात् उनसे पहले कोई व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु जैमि० ब्रा० के अनुसार इसे त्रिवृत स्तोम की अपूर्वता के आधार पर 'अपूर्व' कहा जाना चाहिए, क्योंकि त्रिवृत् से पहले कोई अन्य स्तोम नहीं था।[3] यह ग्राम-कामना से अनुष्ठेय याग है।[4] यह त्रिवृत्स्तोमयुक्त और अग्निष्टोमसंस्थ एकाह है। इसके बहिष्पवमानादि प्रातः सवनिक पाँचों कृत्यों में गायत्रसाम अनिरुक्त गान का विधान है।

बृहस्पतिसव :

यह भी त्रिवृत्स्तोमयुक्त तथा अग्निष्टोमसंस्थ है। इसका अनुष्ठान देव-पौरोहित्य को पाने के लिए बृहस्पति ने किया था और अनुष्ठानानन्तर वे देवताओं के पुरोहित बन गये थे। यही इसके नामकरण का आधार है।[5] इसका नामान्तर है 'स्थपति सव', क्योंकि यह स्थपति के द्वारा अनुष्ठेय है। 'स्थपति' वह ब्राह्मण है जिसका राजा के साथ ब्राह्मणगण वरण कर लेते हैं।[6] कालन्द के अनुसार 'स्थपति

1. तां० ब्रा० 17.9.1 2. वही 17.10.4
3. Caland: The Brahmana of Twenty five Chapters. page 465
4. तां० ब्रा० 17.10.3
1. तां० ब्रा० 17.11.4
2. वही 17.11.6 पर सायण-भाष्य

का तात्पर्य वैश्य है। उन्होंने यह निष्कर्ष बोधायन[1] और आपस्तम्बगत[2] 'वैश्यसव' या 'स्थपतिसव' के आधार पर निकाला है।[3] किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ब्राह्मणकार का मन्तव्य 'बृहस्पति' की आख्यायिका से ब्राह्मणत्व को ही उपलक्षित करने का है। इस सन्दर्भ में निदान सूत्र का यह अंश उल्लेखनीय है— 'पुरोधाकामयज्ञ उत्तरा स्थपतिसवो वायंसमानाः श्रैष्ठ्ये संवृणीरन्।'[4]

बृहस्पतिसव नैमित्तिक यज्ञ है। इसमें दक्षिणारूप में 33 गायें प्रातः और माध्यन्दिनसवनों में निकालकर तृतीय सवन में ऋत्विकों को प्रदान कर दी जाती है। 33 गायों का साम्य 33 देवों से स्थापित किया गया है। 34 वीं संख्या की पूर्ति के निमित्त एक यजमान भी दिया जाता है। इस यज्ञ में कृष्ण मृगचर्म पर समासीन यजमान का अभिषेक घृत से किया जाता है, जिसका प्रयोजन ब्रह्मवर्चस् का आधान है।[5]

सर्वस्वार :

यह भी त्रिवृत्स्तोमयुक्त और अग्निष्टोमसंस्थ रूप में अनुष्ठेय है। इसमें प्रयुक्त सामों के स्वरनिधनात्मक होने से यह 'सर्वस्वार' कहलाता हैं। इसका नामान्तर है– 'शुनस्कर्णस्तोम' क्योंकि यह बष्किह के पुत्र शुनस्कर्ण ऋषि के द्वारा सम्पन्न हुआ था।[6] जैमि० ब्रा० में यह प्रसंग विस्तार से उल्लिखित है।[7]

इसका अनुष्ठान वह व्यक्ति करता है, जो स्वथ्य शरीर से स्वर्ग प्राप्ति हेतु यज्ञ करते-करते ही मर जाना चाहता है—'य कामयेताऽनामयताऽमुं लोकमियाम स एतेन यजेत्।[8] तदनुसार तृतीय सवन में जिस समय उद्‌गाता आदि आर्भवपवमान स्तोत्र का गान कर रहे होते हैं, उस समय सदोमण्डप के मध्य में गड़ी औदुम्बरी के दक्षिण ओर शिर करके वस्त्र से सर्वाङ्ग को आच्छन्न कर यजमान लेट जाता है, उसी समय यह समझ लिया जाता है कि वह मर गया।[9] 'संगच्छते' से प्रतीत होता है कि यजमान वास्तव में मरता नहीं है, जैसा कि काणे प्रभृति विद्वानों ने कहा है। इस प्रतीकात्मक कृत्य के अनुष्ठान से वह मरने का अभिनय मात्र करता

---

1. बोधा० श्रौत० सू० 18.3 2. आप० श्रौ० सू० 22.25.2-5
3. Caland: The Brahmana of Twenty Five Chapters, page 466.
4. निदानसूत्र 7.1 5. तां० ब्रा० 17.11.8
6. तां० ब्रा० 17.12.6
7. शुनस्कर्णो ह वै वाष्‍र्ण्यहः पुण्यकृद् अपापकृत् आस। सः चकमे पुण्यमेवास्मिन् लोके कृत्वापापं कृत्वा लोकं स्वर्गं गच्छेयमिति—जैमि० ब्रा०।
8. तां० ब्रा० 17.12.5 9. वही

है। लाट्यायन भी इस तथ्य पर बल देते प्रतीत होते हैं।[1] उन्होंने कहा कि यदि वह जीवित रहता है तो सोमयाग की अन्तिम इष्टि का सम्पादन करता है और बाद में अनशन से प्राण त्याग करता है। लाट्यायन के टीकाकार धानञ्जय्य का मत है कि यजमान को मृत्यु का विचार त्यागकर आहार ग्रहण करना चाहिए। कालन्द भी इसी से सहमत हैं।[2]

चार चातुर्मास्य

तां० ब्रा० के 17 वें अध्याय के दो खण्डों (13 वें तथा 14 वें) में चातुर्मास्यों का वर्णन है। ताण्ड्य के अनुसार चातुर्मास्यों के अनुष्ठान में निरतिशय फल की प्राप्ति होती है[3], जबकि अग्निहोत्रादि सातिशयफल के ही साधन हैं। 'चातुर्मास्य' नामकरण का अभिप्राय इनका प्रति चतुर्थमास में सम्पन्न होना है। ये चार हैं—वैश्यदेवपर्व. वरुण प्रघासपर्व, साकमेधपर्व और शुनासीरीय पर्व। इन चातुर्मास्ययागों का सम्बन्ध वर्ष-चक्र से बतलाया गया है। 4-5 वर्षों के चक्र में क्रमशः 4 या 5 संवत्सर आते रहते हैं। उनके वैदिक नामों और संख्या में ईषत् भिन्नता है। ताण्ड्य में केवल चार का उल्लेख है—संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर और अनुवत्सर। तां० ब्रा० के अनुसार इनका सम्बन्ध क्रमशः अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और वायुसे है। सौमिक वैश्यदेव पर्व के अनुष्ठान से यजमान संवत्सर और अग्नि की वरुणप्रघास पर्व से परिवत्सर और सूर्य की साकमेध पर्व से इदावत्सर और चन्द्रमा की तथा शुनासीरीय (सौमिक) पर्व के अनुष्ठान से अनुवत्सर की उपलब्धि करता है।[4]

चातुर्मास्यों का सम्बन्ध हविर्यज्ञ, पशुयाग और सोमयाग तीनों से है इसलिए इनके अनुष्ठान से यजमान तीनों लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[5] उत्तरोत्तर इनके अनुष्ठान का फल बढ़ जाता है अर्थात् वैश्यदेव से वरुणप्रघास का फल अधिक है, वरुणप्रघास से साकमेध का, उससे भी अधिक शुनासीरीय का।[6]

चातुर्मास्य दो प्रकार के होते हैं–ऐष्टिक और सौमिक। इनमें से ऐष्टिकों का वर्णन सामभिन्न अन्य शाखाओं में हैं, ताण्ड्य में केवल सौमिकों का वर्णन है।

1. लाट्या० श्रौ० सू० 8.8.39-41
2. The Brahmana of Twenty Five Chapters. page 468
3. तां० ब्रा० 17.14.1
4. तां० ब्रा० 17,13.17
5. त्रिविधयज्ञसङ्घातात्मकत्वादुक्तानां चातुर्मास्यानां तैरिमानेव पृथिव्यादिकान् त्रीन् लोकानाप्नोति।—तां० ब्रा० 17.13.8 पर सायण-भाष्य
6. तां० ब्रा० 17.14.2

वसन्त अर्थात् फाल्गुनी पूर्णिमा पर अनुष्ठेय प्रथम ऐष्टिक वैश्वदेव पर्व के स्थान पर त्रिवृत्स्तोमयुक्त अग्निष्टोमसंस्थ सोमयाग करणीय है। इसमें बहिष्पवमान स्तोत्र की प्रथम ऋचा अग्निदेवत्य 'अग्न आयूंषि पवस' होती है। सवनीय पशु वैश्वदेव ही होता है; अन्त में बृहस्पति से सम्बद्ध गाय का अनुबन्धन होता है।[1]

सौमिक वैश्वदेवपर्व के अनुष्ठान में न तो यूप का निखनन होता है और न उत्तरवेदि का निवाप (चात्वालगत पाँशुओं से वेदिका संस्कार) ही होता है।[2] यूप के अभाव में पशु को परिधि (स्थूल यज्ञीय काष्ठ) में नियोजित करते हैं। 50 गायें इसमें दक्षिणास्वरूप दी जाती है। यजमान नूतन वस्त्र धारण करता है, अवभृथ स्नान तक जल-क्रीडा नहीं करता और चार मासपर्यन्त न तो मांस-भक्षण करता है और न ही स्त्री संभोग करता है।[3]

वैश्वदेवस्थानिक त्रिवृदग्निष्टोम के अनन्तर चार मास बीत जाने पर आषाढ़ी पूर्णिमा को वरुणप्रघासपर्व[4] का सौमिक अनुष्ठान होता है।[5] इसमें वरुणप्रघास के स्थान पर द्विदिवसीय सोमयाग सम्पन्न होता है।[6] बहिष्पवमानस्तोत्र की प्रथम स्तोत्रीय ऋचा वरुणदेव की होती है--'इमम्मे वरुण।' सवनीय पशु मरुद्देवत्य है।

दूसरे दिन वरुण देवता के पशु से याग होता है। इसमें यूप-खनन और उत्तरवेदि का निपवन—दोनों कृत्य होते हैं। दोनों सवनीय पशुओं का नियोजन दोनों दिन यूप में ही होता है।

50-50 गाय प्रतिदिन के अनुसार 100 गायें दक्षिणा मे दी जाती हैं। यजमान के द्वारा पालनीय नियम पूर्ववत् ही होते हैं। यह पर्व भी त्रिवृत्स्तोमयुक्त और अग्निष्टोमसंस्थ ही होता है।

तीसरा पर्व है साकमेध, जो चार मास बीतने पर कार्तिक पूर्णिमा को सम्पादित किया जाता हैं। 'साकमेध' का व्युत्पत्ति लभ्य (साकमेधन्ते) अर्थ है—इन विशिष्ट हवियों से देवता एक साथ बढ़ते हैं। साकमेध के स्थान पर त्रिरात्रसोमयाग

---

1. वही 17.13,2　　2. वही 17.13.3
3. तां० ब्रा० 17.13.6
4. शत० ब्रा० (2.5.2.1) के अनुसार 'प्रघास' शब्द में 'घस' का अर्थ खाये जाने से है। 'प्रकृष्टघास' यव से निर्मित भक्ष्य-विशेष है, जिसका इस याग में प्रयोग होता है।
5. तां० ब्रा० 17.13.7　　6. वही 17.13,7

का विधान[1] ताण्ड्य ब्राह्मण में है। श्रौतसूत्रों के अनुसार इसका प्रथम दिन अग्निष्टोमसंस्थ या षोडशिसंस्थ, द्वितीय दिन उक्थ्यसंस्थ और तृतीय दिन अतिरात्र-संस्थ होता है। प्रथम दिन बहिष्पवमानस्तोत्र की प्रथम स्तोत्रीय ऋचा 'उपत्वा जामयो गिर'[2] तथा सवनीय पशु अग्निदेवत्य होता है। द्वितीय दिन 'इन्द्रायेन्द्रो मरुत्वत०'[3]—स्तोत्रीय ऋचा होती है तथा इन्द्र और अग्नि के निमित्त सवनीय पशु समर्पित किया जाता है। तृतीय दिन बहिष्पवमान स्तोत्र की स्तोत्रीया 'विश्व-कर्मान् हविषा वावृधान' ऋचा होती है, जिसका सम्बन्ध विश्वकर्मा देवता से है। सवनीय पशु के स्थान पर 11 पशु विहित है, जिनका विस्तृत विवरण तैत्तिरीय शाखा[4] में है, यथा–अग्नि के निमित्त कृष्णग्रीव, सरस्वती के लिए मेषी इत्यादि। दक्षिणा के रूप में 150 गायें (50 गायें प्रतिदिन के अनुसार) दी जाती हैं। यज-मान के द्वारा पालनीय नियम पूर्ववत् ही हैं।

तदनन्तर चार मास बीतने पर शुनासीरीय[5] नामक चतुर्थ चातुर्मास्य पर्व के स्थान पर ज्योतिष्टोम (अग्निष्टोम) संज्ञक सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है—'शुनासीर्य्यस्य लोके ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोमः।'[6]

इसमें सवनीय पशु वायुदेवत्य होता है। दक्षिणास्वरूप 112 गायें दी जाती हैं। स्तोत्रीया ऋचा 'उपास्मै गायतानर' होती है। अनुबन्ध्या गाय अश्विनदेवत्य होती है।

पाँच सप्तदशस्तोमयुक्त अग्निष्टोमसंस्थ एकाह :

ताण्ड्य ब्राह्मण के 18वें अध्याय के प्रथम पाँच खण्डों में पाँच ऐसे एकाहों का वर्णन है, जो सप्तदशस्तोमयुक्त तथा अग्निष्टोमसंस्थ रूप में सम्पाद्य हैं। ये हैं—उपहव्य, ऋतपेय, दूणाश अथवा शुनासीर्य्य तथा तीव्रसुत। इनमें से तीसरे का ताण्ड्य में कोई नाम नहीं दिया गया है। सायण ने 18वें अध्याय की अपनी

---

1. साकमेधानां लोके त्रिरात्र।— तां० ब्रा 17.13.12
2. साम० सं० 2.9.20
3. साम० सं० उ० 4.1.11
4. तै० सं० 5.5.22
5. निरुक्त (9.40) के अनुसार 'शुन' एवं 'सीर' का अर्थ क्रमशः वायु और आदित्य है। इस पर्व में इन दोनों देवों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शत० ब्रा० (2.6.3 2) गत व्युत्पत्ति अधिक सन्तोषप्रद है। तदनुसार 'शुन' का अर्थ समृद्धि है और 'सीर' का सार। अभिप्राय यह कि इस इष्टि के अनुष्ठान से यजमान को समृद्धि एवं सारभूत तत्त्व की उपलब्धि होती है।
6. तां० ब्रा० 17.13.15

अवतरणिका में इसे शुनासीर्य्यं कहा है। श्रौतसूत्रों में इसके दूणाश, बहुहिरण्य, बहुसुवर्ण तथा अतिमूर्ति नाम प्राप्त होते हैं।[1]

उपहव्य :

इसका नामकरण आह्वान करने के कारण हुआ है।[2] ताण्ड्यातिरिक्त जैमि० ब्रा० और मशकादि सूत्रकारों ने भी इसका वर्णन किया है।[3] तां० ब्रा०[4] तथा लाट्यायन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इसमें देवनामों का पर्यायशः परोक्ष कथन होता है तथा सभी स्तोत्रों में 'देव' शब्द वर्जित रहता है, किन्तु उत्तमस्तोत्र-गत अग्निष्टोमसाम में देवों के प्रत्यक्ष कथन की अनुज्ञा ब्राह्मणकार ने दी है।[5] शत्रु पर विजयेप्सु तथा अन्यों के द्वारा मिथ्या दोषारोपण से पीड़ित व्यक्ति को इसका अनुष्ठान करना चाहिए—'अभिशस्यमानं याजयेत्।'[6] ग्राम और पशु-लाभ के इच्छुक यजमान भी इसका अनुष्ठान कर सकते हैं।[7]

इस याग में अग्नि, मरुद्गण, पूषा, वैश्वदेवी और प्रजापति से सम्बद्ध स्तोत्रीय ऋचाओं का प्रयोग विहित है। प्रथम पृष्ठ स्तोत्र में बृहत्साम प्रयोज्य है। दक्षिणा स्वरूप एक श्यावाश्व (काला भूरा) वर्णीय रुक्म ललाट वाला अश्व ब्रह्मा को प्रदान किया जाता है। सूत्रकारों के अनुसार अन्य ऋत्विकों को भी कुछ-न-कुछ दक्षिणा प्रदान करनी चाहिए—'इतरेभ्यश्च किञ्चित् दद्यात्।'

ऋतपेय :

सूत्रकारों और सायण ने ताण्ड्योक्त 'द्वादश दीक्षोपसदः'[8] का अर्थ किया है कि इसमें 9 दीक्षाएँ और तीन उपसद् होते हैं।

यह एकाह स्वर्ग की कामना से अनुष्ठेय है।[9] सामान्यतः दीक्षा-दिनों में दुग्धाहार विहित है, किन्तु प्रकृत याग में यथाशक्ति घृत-प्राशन का विधान है। इस प्राशन की विशेष विधि उल्लिखित है—'उत्तरेणोत्तरेण काण्डेनोपैति'—अर्थात्

---

1. आर्षेयकल्प 4.7; लाट्या० श्रौ० सू० 8.10.1-4; निदानसूत्र 7·4; बौधायन० श्रौ० सू० 18.37-38; आप० श्रौ० सू० 22.9.19-20; कात्या० श्रौ० सू० 22.1.26-9; आश्व० श्रौ० सू० 9.8.1-4; शांखा० श्रौ० सू० 14.32
2. यदुपाह्वयन्त तस्मादुपहव्य :।—तां० ब्रा० 18.1.9
3. जैमि० ब्रा० 2.148-150; आर्षेयकल्प 4·6; लाट्या० श्रौ० 8.9.1-6; निदानसूत्र 7.4; आपस्तम्ब श्रौ० सू० 22.9.8-10 इत्यादि।
4. तां० ब्रा० 18.1.3
5. वही 18.1.4
6. वही 18.1.10
7. वही 18.1.13 तथा 15
8. वही 18.2.2
9. तां० ब्रा० 18.2.3

अंगुलि के तीसरे काण्ड (पोर) से घृत लेकर उसे चाट लिया जाये; तदनन्तर मध्यम काण्ड से और उसके पश्चात् प्रथम पर्व से प्राशन किया जाता है। बृहत्साम का इसमें विशेष महत्त्व है।[1] इसके पवमान, आज्य, पृष्ठादि सभी स्तोत्र सप्तदश-स्तोमयुक्त ही होते हैं।[2]

सदस् में, जहाँ सोम के अवशिष्ट अंश का पान करना है, प्रसर्पण करते समय ऋत्विक् ऋत (अर्थात् देवसत्य) का वाचन करते हैं; ये देवसत्य तीन हैं, यथा—'इयं भूमिः', 'असौ आदित्यः' प्रभृति। संभवतः इसी कृत्य के कारण इस एकाह का नामकरण हुआ है। ताण्ड्य में उदुम्बरनिर्मित सोमपूर्ण चमस ही ऋतपेय की दक्षिणा रूप में विहित है।[3] यह यजमान के सगोत्रीय ब्रह्मा को दे दिया जाता है, किन्तु सूत्रकारों ने ऋत्विकों को कुछ अन्य द्रव्य भी देने का विधान किया है।

दूणाश या शुनासीर्य्य :

इष्टि-क्रम से इसकी दक्षिणा का बहुत विस्तार से निरूपण है।[4] प्रत्येक इष्टि में उत्तरोत्तर दक्षिणा द्विगुणित होती है; यथा—प्रायणीयेष्टि में 24 मान का स्वर्ण खण्ड, आतिथ्येष्टि में 24-21 मान के दो स्वर्ण खण्ड, प्रातःकालीन प्रथम उपसद् इष्टि में 24-24 मान के 4 स्वर्ण खण्ड—इस प्रकार निरन्तर द्विगुणित होते-होते 128 मान के 8 स्वर्णखण्ड उल्लिखित हैं। सायण के अनुसार ये स्वर्णखण्ड 'निष्क' अलंकार के रूप में होने चाहिए। इन्हें देने के पश्चात् 100 बैल और रुक्म होता को तथा 100 बैल और स्वर्णमाला उद्गाता को प्रदेय हैं। पुनश्च तृतीय सवन में नाराशंस कृत्य के सम्पन्न हो जाने पर 128 मान के 32 स्वर्णखण्ड, उदयनीयेष्टि में 64 स्वर्णखण्ड और अनूबन्ध्या कृत्य में 128 मान के 128 स्वर्णखण्ड दक्षिणा में देय हैं।

वैश्यस्तोम :

ताण्ड्य ब्राह्मण में पशु-लाभ की कामनायुक्त वैश्य से यह याग कराने का विधान है।[5] इसके तीनों सवनों में प्रयोज्य सोमरस में विभिन्न वस्तुओं का मिश्रण इस प्रकार उल्लिखित है—प्रातः सवनीय सोम में ताजा दुग्ध, माध्यन्दिनसवनीय सोम में गर्म दुग्ध और तृतीय सवनीय सोम में दधि-मिश्रण विहित है।[6] वैश्यस्तोम के विशेष सन्दर्भ में विनियुक्त साम काण्व, रथन्तर और सदोविशीय ब्रह्म साम हैं।

---

1. तां० ब्रा० 18.2.8
2. वही 18.3.13-14
3. वही 18.3.10
4. वही 18.4.2
5. तां० ब्रा० 18.4.3-5
6. वही 18.4.2

तीव्रसुत या तीव्रसोम :

यह एकाह सप्तदशस्तोमयुक्त और उक्थ्य संस्थ है। इसका नामकरण सोम को तीव्रता प्रदान करने के कारण हुआ, जो सोम को 100 गायों के दुग्ध-मिश्रण से प्राप्त होती है। सूत्रकार लाट्यायन के अनुसार सोम को तीन भागों में विभक्त कर उसमें वैश्यस्तोम की ही भाँति मिश्रण किया जाना चाहिए।

इस एकाह के अनुष्ठानाधिकारियों में अत्यधिक सोम-पान के कारण रुग्ण व्यक्ति, राष्ट्र के द्वारा परित्यक्त राजा तथा ग्राम, सन्तान एवं पशु-समृद्धि के अभिलाषी व्यक्ति हैं।[1] किसी दीर्घकालिक रोग से मुक्त होने की इच्छा से भी यह अनुष्ठेय है। इसकी दक्षिणा 100 गायें हैं। विनियुक्त विशेष सामों में रथन्तर, श्रायन्तीय ब्रह्मसाम, यज्ञायज्ञीय तथा विशोविशीय अग्निष्टोमसाम हैं।

वाजपेय

यह एक अति महत्त्वपूर्ण याग है, जिसका निरूपण ताण्ड्य ब्राह्मण के 18 वें अध्याय के षष्ठ एवं सप्तम खण्डों में हुआ है। ताण्ड्य के अतिरिक्त इसका वर्णन जैमि० ब्रा० एवं शत० ब्रा०[2] तथा अधिकांश सूत्रकारों[3] ने किया है।

ताण्ड्य के अनुसार इस याग का अनुष्ठाता प्रजापति के समकक्ष हो जाता है। 'वाजपेययाजी वाव प्रजापतिमाप्नोति।[4] 'वाज' का अर्थ है पेयद्रव्यात्मक अन्न, इसी आधार पर यह नामकरण सम्पन्न हुआ है—'वाजोऽन्नं पेयद्रव्यात्मकं यस्मिन् स वाजपेय।'[5]

'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत्' प्रभृति श्रौतवचनों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही आधिपत्य, स्वर्ग, समृद्धि या स्वाराज्य की कामना से इस याग का अनुष्ठान कर सकते हैं।[6] यों ताण्ड्य ने कोई वर्णगत बन्धन इस सन्दर्भ में नहीं लगाया है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में वाजपेय के आध्वर्यव और हौत्र पक्षों का विशेष वर्णन नहीं है, मात्र औद्‌गात्र पक्ष ही निरूपित है। तदनुसार यह सप्तदश स्तोमयुक्त तथा षोडशिस्तोत्रयुक्त उक्थ्यस्तोत्रों से समाप्य याग है। 17 शस्त्रों के साथ इसमें 17 स्तोत्र भी होते हैं, जिनकी विशेष प्रशंसा की गई है—'यत् सप्तदशस्तोत्राणि तेनोर्ध्वमाप्नोति, यत्सर्वः सप्तदशस्तेन तिर्य्यञ्चम्।'[7]

---

1. तां० ब्रा० 18.5.3-9
2. जैमि० ब्रा० 2.193-196 शत० ब्रा० 7.4
3. आ० क० 4.7, लाट्या० 8.2.1-12-15, निदानसूत्र 7.4, आ० 18.1.7, आश्व० 9.9, इत्यादि
4. तां० ब्रा० 18.6.4
5. वही 18.7.1 पर सायण-भाष्य
6. वही 18.7.1
7. वही 18.6.5

इसमें विहित विशिष्ट साम हैं—रथन्तर, अभीवर्त्त ब्रह्मसाम, अग्निष्टोमसाम, गौरीवितसाम तथा बृहत्साम। यजमान और सभी ऋत्विक् इसमें स्वर्ण-मालाएं पहनते हैं क्योंकि वह ज्योति रूप है।[1]

आजि-धावन[2] (रथों की दौड़) के समय ब्रह्मा रथ-चक्र पर बैठकर वाजियों के साम का गान करता है, जिसकी विशेष प्रशंसा की गई है—'वाजिनां साम ब्रह्मा रथचक्रेऽभिगायति वाजो वै स्वर्गलोकः स्वर्गमेवेनं तल्लोकमुज्जापयति।'[3] इससे पूर्व यजमानादि जब रथों की दौड़-हेतु रथारोहण करते हैं, तब भी उसे स्वर्गारोहण ही माना गया है।[4] स्वर्गारोहण का पृथक् से भी एक प्रतीकात्मक कृत्य होता है।[5] इसके द्वारा यजयान मानों वस्तुतः स्वर्गारोहण करता है।[6]

1. तां० ब्रा० 18.7.6-8
2. आजि-धावन का पूर्ण विवरण इस प्रकार है—दक्षिणा-दान के पश्चात् मरुत्वतीय होम हो जाने पर आहवनीयाग्नि के पूर्व में 17 रथ इस प्रकार रखे जाते हैं कि उनके जुये उत्तर अथवा पूर्व में रहते हैं। सभी में चार-चार अश्व सन्नद्ध किए जाते हैं। तब आग्नीध्र के पृष्ठ भाग में दो स्तम्भ गाड़कर, उन पर सत्रह शंकु वाले एक काष्ठ को अग्रमुख रखकर, उन शंकुओं पर 17 दुन्दुभियां क्रम से रखी जाती है। फिर सभी को डंडे से बजाया जाता है। उसी समय चात्वाल एवं उत्कर के मध्य एक क्षत्रिय उत्तर दिशा में एक बाण फेंकता है। यह बाण जहाँ गिरता है, वहाँ खड़े होकर दूसरा बाण छोड़ता है, इस प्रकार 17 बाण छोड़ें जाते हैं। 17 वां बाण जहाँ गिरता है वहाँ उदुम्बर की एक शाखा गाड़ दी जाती है। तत्पश्चात् सर्वप्रथम यजमान अपने रथ पर आरोहण करता है, तदनन्तर सभी रथारूढ़ होकर रथ की दौड़ में भाग लेते हैं। यह दौड़ उसी उदुम्बर शाखा तक होती है। दुन्दुभियाँ बजती रहती हैं। ब्रह्मा दौड़ आरम्भ होने पर 17 अरों वाले चक्र को रथ की धुरी में लगाकर उस पर चढ़ता है और वाजि-साम का गान करता है। उदुम्बर शाखा की प्रदक्षिणा कर सभी याग-स्थल पर लौट आते हैं। इसके अनन्तर दुन्दुभि-विमोचन कृत्य होता है।
3. तां० ब्रा० 18.7.12; तुलनीय-आर्षेयकल्प-'वाजिनाञ्चैव सामादित्यानाञ्च पवित्रम् आविमर्य्या इति अनुहित्वा सुतम् इदमपि वाजिनां साम।
4. तां० ब्रा० 18.7.9-10
5. यजमान और पत्नी यूप के ऊपर पहले से रखी काष्ठ की 21 सोपानों वाली सीढ़ी पर चढ़ते हैं। उस समय यजमान के पुत्र-पौत्रादि खारी मिट्टी के बने 17 मृत्तिकापुटों को यजमान की ओर फेंकते हैं।
6. तां० ब्रा० 18.7.10

श्रौतसूत्रों से विदित होता है कि वाजपेय मूलतः 17 दिनों तक चलने वाला याग है, जिसमें 13 दिन दीक्षा के, 3 दिन उपसद् के और एक दिन सौमिक कृत्यों के लिए नियत है। यह शरद् ऋतु में सम्पाद्य है। पशु-याग की दृष्टि से इसमें 17 अथवा 22 पशु विहित हैं। सोम के साथ ही 17 ग्रहों में सुरा भी भरी जाती है। इस याग की दक्षिणा के विषय में श्रौतसूत्रकारों के मध्य वैमत्य है। आश्वलायन के अनुसार 1700 गायें, 17 अश्वयुक्त रथ, 17 अश्व, सवारी हेतु अन्य 17 पशु, 17 बैल, 17 शकट और 17 हाथी दक्षिणा के रूप में प्रदेय हैं। अध्वर्यु यजमान वाले रथ को तथा यूप में बँधे 17 परिधानों को भी ले लेता है। याग-काल में परिहित स्वर्णमालाएँ भी ऋत्विकों को मिल जाती हैं।

वाजपेय याग में इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य कृत्य भी प्रतीकात्मक रूप में सम्पाद्य हैं, जिनके उल्लेख की यहाँ प्रासंगिकता प्रतीत नहीं होती। इस याग के अनुष्ठानानन्तर यजमान क्षत्रियवत् आचरण करता है; वह अध्ययन और दान तो पूर्ववत् कर सकता है, किन्तु अध्यापन एवं दान-ग्रहण उसके लिए वर्जित हैं। इसके साथ ही वह अभिवादनार्थं स्वयं खड़ा नहीं होता तथा ऐसे लोगों के साथ खट्वारूढ़ नहीं होता, जिन्होंने वाजपेय याग का अनुष्ठान न किया हो।

श्रौतसूत्रों के अनुसार वाजपेय याग के अनुष्ठान के अनन्तर 'बृहस्पति सव' भी अनुष्ठेय है।

राजसूय

ताण्ड्य के 18वें अध्याय के शेष खण्डों (8-11) में राजसूय याग के औद्गात्र तन्त्र का निरूपण है। ताण्ड्यातिरिक्त जैमिनीय एवं शत० ब्राह्मणों[1] तथा प्रायः सभी सूत्रकारों[2] ने भी इसका वर्णन किया है।

तां० ब्रा० के अनुसार राजसूयाभिषेक स्वर्गारोहण के सदृश है।[3] लाट्यायनादि श्रौतसूत्रकारों के अनुसार स्वर्ग अथवा स्वाराज्यकामी राजा को ही इसका अनुष्ठान करना चाहिए।[4] 'राजसूय' गत 'सूय' शब्द 'सव' का सामानार्थक है और 'सव' अभिषेक का द्योतक है। सायण के अनुसार इसमें यजमान का अभिषेक

1. जैमि० ब्रा० 2.197-205; शत० ब्रा० 5.2.3-5.5
2. आर्षेयकल्प 4.7; ला० श्रौ० सू० 9.1-3; निदानसूत्र 7.5-6; आप० श्रौ० सू० 18.8.22; कात्या० श्रौ० सू० 15; आश्व० श्रौ० सू० 93-4
3. तां० ब्रा० 18.11.10
4. राजा स्वर्गकामो राजसूयेन यजेत्–आपस्तम्ब श्रौ० सू०। राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत्—जैमिनि श्रौ० सू० 1.2.12

होता है, इसीलिए इसका यह नाम पड़ा—'सूयतेऽभिषिच्यते यजमानोऽस्मिन् महाक्रतौ सोऽयमभिषेकयुक्तो महाक्रतु.।'[1]

बौधायन, आपस्तम्ब और आश्वलायन के अनुसार फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा को यागारम्भ किया जाता है। दीक्षा पवित्राख्य अग्निष्टोमसंस्थ सोमयाग से सम्पन्न होती है। 12 स्तोत्रों वाला अग्निष्टोम यज्ञ का मुख है, इसीलिए राजसूय इसी से आरम्भ किया जाता है—'अग्निष्टोमं प्रथममाहरति यज्ञमुखं वाग्निष्टोमो यज्ञमुखमेवाऽऽरभ्य सवमाक्रमते।'[2] इसमें तीन दीक्षाएँ और तीन उपसद् विहित हैं। राजा को सोम के स्थान पर न्यग्रोध फल का रस सौमिक विधियों के समान ही संस्कृत कर प्रदान किया जाता है। 'पवित्र' का अनुष्ठान अष्टमी को समाप्त होता है। इसके पश्चात् एक-एक दिन अनुमति, अग्नि-विष्णु, अग्निसोम और इन्द्राग्नि के निमित्त विभिन्न संख्याओं में पुरोडाश प्रदान कर चतुर्दशी को यवाग्रयण और व्रीह्याग्रयण प्रभृति पांच इष्टियाँ सम्पन्न होती हैं। फाल्गुनी पूर्णिमा से चातुर्मास्य-पर्व प्रारम्भ हो जाते हैं, जो वर्ष भर तक चलते रहते हैं।[3] इन पर्वों के मध्य में पूर्णिमा एवं अमावस्या के मासिक याग होते रहते हैं। चातुर्मास्य पर्वों के अनन्तर पञ्चवातीय होम, अपामार्ग होम तथा 12 रत्नहवियाँ नामक इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। कात्यायन के मत से 12 रत्न ये हैं—यजमान, सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता (कंचुकी), संग्रहीता, अक्षावाप (द्यूताधिकारी), गोविकर्ता (आखेटक), दूत या पालागला, परिवृक्ता। इनमें से प्रत्येक के गृह में प्रतिदिन एक-एक इष्टि होती है। पहली इष्टि सेनानी के घर में होती है, जिससे अनीकवत् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश समर्पित किया जाता है। इन इष्टियों के अन्य देवता हैं—इन्द्र, बृहस्पति, अदिति, वरुण, मरुद्गण; सविता; अश्विनयुग्म, रुद्र, अग्नि और निर्ऋति।

12वीं इष्टि के दिन सोम और रुद्र तथा मित्र और बृहस्पति के निमित्त चरू प्रदान किया जाता है।

तदनन्तर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को आठ सोमयाग प्रारम्भ होते हैं, जो ये हैं—पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, व्युष्टि, द्विरात्र क्षत्र-धृति, त्रिष्टोम और अग्निष्टोम। इन्हीं में से पांच सोमयागों का वर्णन ताण्ड्य के प्रकृत प्रकरण में है।

अग्निष्टोमादि का वर्णन अन्यत्र हो चुका है, इसीलिए सायण से पूर्ववर्ती, अज्ञात नाम वाले किन्हीं ताण्ड्य-भाष्यकारों, जिनके मत की प्रस्तुति सायण ने ही

1. तां० ब्रा० 18.8.1 पर सायण-भाष्य 2. तां० ब्रा० 18.8.1
3. फाल्गुन्यां पूर्णमास्यान्तु चातुर्मास्यानुपाक्रमेत्। तानि संवत्सरे कृत्वा द्वौ सोमौ तत आहरेत्॥—सायण द्वारा तां० ब्रा० 18.8 की अवतरणिका में उद्धृत।

की है, का मत है कि राजसूय में प्रकरण में विहित प्रथम सोमयाग अभिषेचनीय है, किन्तु सायण के अनुसार वह पवित्र है, भले ही ताण्ड्यकार ने उसका नाम से वर्णन न किया हो ।[1]

यद्यपि राजसूय में सोम, इष्टि और पशु—तीनों से सम्बद्ध कृत्य होते हैं, किंतु वस्तुतः इष्टि और पशुयागीय कृत्य सामों से अन्वित नहीं होते, इस कारण इसमें सोमयागों का ही निरूपण हुआ है ।[2] इन यागों के अन्तराल में इष्टियों और पशुबन्धों का सम्पादन भी होता रहता है ।

राजसूयगत दूसरा महत्त्वपूर्ण सोमयाग 'अभिषेचनीय' है, जिसकी मान्यता केंद्रीय कृत्य रूप में है । अभिषेचनीय पांच दिनों में सम्पन्न होता है—दीक्षाजन्य एक दिन, तीन दिन उपसद् के और एक सुत्यादिवस । अभिषेचनीय का अनुष्ठान यजनस्थल के दक्षिण भाग में किया जाता है । अभिषेचनीय और दशपेय दोनों ही कृत्यों में भृगुगोत्रीय होता का चयन होता है ।[3] सोम-क्रय आदि कार्य भी होते हैं । सोम के साथ ही न्यग्रोधअंकुरों के भी दो देवयजन होते हैं । अग्निषोमीय पशु के साथ सविता, गृहपति अग्नि, सोमवनस्पति, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, तथा मित्रावरुण देवों के मिमित्त आठ देवसू हवियाँ विहित हैं । तदनन्तर राजा के अभिषेकार्थ 17 प्रकार का जल लाया जाता है । कात्यायन[4] और आपस्तम्ब[5] प्रभृति सूत्रकारों के अनुसार इन जलों में सरस्वती नदी का जल, बहती नदी का जल, व्यक्ति के जल-प्रवेश से उत्पन्न हलचल का जल, बहती नदी के प्रतिकूल प्रवाह का जल, समुद्रोदक, समुद्र की तरंगों का जल, भँवर का जल, आकाशीय जल, तडाग-जल, झील का जल, कूप जल एवं तुषार-जल आदि सम्मिलित हैं । कतिपय अवान्तर कृत्यों के अनन्तर इस जलराशि से यजमान का अभिषेक होता है ।

---

1. आद्योऽभिषेचनीयः स्याद्दशपेयस्ततः परम् ।
   पश्विष्टयस्तु बहवः कर्त्तव्यास्तु तदा तदा ॥
   —सायण के द्वारा तां० ब्रा० 18.8 की अवतरणिका में उद्धृत ।
2. सोमेष्टि पशुबन्धानां समाहारो भवत्ययम् ।
   तत्रेष्टि पशुबन्धेषु सतः साम्नामनन्वयात् ।
   सोमा एवात्र कीर्त्यन्ते...।—सायण के द्वारा तां ब्रा० 18.8 की अवतरणिका में उद्धृत ।
3. तां० ब्रा० 18.9.2
4. कात्या० श्रौ० सू० 15.4 21-42
5. आप० श्रौ० सू० 18.13.1-18

इसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण[1] में विहित स्तोत्रादि का गान होता है। यह उक्थ्यसंस्थ रूप में वर्णित है।[2] बहिष्पवमान, माध्यन्दिनपवमान और आर्भवपवमान तीनों स्तोत्रों में द्वात्रिंशस्तोम विहित है। वाग्देवी को विशेष प्रिय होने के कारण अनुष्टुप् का विशेष महत्त्व उल्लिखित है।[3] अभिषेचनीय में कुल 15 स्तोत्र होते हैं, क्योंकि वह उक्थ्यसंस्थ है। बहिष्पवमानस्तोत्र के अतिदेशवश प्राप्त प्राकृत मंत्रों को बाधित कर यहाँ मन्त्रान्तर विहित हैं, जिनमें 'वायो शुक्र अयामि ते'[4] तृच, 'सम्भार्या'[5] आदि ऋचाएँ स्तोत्रिया रूप में विशेष रूप से निर्दिष्ट हैं। इस कृत्य का अन्तिम तृच सूर्य-देवत्य है।

एतदनन्तर द्यूत-क्रीड़ा होती है, होतृ ऋत्विक् ऐतरेय ब्राह्मणगत शुनःशेपाख्यान कहता है। तत्पश्चात् 'नाम व्यतिषंजनीय' नामक दो होम होते हैं। जिनमें एक उल्लेनीय तथ्य यह है कि पहले ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता का पिता कहा जाता है, तब वास्तविक सम्बन्ध घोषित किया जाता है। इसके अनन्तर गायों की लूट का एक प्रतीकात्मक कृत्य, रथविमोचनीय नाम्नी चार आहुतियाँ, द्यूत-क्रीडा आदि सम्पन्न होते हैं।

अभिषेचनीय के 10 दिन पश्चात् दशपेय' का अनुष्ठान होता है। दशपेय से पूर्ववर्ती इन दस दिनों में 'संसृप' संज्ञक 10 हवियाँ दी जाती है।[6] 10 वें दिन अपराह्ण 10 वीं पुण्डरीकमाला का प्रतिमुंचन होता है।[7]

1. तां० ब्रा० 18.8.3-16
2. वही 18.8.6
3. तां० ब्रा० 18.8.3
4. साम० सं० उ० 2.8.1.5.1
5. साम० सं० 2.920, 2.810-814
6. तां० ब्रा० 18.9.3 पर सायण-भाष्य।
7. कालन्द 'दशमी' का अर्थ सायण के समान मालापरक नहीं करते, प्रत्युत देवतापरक करते हैं—Śayana's explanation seems to be unacceptable— उनका आशय है कि 'दशमी भवति' का सम्बन्ध अगले अनुच्छेद से है, तदनुसार 10 संसृप हवियों के 10 दिन पश्चात् जब दशमी की आहुति हो चुकती है, तब चमस वाला कृत्य किया जाना चाहिए–The Brāhmana of Twenty Five Chapters, page 493-494

   किन्तु कालन्द की उपर्युक्त धारणा ठीक नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अन्य ब्राह्मणों तथा सूत्रकारों से भी सायण के ही मत का समर्थन होता है– तै० ब्रा० 18.2.1, आप० श्रौ० सू० 18.20.14, लाट्या० श्रौ० सू० 9.2.1 आदि में 'स्रक्-प्रतिमुञ्चन' का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट रूप में है।

   तां० ब्रा० में भी आगे (18.9.6) 12 कमलों से निष्पन्न पुष्करस्रक् के प्रतिमुंचन का विधान स्पष्ट रूप से है।

यजमान के चमस के अतिरिक्त 13 सोमचमस होते हैं, जिन्हें 10 चमसाध्वर्यु उठाते हैं। एक-एक चमस का पान करने के लिए 10-10 ब्राह्मण आगे बढ़ते हैं। प्रत्येक अपने 10 पूर्वजों के निमित्त भी पान करता है।[1] इस कृत्य से ऐन्द्रिक सामर्थ्य बढ़ती है।[2] दशपेयक्रतु के सभी स्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त होते हैं।[3]

ताण्ड्य ब्राह्मण[4] में निम्नोक्त क्रम से दक्षिणाएँ प्रदान करने का विधान है–सुवर्णमयी माला उद्गाता को, 'रुक्म' संज्ञक आभरण विशेष होता को, अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता को एक-एक 'प्रकाश' नामक आभरणविशेष, प्रस्तोता को अश्व, प्रतिहर्त्ता को धेनु, मैत्रावरुण को गाय, ब्राह्मणाच्छंसी को शक्तिशाली बैल, पोता को कपास के वस्त्र, नेष्टा को रेशमी साड़ी, मैत्रावरुण को जौ से भरा शकट; अग्नीध्र को अनड्वान्, सुब्रह्मण्यम को छाग, उन्नेता को अत्यन्त तरुणी गाय तथा ग्रावस्तुत को साण्ड बछड़ा तथा 12 प्रथमगर्भ वाली गायें दी जानी चाहिए।[5] यह विशिष्ट दक्षिणा है। इसके अतिरिक्त श्रौतसूत्रों में सहस्रों की संख्या में सभी गायें देने का का विधान है। कुल प्रदेय गायों की संख्या है दो लाख चालीस हजार। इस विशिष्ट दक्षिणा के कारण ही राजसूययाजी राजा पयस्वी और पुण्यपावन कहलाता है।[6]

दशपेय के अनन्तर केशवपनीय कृत्य होता है।[7] दशपेय और केशवपनीय के मध्य में पञ्चबलि नामक पाँच हवियाँ और 12 प्रयुग्घवि इष्टियाँ तथा पशुबन्ध होते हैं।

जेष्ठ शुक्ला एकादशी से आरम्भ कर पाँच दिनों में 'केशवपनीय' संज्ञक सोमयाग अतिरात्रसंस्थ रूप में अनुष्ठेय है। इसके प्रातः सवन में एकविंशस्तोम माध्यन्दिन सवन में सप्तदशस्तोम और तृतीय सवन में पञ्चदशस्तोम प्रयोज्य है। सूत्रकारों[8] के अनुसार इस कृत्य में वर्ष भर के केशों का वपन होता है।

---

1. तां० ब्रा० 18.9.4
2. वही
3. वही 18.9.5
4. वही 18.9.8-22
5. तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.8.2.3-5) में ताण्ड्य के ही सदृश दक्षिणा का विधान प्राप्त होता है।
6. तां० ब्रा० 18.9.22
7. तां० ब्रा० 18.10 की सायण-कृत अवतरणिका।
8. आश्व० श्रौ० सू० 9.3.24

इसके अनन्तर आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा को व्युष्टि द्विरात्र का संकल्प लिया जाता है।[1] इसके अनुष्ठान में एक मास लगता है जिसका विवरण इस प्रकार है—अहीन होने के कारण 16 दिन दीक्षा के, 12 दिन उपसद् के और दो दिन सुत्या के।

ताण्ड्य में कहा गया है कि जब तक द्विरात्राख्य क्रतु से यजमान यजन नहीं करता, तब तक उसे प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती, क्योंकि अभिषेक से तो केवल उसके पापों का ही शमन होता है, प्रतिष्ठा तो उसे द्विरात्र से ही प्राप्त होती है—

'अप्रतिष्ठितो वा एष यो राजसूयेनाऽभिषिच्यते यदा वा एतेन द्विरात्रेण यजतेऽथैव प्रतिष्ठा।'[2]

संवत्सर में जितने अहोरात्र होते हैं, उतनी ही अर्थात् 720 स्तोत्रीय ऋचाएँ द्विरात्र की होती हैं।[4] इसके प्रथम दिन अग्निष्टोम रूप में प्रयोज्य 12 स्तोत्रों की 190 ऋचाएँ तथा दूसरे दिन अतिरात्र रूप में प्रयोज्य 26 स्तोत्रों की 530 ऋचाएँ मिलाकर यह संख्या सम्पन्न हो जाती है।[3] द्विरात्र के सन्दर्भ में ताण्ड्य ब्राह्मण में श्रायन्तीय, यज्ञायज्ञीय तथा वारवन्तीय सामों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है।[5]

ताण्ड्य ब्राह्मण में राजसूय का निरूपण यहीं समाप्त हो जाता है। अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि इसके अनन्तर क्षत्रधृति नामक सोमयाग, जिसकी विधि अग्निष्टोमवत् है, किया जाता है। तदनन्तर सौत्रामणी के अनुष्ठान से राजसूय सम्पन्न हो जाता है।

कुल मिलाकर राजसूय एक महायाग अथवा छोटे-छोटे यागों का महासंघ है जिसमें 439 इष्टियाँ, दो पशुयाग, आठ सोमयाग और सात दर्विहोम होते हैं। समय की दृष्टि से राजसूय याग 21 मासों अथवा 33 मासों में सम्पन्न होता है।[6]

---

1. तां० ब्रा० (18.11.8) में विहित 'व्यष्टका' का अभिप्राय ही है कृष्णप्रतिपदा। सूत्रकार लाट्यायन के अनुसार 'व्यष्टका' से कृष्ण पक्ष की प्रथम तीन रात्रियाँ अभिप्रेत हैं - व्यष्टकायामुत्तरमिति तामिस्रप्रथमास्तिस्रो व्यष्टका इति'।

—लाट्या० श्रौ० सू० 8.3.8

2. तां० ब्रा० 18.11.5
3. वही 18.11.6
4. तुलनीय जैमिनीय ब्राह्मण 2.206
5. तां० ब्रा० 18.11.1-4
6. राजसूय के विषय में विस्तृत विवरण के लिए डा० जे० सी० हीस्टरमैन कृत ग्रन्थ The Sacrifice of Royal Consecretion द्रष्टव्य है।

द्वन्द्वसोम एकाह

ताण्ड्य के 19 वें अध्याय में 20 'द्वन्द्वसोमाख्य' एकाहों का वर्णन है। सायण से पूर्ववर्ती किन्हीं अज्ञातनामा ताण्ड्य–भाष्यकार ने, जिनका मत सायण ने ही प्रस्तुत किया है, एकाहों की संख्या 19 ही मानी है। उन्होंने उद्‌भिद् और बल-भिद् को एक ही मान लिया है।[1] सायण का कथन है कि इन 20 एकाहों में से कुछ ही देव-द्वन्द्व हैं, सभी नहीं।[2] इस विषय में 'निदानसूत्रकार' का मत है कि जो जिसके समान कर्तृत्व अथवा प्रयोजन से युक्त है, वे परस्पर द्वन्द्व हैं।[3] श्रौतसूत्रकारों के अनुसार द्वन्द्वों में से एक का अनुष्ठान करके दूसरे का अनुष्ठान भी अवश्य करना चाहिए।[4] प्रा० कालन्द का अभिमत है कि ये इस प्रकार विन्यस्त हैं कि इनमें से दो-दो में एक विशेष प्रकार की समानता है, यथा राज् और और विराट् तथा उद्‌भिद् और बलभिद् के मध्य समानता है।[5]

राट् :

राज्याभिलाषी होने पर भी किसी प्रतिबन्ध के कारण उसे न पा सकने की स्थिति में यह अनुष्ठेय है।[6] इसमें उसे राजा कहलाने का अवसर सुलभ होता है। एकविंशस्तोम के आठ बार प्रयोग से यह याग निष्पन्न होता है। इस आठ संख्या का सम्बन्ध राष्ट्र के संवाहक इन आठ वीरों से है – राजभ्राता, राजपुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता, द्वारपाल और संग्रहीता (भाण्डार का पालक)।

विराट् :

यह अन्नाद्य-कामना से अनुष्ठेय है। विराट् छन्द के सादृश्य पर इसका नाम-करण हुआ है।[7] इसके प्रत्येक स्तोत्र में 10 स्तोत्रीय ऋचाएँ होती है।[8]

---

1. ...इहाध्याये यागा एकोनविंशतिः–तां० ब्रा० 19 वें अध्याय के आरम्भ में सायण-भाष्यावतरणिका।
2. एकोनविंशे द्वन्द्वानां क्रतूनां रूपदर्शनम्।
   द्वन्द्वाश्च केचिद्देवानां न द्वन्द्वाः सकला अपि॥— वही
3. 'अथैते द्वन्द्वा इत्याचक्षते। न ते सर्वे द्वन्द्वाः, द्वन्द्वमिश्रास्तु भवन्ति यौ यावेषां समानकर्तृत्वमुपक्रतौ तौ द्वन्द्वौ'।–निदानसूत्र, 7.7
4. सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृष्ठ 420
5. The Brahmana of Twenty Five Chapters, page 501
6. तां० ब्रा० ,19.1.1
7. 'विराट् छन्दसा सह संख्यासम्पाद्येष क्रतुर्विराट्संज्ञकः'–तां० ब्रा० 19.2.1 पर भाष्य
8. तां० ब्रा० 19.2.4

औपशद् :

सायण के अनुसार इस शब्द की निष्पत्ति विनाशार्थक 'शद्' धातु से हुई है—इस याग के अनुष्ठान से सन्तानोत्पादन मे लगा दैवीय या अन्य प्रतिबन्ध समाप्त हो जाता है। प्रजोत्पादन-सामर्थ्य की प्राप्ति ही इसके अनुष्ठान का प्रयोजन है।[1] च्यावन और वसिष्ठ से सम्बद्ध जनित्र सामों का यहाँ विशेष रूप से विनियोग है। इसके औचित्य का प्रदर्शन एक आख्यायिका से किया गया है।[2] जिसके अनुसार पुत्र–मृत्यु से विषण्णहृदय वसिष्ठ ने इन सामों का साक्षात्कार सन्तानार्थी के रूप में किया था।

पुनस्स्तोम :

यह याग उस ऋत्विक् के द्वारा अनुष्ठेय है जो अनुपनीतों अथवा यज्ञ की दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों से याग कराकर निषिद्ध द्रव्यों को दक्षिणा में स्वीकार करने के कारण नरक-गमन के भय से ग्रस्त हो। इस अनुष्ठान से वह पुन. सोम–याग का अधिकारी हो जाता है।[3] इसके प्रातः और सायं सवनों के समस्त स्तोत्र त्रिवृत् स्तोमयुक्त और माध्यन्दिनसवनीय स्तोत्र द्वादशस्तोमयुक्त होते हैं। शुद्धाशुद्धीय नामक दो साम इसमें विशेष प्रयोज्य हैं। गोसूक्त और अश्वसूक्त नामक दो सामों के प्रयोग का औचित्य भी उल्लिखित है। तां० ब्रा० से ज्ञात होता है कि पुनस्स्तोम क्रतु उक्थसंस्थ है।[4]

चतुष्टोम (प्रथम) :

कालन्द के अनुसार इसका पूरा नाम है 'चतुरुत्तरचतुष्टोम।' इसका अनुष्ठान पशवभिलाषी को करना चाहिए।[5] याग के बहिष्पवमान स्तोत्रमें नियोज्य चार स्तोत्रीया ऋचाएँ पशुओं की चतुष्पादता की प्रतीक हैं। आज्यस्तोत्र में नियोजित आठ ऋचाएँ पशुओं के अष्टशफत्व की उपलक्षक हैं। इसमें कुल 12 स्तोत्र होते हैं, जिनके स्तोत्रीया ऋचाओं सहित औचित्य का भी प्रदर्शन किया गया है।

अन्य चतुष्टोम :

निदानसूत्र के अनुसार इसका प्रयोजन भी पूर्ववत् है–'पशुकामयज्ञ एवोत्तरः।'[6] इसमें 16 स्तोत्र होते हैं।

---

1. तां० ब्रा० 19.3.2
2. वही 19.3.8
3. वही 19.4.1-2
4. वही 19.4.12
5. वही 19.5.2
6. निदानसूत्र 7.8

उद्भिद् और बलभिद् :

इन दोनों यागों का प्रयोजन भी पूर्ववत् ही हैं। ताण्ड्योक्त आख्यायिका[1] के अनुसार असुरबल के द्वारा छिपाई गायों को देवों ने बृहस्पति के परामर्श से इसी क्रतु के अनुष्ठान से प्राप्त किया था। इसमें 'उत्सेध' और 'निषेध' संज्ञक दो विशिष्ट साम विहित हैं, क्योंकि बृहस्पति ने इन्हीं की सहायता के बलासुर का विनाश कर गायों को स्वाधीन किया था।

अपचिति (प्रथम) :

'अपचिति' का अभिप्राय है पूजा, आदर। ताण्ड्य के अनुसार सम्मान-कामना से यह क्रतु अनुष्ठेय हैं।[2] इसके बहिष्पवमान और माध्यन्दिन पवमानस्तोत्रों में चतुर्विंशस्तोम विहित है, पृष्ठस्तोत्र में बृहत् और रथन्तर सामों का विशेष विधान है। इस क्रतु में प्रयोज्य अन्य सामों में भर्ग और यशोसाम उल्लेखनीय हैं।

अपचिति (द्वितीय) :

त्रिवृदादि सभी स्तोम इसमें विहित है, इसलिए यह 'सर्वस्तोम' कहलाता है।

पक्षी (–अग्निष्टोम[3]—प्रथम) :

क्रतु का नामकरण पक्षी के सादृश्य पर हुआ है। इसका एक पक्ष स्थानीय है– त्रिवृदादि त्रयस्त्रिंशस्तोमान्त स्तोम–समूह, दूसरा पक्षस्थानीय है–त्रयस्त्रिंशादि त्रिवृदन्त स्तोमसमूह। सौपर्ण साम इसमें विशेष रूप से विहित है जो नाम–साम्य के कारण पक्षी कहलाता है।

ज्योति : (–अग्निष्टोम[4]—द्वितीय) :

इसके बहिष्पवमानस्तोत्र में त्रिवृत्स्तोम, आज्यस्तोत्रों में पञ्चदशस्तोम, माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र में चतुर्विंशस्तोम तथा पृष्ठस्तोत्रों में सप्तदशस्तोम विहित हैं। सौपर्ण साम का विधान पूर्ववत् है।

---

1. तां॰ ब्रा॰ 19.7.1
2. वही 19.8.1
3. सूत्रकारों और सायण ने इसका उल्लेख 'अग्निष्टोम' नाम से भी किया है— द्रष्टव्य : आर्षेयकल्प 5.4.; लाट्या॰ श्रौ॰ सू॰ 9.4.18-19; निदानसूत्र 7.9; आप॰ श्रौ॰ सू॰ 22.12.10; कात्या॰ श्रौ॰ 22.10.33—11.2;
4. सूत्रकारों और सायण ने इसका उल्लेख 'अग्निष्टोम' नाम से भी किया है— द्रष्टव्य : आर्षेयकल्प 5.4. लाट्या॰ श्रौ॰ सू॰ 9.4.18-19; निदानसूत्र 7.9; आप॰ श्रौ॰ सू॰ 22.12-10; कात्या॰ श्रौ॰ 22.10.33–11.2

ऋषभ :

'ऋषभ' शब्द यहाँ श्रेष्ठता का उपलक्षक है। यह धन-धान्यसमृद्ध राजन्य के द्वारा अनुष्ठेय है।[1] सदोविशीय और समन्त संज्ञक दो विशिष्ट सामों के अतिरिक्त इसमें बृहत् और रथन्तर साम भी विहित हैं।

गोसव :

इसका अनुष्ठान स्वाराज्यकामी को करना चाहिए; इस दृष्टि से गोसव का सादृश्य वाजपेय, राजसूय और वरुणसव के साथ प्रदर्शित है—'यो वै वाजपेयः स राजसूयो यो राजसूयः स वरुणसवोऽथैष गोसवः स्वाराज्यो वा एष यज्ञः।'[2] ब्राह्मणों[3] और सूत्रकारों[4] ने इसका जिस रूप में वर्णन किया है, उससे यह एक विलक्षण याग प्रतीत होता है। आपस्तम्ब के अनुसार गोसव याग के सम्पादन के अनन्तर एक वर्ष तक यजमान को पशुव्रत लेना पड़ता है, अर्थात् उसे पशु की भाँति आचरण करना पड़ता है; वह इस अवधि में पशु के सदृश ही जल-पान, घास चरना आदि क्रियाएँ करता है।[5] गोसव के विषय में कीथ[6] का कथन कि 'यह अपनी माता, बहिन तथा अपने गोत्र की किसी भी स्त्री के साथ अर्थात् जिनके साथ विवाह निषिद्ध है, उन स्त्रियों के साथ समागम को वैध करार देता है, सत्य नहीं है। एक तो सामवेदीय ब्राह्मण ग्रंथ इस प्रथा से अपरिचित हैं, केवल आपस्तम्ब पशुव्रत का उल्लेख करते हैं, जिसमें स्पष्ट है कि वह भी इसे पशु जगत् की बात मानते हैं। हमारे विचार से 'अपमातरमियादुपस्वसारमुपसगोत्राम्' का अर्थ है माता, बहिन अथवा किसी भी सगोत्रीय स्त्री के समीप पशु के सदृश चार पाँवों से प्रतीकात्मक रूप में चलकर जाना।

ताण्ड्य ब्राह्मण[7] के अनुसार आहवनीय के दक्षिण ओर स्थित अनुद्धत भूमि पर इस क्रतु से अभिषेक होता है। अभिषेक द्रव्य ताजा दूध है। इसके सभी स्तोत्र षट्त्रिंशस्तोमयुक्त होते हैं।[8] दस सहस्र गायें इसमें दक्षिणास्वरूप दी जाती हैं।[9]

---

1. तां० ब्रा० 19.12.3
2. वही 19.13.1
3. तैत्ति० ब्रा० 2.7.6
4. आप० श्रौ० सू० 22.12.12-20 तथा 22.13.1-3
5. तेनेष्ट्वा संवत्सरं पशुव्रतो भवति। उपावहायोदकं पिबेत्तृणालिञ्चाच्छिन्द्यात्। उपमातरमियादुपस्वसारमुपसगोत्राम्—आपस्तम्ब, श्रौ० सू० 22.13.1-3
6. कीथ : रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ ब्राह्मणाज एण्ड उपनिषद्स्।
7. तां० ब्रा० 19.13.9
8. वही 19.13.10
9. वही 19.13.6

मरुत्स्तोम :

सर्वप्रथम इस क्रतु का अनुष्ठान मरुतों ने किया था, जिन्हें इससे अपरिमित पुष्टि प्राप्त हुई थी ।[1] यह गणयज्ञ है, क्योंकि 49 संख्यक मरुद्देव विभक्त होते हुए भी गण रूप में ही रहते हैं । अतएव इसमें गणशः अर्थात् संघरूप में स्तोत्रों का प्रयोग होता है, यही इसके नामकरण का हेतु है—'यद्गणशः स्तोमास्तेन मरुत्स्तोमो गणशो हि मरुतः ।'[2] यजमान भी इसका अनुष्ठान अपने मित्रों या भाइयों अथवा अन्य तीन व्यक्तियों के साथ मिलकर ही करता है ।[3] सूत्रकार लाट्यायन का भी यही मत है ।[4] इसमें चार स्तोमसंघ हैं; प्रथम में तीन स्तोत्र (बहिष्पवमान तथा होता और मैत्रावरुण के आज्य स्तोत्र) त्रिवृत्स्तोमयुक्त होते हैं; द्वितीय में तीन स्तोत्र (ब्रह्मा और अच्छावाक् के आज्यस्तोत्र तथा माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र) पञ्चदशस्तोमयुक्त होते हैं; तृतीय में तीन स्तोत्र (होता, मैत्रावरुण और ब्रह्मा के तीन पृष्ठस्तोत्र) सप्तदशस्तोमयुक्त होते हैं; चतुर्थस्तोमसंघ में तीन स्तोत्र (अच्छावाक् का पृष्ठस्तोत्र, आर्भवपवमान और अग्निष्टोमसाम) एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं ।[5] यह अग्निष्टोमसंस्थ होता है ।

कुलाय :

क्रतु का पूरा नाम है—इन्द्र और अग्नि का कुलाय । इसका अनुष्ठान सन्तान और पशु-कामना से होता है । जैमि० ब्रा०[6] के अनुसार इन्द्र और अग्नि ने मिलकर सम्मिलित रूप में इस एकाह का अनुष्ठान सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए किया था । तदनुसार यह ब्राह्मण और क्षत्रिय के द्वारा मिलकर अनुष्ठेय है । इसके भी चार स्तोमसंघ हैं; पहले में त्रिवृत्स्तोमयुक्त छः स्तोत्र, दूसरे में पञ्चदशस्तोमयुक्त दो स्तोत्र, तीसरे में भी सप्तदशस्तोमयुक्त दो स्तोत्र और चतुर्थ में एकविंशस्तोमयुक्त दो स्तोत्र हैं । इस प्रकार यह भी अग्निष्टोमसंस्थ है ।

इन्द्रस्तोम :

इसके सभी स्तोत्र पञ्चदशस्तोम वाले होते हैं तथा इसका अनुष्ठान उक्थस्तोत्रों से युक्त होने के कारण उक्थसंस्थ रूप में होता है । इस एकाह में इन्द्र की प्रधानता होने के कारण यह राजन्यसाध्य है । सभी स्तोत्रीय ऋचाएँ इन्द्र से ही सम्बद्ध हैं । इसके अनुष्ठान से यजमान को पशु-समृद्धि प्राप्त होती है ।

---

1. वही 19.14.1
2. वही 19.14.2
3. वही 19.14.3
4. सखायो भ्रातरो वा ये सम्पादयेयुस्ते मरुत्स्तोमेव यजेरन्—ला० श्रौ० सू० ।
5. तां० ब्रा० 19.14.4-7
6. जैमि० ब्रा० 2.132-133

इन्द्राग्नि स्तोम :

इन्द्र और अग्नि ने इसके अनुष्ठान से अन्य देवताओं की अपेक्षा उत्कृष्टता प्राप्त की थी।[1] इसमें त्रिवृत् और पञ्चदश इन दो स्तोमों का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से प्रथम, तृतीय, पञ्चम, नवम और एकादश स्तोत्रों में त्रिवृत्स्तोम तथा द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम और द्वादशस्तोत्रों में पञ्चदशस्तोम का प्रयोग विहित है।[2] राजा और पुरोहित दोनों इसके अनुष्ठानाधिकारी हैं।[3] इसके अनुष्ठान से ब्राह्मण को राजपौरोहित्य तथा ब्रह्मवर्चस् और क्षत्रिय को प्रजा-लाभ होता है।[4]

विघन (प्रथम और द्वितीय) :

इन्द्र ने इसके साक्षात्कार पूर्वक अनुष्ठान से अपने शत्रुओं का विनाश किया था। तां० ब्रा० के अनुसार ये दोनों पश्वभिलाषियों के द्वारा अनुष्ठेय हैं।[5] इसमें त्रिवृत, द्वादश, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, चतुर्विंश और त्रिणवाख्य स्तोत्र विहित हैं।

अहीन याग

ताण्ड्य ब्राह्मण के 20-22 अध्यायों में विभिन्न अहीन यागों का वर्णन है। जैसा कि पहले कहा गया है, अहीनयाग दो दिन से लेकर 12 दिनों तक (13 दिनों से कम) में सम्पाद्य याग है।[6] द्वयह में 16 दीक्षाएँ, 12 उपसद् और एक सुत्या होती है। यह एक मास में समाप्य है। अन्य अहीनयागों में ज्यों-ज्यों सुत्या के दिन बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे दीक्षा के दिन कम होते जाते हैं, यथा—तीन सुत्या-दिन होने पर 15 दीक्षा-दिन होते हैं। द्वादशाह में 12 दीक्षा-दिन, 12 उपसद् दिन, 12 सुत्या-दिन—इस प्रकार 36 दिन होते हैं।

20वें अध्याय के दशमखण्ड तक 13 अतिरात्रों का वर्णन है। सायण के अनुसार इनकी अतिरात्र संज्ञा इसलिए अन्वर्थक है कि ये रात्रि के पश्चात् दूसरे दिन भी होते है—'रात्रिमप्यतीतस्य परदिनपर्य्यन्तं वर्तत इत्ययं क्रतुरतिरात्रः।'[7]

इनका ताण्ड्योक्त विवरण इस प्रकार है—

---

1. तां० ब्रा० 19 17.11
2. वही 19.17.2 तथा आर्षेयकल्प 5·7 3. तां० ब्रा० 19.17.4
4 वही 19.17.8
5. तां० ब्रा० 19.18.4
6. तां० ब्रा० 20वें अध्याय की अवतरणिका।
7. वही 20.4.8 पर सायण-भाष्य

ज्योतिष्टोम-अतिरात्र :

इसके अनुष्ठान का फल समृद्धि-प्राप्ति तथा अभिक्रमण है ।[1] याग के द्वादश-स्तोत्रगत अग्निष्टोमरूप में पृथ्वी पर, मध्यम उक्थ्यस्तोत्रगत उक्थ्यरूप से अन्तरिक्ष पर तथा तृतीय अतिरात्रस्तोत्रगत रूप से स्वर्ग पर विजय-प्राप्ति उल्लिखित है ।[2] इसके अग्निष्टोमान्त स्तोमों में प्रकृतियाग की भांति ही स्तोमक्लृप्ति विहित है । तीन बाद के स्तोत्रों में भी अग्निष्टोमवत् एकविंशस्तोम प्रयोज्य है । तीन रात्रि-पर्यायों में गेय द्वादशस्तोत्रों पञ्चदशस्तोम तथा सन्धिस्तोत्र में त्रिवृत्स्तोम का विधान है ।[3] यह क्रतु षोडशिरहित है । आर्षेयकल्प में यह षोडशिक और अषोड-शिक दोनों रूपों में विहित है, जिस पर व्याख्याकार बरदराज की टिप्पणी है कि ब्राह्मणान्तर में यह क्रतु षोडशियुक्त रूप में भी विहित है ।[4]

सर्वस्तोम अतिरात्र :

ऐश्वर्यकामी इसके अनुष्ठान का अधिकारी है । यह क्रतु ऐहिक और आमुष्मिक समस्त फलों को प्राप्त कराने में क्षम है ।[5] इसके बहिष्पवमानस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमक, आज्यस्तोत्र पञ्चदशस्तोमक, माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र सप्तदशस्तोमक, पृष्ठस्तोत्र एकविंशस्तोमक, आर्भवपवमान त्रिणवस्तोमक तथा अग्निष्टोम त्रयस्त्रिंशस्तोमक होते हैं । तीन उक्थस्तोत्रों का गान विपरीतक्रम से होता है—उक्थ का प्रथम स्तोत्र त्रिणवस्तोमक तथा शेष दो एकविंशस्तोमक होते हैं । षोणशिस्तोत्र में भी एकविंश-स्तोम ही प्रयोज्य है । इसमें 11 पशु तथा उतने ही यूपादि विहित हैं ।

अप्तोर्य्याम अतिरात्र :

सामान्यत: सर्वकामनासिद्धि के साथ ही पशु-लाभ इसका विशिष्ट प्रयोजन है ।[6] ब्राह्मणकार ने अपनी निर्वचनात्मक शैली में भी इसी पर बल दिया है—'तदप्तोर्य्याम्नोऽप्तोर्य्यामत्वम् ।'[7] कुछ अन्तरों के साथ स्तोम-क्लृप्ति सर्वस्तोम सदृश ही है । आर्षेयकल्प और उसके व्याख्याकार वरदराज ने इसके बृहत्पृष्ठ और रथन्तरपृष्ठ रूपों के आधार पर इसका विस्तार से निरूपण किया है ।[8] बृहत्पृष्ठरूप में अनेकधा दुन्दुभि-घोष इसका वैशिष्ट्य है ।

---

1. वही 20.1.2
2. वही 20.1.3
3. तां० ब्रा० 20.1.1
4. आर्षेयकल्प 6.1
5. तां० ब्रा० 20.2.2
6. वही 20.3.4
7. वही 20.3.5
8. आर्षेयकल्प 6.3

नवसप्तदश अतिरात्र :

सन्तान-कामना से अनुष्ठेय[1] इस याग में मैत्रावरुण के आज्यस्तोत्र से आर्भव-पवमान तक नौ स्तोत्र त्रिवृत्स्तोमक होते हैं, यही इसके नामकरण का आधार है।[2]

विषुवदतिरात्र :

इस क्रतु के अनुष्ठान में वे ही अधिकृत हैं, जो ज्यैष्ठिनेय (उस स्त्री का पुत्र, जिसका कोई ज्येष्ठ भ्राता हो) अथवा स्वयं ज्येष्ठ हों।[3] 'विषुवत्' शब्दगत 'विषु' की व्युत्पत्ति व्याप्त्यर्थक 'विष्लृ' धातु से है। यहाँ यह तीन स्तोमों के मध्य में स्थित एकविंशस्तोम का उपलक्षक है, जो आरोह और अवरोह रूप में अवस्थित स्तोमों से दोनों ओर व्याप्त है। इसके अनुष्ठान से अनुष्ठाता बहुसंख्यक सेवकों से युक्त हो जाता है। याग के बहिष्पवमान और सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमक, आज्यस्तोत्र-माध्यन्दिन पवमान और रात्रि स्तोत्र पञ्चदशस्तोमक, पृष्ठस्तोत्र-आर्भव पवमान और उक्थ स्तोत्र सप्तदशस्तोमक तथा अग्निष्टोम एकविंशस्तोमक होते हैं।

गोष्टोम अतिरात्र :

इसके अनुष्ठान से देवों ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी, अतएव यजमान भी अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। इस याग के बहिष्पवमान और रात्रि-स्तोत्र पञ्चदशस्तोम, आज्य और सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमक; माध्यन्दिनसवनीय स्तोत्र सप्तदशस्तोमक तथा उक्थसहित तृतीय सवन एकविंश स्तोमक होते हैं।[4]

आयुष्टोमातिरात्र :

ताण्ड्य के अनुसार इसका फल स्वर्ग-प्राप्ति है।[5] इसके बहिष्पवमान और सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त आज्य और रात्रिस्तोत्र पञ्चदशस्तोमक, माध्यन्दिन-सवनीय स्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त तथा सोक्थ तृतीय सवनीयस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं।[6]

अभिजिदतिरात्र :

ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार यह याग शत्रु-विजयेच्छुक के द्वारा अनुष्ठेय है।[7] इसकी स्तोम-क्लृप्ति इस प्रकार है—बहिष्पवमान और सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त, होतृकर्तृक प्रथम एवं ब्राह्मणाच्छंसिकर्तृक तृतीय आज्यस्तोत्र पञ्चदशस्तोमयुक्त,

---

1. तां० ब्रा० 20.4.1
2. वही 20.4.2
3. तां० ब्रा० 20.5.2
4. वही 20.6.1
5. वही 20.7.1
6. वही
7. वही 20.8.1

मैत्रावरुणकर्तृक द्वितीय एवं अच्छावाककर्तृक चतुर्थ आज्यस्तोत्र तथा होतृकर्तृक प्रथम पृष्ठस्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त माध्यन्दिनपवमानस्तोत्र तथा मैत्रावरुणकर्तृक द्वितीय पृष्ठस्तोत्र एवं अच्छावाक-कर्तृक चतुर्थ पृष्ठस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त, ब्राह्मणाच्छंसि-कर्तृक तृतीय पृष्ठस्तोत्र तथा आर्भवपवमानस्तोत्र त्रिणवस्तोमयुक्त तथा अग्निष्टोम त्रयस्त्रिंशस्तोमयुक्त होते हैं। उक्थस्तोत्रों में से प्रथम स्तोत्र त्रिणवस्तोमयुक्त और षोडशिसहित अन्य दो एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं।

विश्वजिदतिरात्र :

इसका यजन पशवभिलाषी को करना चाहिए।[1] स्तोम-क्लृप्ति अभिजित् के समान ही है। सुप्रसिद्ध बालखिल्य ऋचाओं के विनियोग से पशु-कामना की पूर्ति का औचित्य ब्राह्मणकार ने प्रदर्शित किया है।[2]

अन्य अतिरात्र :

त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश एवं एकविंशातिरात्र—इन चार अतिरात्रों का वर्णन ताण्ड्य ब्राह्मण में केवल दश खण्ड में ही है, क्योंकि इन सभी में मात्र एक-एक स्तोम हैं। ब्रह्मवर्चस्, ओजस्, अन्नाद्य और प्रतिष्ठा—ये क्रमश: इनके अनुष्ठान के प्रयोजन हैं। ताण्ड्यकार की संक्षिप्तता की पूर्ति आर्षेयकल्प और उसके व्याख्याकार ने इनमें विनियोज्य सामों और स्तोत्रिया ऋचाओं का विस्तार से विधान कर किया है।[3]

द्विरात्र

ताण्ड्य ब्राह्मण में आङ्गिरस, चैत्ररथ तथा कापिवन संज्ञक तीन द्विरात्रों का वर्णन किया गया है।[4] इनमें षोडश दीक्षा, द्वादश उपसद् और दो सुत्याएँ होती हैं। इनमें से आङ्गिरस अग्निष्टोमसंस्थ तथा चैत्ररथ और कापिवन अतिरात्रसंस्थ हैं। इनका शेष विवरण निम्नवत् है—

आङ्गिरस द्विरात्र :

इस क्रतु के अनुष्ठानाधिकारी वही हैं, जिन्हें पुण्यात्माओं के मध्य हीन समझा जाता हो; इसे सम्पन्न कर वे उत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं। सन्तान और स्वर्गप्राप्ति इसके अवान्तर फल हैं।[5] क्रतु के प्रथम दिन प्रकृतियाग अग्निष्टोम अनुष्ठेय है।[6] 'यज्ञायज्ञीय' अग्निष्टोमसाम और ज्योतिष्टोम के ही स्तोम इसमें विहित हैं।

---

1. तां० ब्रा० 20.9.1
2. वही 20.9.2
3. आर्षेयकल्प 6.8,11
4. 20.11.13
5. तां० ब्रा० 20.11.4-6
6. वही 20.11.1

आर्षेयकल्प के अनुसार यह दिन दधि-भक्षणान्त है।[1] ताण्ड्य के अनुसार द्वितीय दिवस की स्तोम-क्लृप्ति प्रायः सर्वस्तोमातिरात्रवत् है।[2] यत्किञ्चित् अन्तर इस प्रकार है—सर्वस्तोम अतिरात्र में बहिष्पवमान त्रिवृत्स्तोमयुक्त है, जो यहाँ चतुर्विंशस्तोमयुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसका एकविंशस्तोमयुक्त तृतीय उक्थस्तोम इसमें सप्तदशस्तोमयुक्त कर दिया जाता है। हविष्कृत् और हविष्मत् विशेषरूप से विनियुक्त हैं जो क्रमशः पहले और दूसरे दिन गेय हैं।

चैत्ररथ द्विरात्र :

ताण्ड्य के अनुसार राजा चित्ररथ के द्वारा कदाचित् अनुष्ठित होने के कारण इसका वर्तमान नामकरण सम्पन्न हुआ।[3] सन्तान-प्राप्ति और अन्नाद्य-पूर्ति इसके फल हैं।[4] इसका प्रथम दिन प्रायः आङ्गिरस द्विरात्र के समान उक्थस्तोत्रयुक्त ज्योतिष्टोम से सम्पन्न होता है। द्वितीय दिन आयुष्टोमातिरात्रवत् है। उक्थ-स्तोत्रगत नार्मेध साम के अनन्तर रात्रि और सन्धिस्तोत्र होते हैं। यह षोडशिरहित है।

कापिवन द्विरात्र :

ताण्ड्य ब्राह्मण[5] में उल्लिखित है कि इस याग का नामकरण ऋषि कापिवन भौवायन के नाम पर सम्पन्न हुआ, जिन्होंने इसके अनुष्ठान से समृद्धि प्राप्त की। ज्ञानपूर्वक इसके अनुष्ठान का भी यही फल है। आर्षेयकल्प[6] के वचनानुसार थोड़े अन्तर के साथ इसके दोनों दिनों की क्लृप्ति चैत्ररथवत् ही है। अन्तर केवल यह है कि प्रथम दिन त्रिवृत् और पञ्चदशस्तोम पर्यायक्रम से प्रयोज्य हैं।

छः त्रिरात्र

इसके अनन्तर ताण्ड्य ब्राह्मण में गर्ग, अश्व, वैद, छन्दोम, अन्तर्वसु और पराक् संज्ञक छः त्रिरात्रों का वर्णन है। इनमें तीन सुत्या, 15 दीक्षाएँ और 12 उपसद् होते हैं। इस प्रकार इनमें कुल 5 दिन लगते हैं। अन्य विवरण निम्नोक्तवत् हैं—

---

1. आर्षेयकल्प 6.12
2. तां० ब्रा० 20.11.1-2
3. तां० ब्रा० 20.12.5
4. वही 20.12.2-5
5. वही 20.13.4
6. आर्षेयकल्प (-6.14)—'ये चैत्ररथस्याहनी ते कापिवनस्य।'

गर्ग त्रिरात्र :

ताण्ड्य ब्राह्मण[1] के अतिरिक्त जैमि० ब्रा०[2] तथा कल्पकारों[3] ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। ताण्ड्य से विदित होता है कि इस याग के अनुष्ठान से लौकिक समृद्धि और मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग-प्राप्ति होती है।[4] त्रिरात्र की स्तोम-क्लृप्ति इस प्रकार है—प्रथम दिन प्रातःसवन त्रिवृत्स्तोमक, माध्यन्दिनसवन पञ्चदशस्तोमक तथा तृतीय सवन सप्तदशस्तोमक होता है। समापन 'यज्ञायज्ञीय' अग्निष्टोम साम से करणीय है। द्वितीय दिन प्रातःसवन पञ्चदशस्तोमयुक्त, माध्यन्दिनसवन सप्तदशस्तोमयुक्त तथा उक्थसहित तृतीयसवन एकविंशस्तोमयुक्त है। तृतीय दिन प्रातःसवन एकविंशस्तोमयुक्त, माध्यन्दिनसवन त्रिणवस्तोमयुक्त, आर्भवस्तोत्र त्रयस्त्रिंशस्तोमयुक्त, अग्निष्टोम चतुस्त्रिंश स्तोमयुक्त तथा षोडशि सहित उक्थस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं। प्रथमरात्रिस्तोत्र षोडशिस्तोमयुक्त, अन्य पञ्चदशस्तोमयुक्त तथा सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त होते हैं।

इसमें प्रयोज्य आज्यस्तोत्रीय ऋचाओं में अकार, ककार तथा होकार-इन तीन अक्षरों के सन्निवेश का विशेष प्रयोजन उल्लिखित है, क्योंकि प्रजापति ने वाणी से इन तीनों अक्षरों को जब पृथक् किया, तो उनसे क्रमशः तीनों लोक सम्पन्न हुए।

गर्गत्रिरात्र सहस्रदक्षिणा वाला याग है। एक सहस्र गायें तीन दिनों में विभक्त कर प्रदान की जाती हैं। प्रथम और तृतीय दिन प्रख्यात कुल-गोत्रीय आर्षेय और विद्वान् ऋत्विकों को दक्षिणा दी जाती है। दूसरे दिन अनार्षेय (अज्ञातकुलगोत्रीय) किन्तु विद्वान् ऋत्विकों को दक्षिणा प्रदान की जाती है।[5] तां० ब्रा० में एक आख्यायिका के माध्यम से इस गोसहस्रात्मिका दक्षिणा की भूयसी प्रशंसा की गई है।[6]

इसमें अग्निचयन से सम्बद्ध महाव्रत क्रतु के सभी पञ्चावयवों का सम्पादन हो जाता है। इसका उल्लेख तां० ब्रा० में एक रूपक के द्वारा किया गया है।[7] रूपक में त्रिरात्र का साम्य सूर्य से प्रदर्शित है।

---

1. तां० ब्रा० 20.14.16 तथा 21.1.3
2. जैमि० ब्रा० 2.240
3. आर्षेयकल्प 6.3-5, लाट्या० श्रौ० सू० 9.6, निदानसूत्र 8.5-6, कात्या० श्रौ० सू० 23.2.8, आश्व० श्रौ० सू० 10.2.6-9, शां० श्रौ० सू० 16.21
4. तां० ब्रा० 20 15.1
5. तां० ब्रा० 20.15.9-11
6. वही 21.1.1-9
7. वही 20.16.2

ताण्ड्य के 21 वें अध्याय के द्वितीय खण्ड में तीन आज्य-दोह-सामों, जिन्हें 'आचीदोह' तथा 'आच्यादोह' भी कहा जाता है[1], की विपुल प्रशंसा की गई है।

गर्गत्रिरात्र के तृतीय दिन शबली-होम का विधान है।[2] सूत्रकार लाट्यायन ने इसका प्रयोजन सहस्रपोषकामना को बतलाया है।[3] ताण्ड्य के अनुसार 'शबली' शब्द से स्तुतिरूपा वाणी विवक्षित है,[4] जो वस्तुतः कामधेनु है। शबली-होम के अंगरूप में सकृत्प्रक्षालित वस्त्र-धारण, तप्त क्षीर-पान और 12 दिनों तक भूमि पर शयन भी सम्मिलित है।[5] सूत्रकार मितभाषिता का उल्लेख भी इस सन्दर्भ में करते हैं।[6]

12 वीं रात्रि के उषःकाल में ही शबली-होम करके, अरण्य में जहाँ ग्राम-पशुओं की ध्वनि न सुनाई पड़े; वहाँ कुश-गुच्छ का स्पर्श करके 'शबलि ! शबलि !' ऐसा तीन बार आह्वान करना चाहिए। यदि श्वान या गर्दभ के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रतिशब्द सुनाई पड़े, तो आह्वान को समृद्ध समझना चाहिए।[7]

अश्वमेध त्रिरात्र :

तां० ब्रा०[8] के अनुसार इस याग का प्रथम दिन चतुष्टोम—अग्निष्टोमसाध्य, द्वितीय दिन एकविंशस्तोमयुक्त उक्थ्यसाध्य तथा तृतीय दिन सर्वस्तोमोपेत अतिरात्रसंस्थ होता है। इस प्रकार इसकी स्तोम-क्लृप्ति यत्किञ्चित् परिवर्तनों के साथ गर्गत्रिरात्र सदृश ही है। ताण्ड्योक्त आख्यायिका के अनुसार प्रजापति की आँख ही अश्वरूप में परिणत हो गई, जिसमें देवों ने अश्वमेधयाग का सम्पादन किया।[9] अश्वमेध का अनुष्ठाता सशरीर स्वर्ग-गमन का अधिकारी हो जाता है।[10]

तां० ब्रा० के अनुसार अन्य यागों में एक या ग्यारह यूपों में पशु-नियोजन होता है, किन्तु अश्वमेध में 21 यूप विहित हैं।[11] अन्य पशु याग में खादिर, विल्व या पलाश में से किसी का भी यूप हो सकता है, किन्तु अश्वमेध में श्लेष्मातक (निचुदार लकड़ी का) यूप ही प्रयोग योग्य है। इस यूप का निखनन आहवनी-

---

1. ये साम सामवेदसंहिता 1.67 पर गेय हैं, अरण्यगेयगान में त्रिणिधन (1.16), ईनिधन (1.17) तथा ऋतनिधन (1.18) रूप में प्राप्य हैं।
2. तां० ब्रा० 21.3
3. लाट्या० श्रौ० सू० 9.8.1
4. वाग्वै शबली—तां० ब्रा० 21.3.1
5. वही 21.3.4
6. लाट्या० श्रौ० सू० 9.8.4-7
7. तां० ब्रा० 21.3.5
8. तां० ब्रा० 21.4.1
9. वही 21.4.2
10. वही 21.4.3
11. वही 2 .4.13

याग्नि के समीप और सम्मुख होता है। अतएव यह अग्निष्ठ यूप कहलाता है। यह प्रायः 21 हाथ (अरत्नि) लम्बा होता है।

आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराज ने इस त्रिरात्र के विषय में कुछ और भी विवरण दिया है, जिसके अनुसार अभिषिक्त राजा ही इसके सम्मादन का अधिकारी है—'राजा प्रतिन्नोऽश्वमेधेन यजेत्।[1] आरम्भ के दिन, वरण के अनन्तर ब्रह्मौदन-पाक हो जाने पर उद्गाता को उसका भक्षण कर लेना चाहिए तथा यजमान से एक सहस्र गायों की दक्षिणा ले लेनी चाहिए। इसके पश्चात् वरदराज ने सवित्र्य इष्टियों तथा परिप्लव शस्त्र के शंसनादि का भी उल्लेख किया है। एक वर्ष के अनन्तर यजमान जब दीक्षा ले चुकता है, तो मूल याग प्रारम्भ होता है। उद्गाता यजमान के द्वारा प्रदत्त आसन को स्वीकार कर लेता है। सभी दिनों में बहिष्पव-मान स्तोत्र का गान चात्वाल में ही होता है। दूसरे दिन अश्व की पूंछ का आल-म्भन करके सभी सर्पण करते हैं। सर्पण करते समय यजमान उद्गाता से कहता है कि हे उद्गाता! हमने आपको छोड़कर अश्व उद्गाता का वरण सौ गायों और निष्कालंकार से किया हैं; मेरा उद्गान अब यही करेगा-इत्यादि। वरदराज के द्वारा प्रदत्त अन्य विवरण विस्तार-भय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

वैद त्रिरात्र :

इसके तीनों दिन षोडशि सहित त्रिवृत्स्तोमयुक्त तथा अतिरात्रसंस्थ होते हैं। ताण्ड्य के अनुसार यह राज्यशंसी के द्वारा अनुष्ठेय है।[2]

छन्दोमपवमान :

इसके अनुष्ठान का अधिकारी पशु-समृद्धि का इच्छुक व्यक्ति है।[3] इसके प्रथम दिन की स्तोत्र-स्तोम-क्लृप्ति प्रायः अश्वत्रिरात्र के समान है; अन्य दो दिन कुछ अन्तरों के साथ गर्गत्रिरात्र के समान अनुष्ठेय है।

अन्तर्वसु त्रिरात्र :

यह भी पशु-लाभ नैमित्तिक याग है। तां० ब्रा० के अनुसार स्तोम स्तोत्र-क्लृप्ति की दृष्टि से इसके प्रथम और अन्तिम दिन गर्गत्रिरात्र के समान हैं।[4] द्वितीय दिन प्रातः सवन चतुर्विंशस्तोमक, माध्यन्दिनसवन चतुश्चत्वारिंशस्तोमक तथा उक्थसहित तृतीय सवन अष्टाचत्वारिंशस्तोमक रूप में सम्पाद्य हैं। इसके तीनों दिन क्रमशः अग्निष्टोम उक्थ और अतिरात्रसंस्थ हैं।

---

1. आर्षेयकल्प 6.19-21
2. तां० ब्रा० 21.5.2 तथा आपस्तम्ब श्रौ० सू० 22.18.4-6
3. तां० ब्रा० 21.6.1,
4. वही 21.7.1

पराक त्रिरात्र :

याग का नामकरण पार्थिव दुःख (अक) के समापन के आधार पर हुआ है—'एतस्याऽकं तदस्य पराक् तत् पराकस्य पराकत्वम् ।'[1] स्वर्गाभिलाषी इसके अनुष्ठान का अधिकारी हैं ।[2] ताण्ड्य के अनुसार क्रतु का प्रथम दिन अन्तर्वसु के समान होता है ।[3] कुछ अन्तरों के साथ द्वितीय दिन गर्गत्रिरात्र के द्वितीय दिन के समान और तृतीय दिन का बहिष्पवमान स्तोत्र व्युष्टद्विरात्र के सदृश तथा अन्य स्तोत्र छन्दोमपवमान के समान होते हैं ।[4]

चार चतूरात्र

इसके अनन्तर चार खण्डों[5] में चार चतुर्वीर, जामदग्न्य, वासिष्ठ तथा विश्वामित्र का संजय संज्ञक चतूरात्रों का वर्णन हुआ है । इनमें से प्रत्येक चतुरात्र में चार सुत्या, 12 दीक्षा और 12 उपसद् होते हैं । इनका ताण्ड्योक्त विवरण निम्नोक्त है—

चतुर्वीर :

'अत्रिचतूरात्र' इसका नामान्तर है, क्योंकि इसके अनुष्ठान से अत्रि की चार वीर पुत्रों की कामना पूर्ण हुई थी ।[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ज्ञानपूर्वक इसके अनुष्ठान से सुहोता, सूद्गाता, स्वध्वर्यु और सुसभेय गुणों से युक्त चार वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं । इस चतूरात्र में केवल एक दिन षोडशि, रात्रि और सन्धिस्तोत्र विहित है । याग का प्रथम दिन अग्निष्टोमसंस्थ, द्वितीय और तृतीय दिन उक्थसंस्थ तथा चतुर्थ दिन अतिरात्रसंस्थ होता है ।[7] पवमानस्तोत्र सभी दिन चतुर्विंशस्तोमयुक्त ही होते हैं । आज्यस्तोत्र क्रमशः त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं । पृष्ठस्तोत्र क्रमशः पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश और त्रिणवस्तोमयुक्त होते हैं । आर्षेयकल्प और उसके व्याख्याकार वरदराज के अनुसार प्रथम तीन दिन दधिभक्षणान्त हैं तथा अन्तिम दिन उदवसानीया से सम्पन्न होता है ।[8]

जामदग्न्य चतूरात्र :

तां० ब्रा० के अनुसार इसका नामकरण जमदग्नि के आधार पर सम्पन्न हुआ है, जिन्होंने पुष्टि-कामना से इसका अनुष्ठान किया था ।[9] प्रकृत याग का प्रथम

1. तां० ब्रा० 21.8.3
2. वही 21.8.2
3. वही 21.8.1 तथा आर्षेयकल्प 5.39
4. आर्षेयकल्प, 6.31-32
5. तां० ब्रा० 21.8.9.12
6. तां० ब्रा० 21.9.2
7. तां० ब्रा० 21.9.6 तथा जैमि० ब्रा० 2.214
8. आर्षेयकल्प 7.1
9. तां० ब्रा० 21.10.5-7

दिन अग्निष्टोमसंस्थ है, जिसमें त्रिवृत् और पञ्चदशस्तोमों का व्यत्यासपूर्वक प्रयोग होता है। अर्थात् आद्यस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त और अन्य पञ्चदशस्तोम युक्त विहित हैं। दूसरे दिन स्तोत्रमुख अर्थात् बहिष्पवमानस्तोत्र चतुर्विंश स्तोमयुक्त, तीन आज्य-पञ्चदशस्तोमयुक्त, अच्छावाक्साध्य चतुर्थ आज्यस्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त, माध्यन्दिन-पवमान एकविंशस्तोमयुक्त, होतृ और मैत्रावरुणकर्तृक दो पृष्ठस्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त तथा ब्राह्मणाच्छंसि और अच्छावाक्कर्तृक दो पृष्ठस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं। उक्थसहित सम्पूर्ण तृतीयसवन एकविंशस्तोमयुक्त होता है। तीसरे दिन बहिष्पवमान और तीन आज्यस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त, चतुर्थ आज्यस्तोत्र पञ्चदशस्तोमयुक्त तथा माध्यन्दिनपवमान और पृष्ठस्तोत्र क्रमशः चतुर्विंश और एकविंशस्तोमयुक्त होते हैं। सम्पूर्ण तृतीयसवन त्रिणवस्तोमयुक्त होता है। चतुर्थदिवस पवमानस्तोत्र चतुर्विंश स्तोमयुक्त, होता का आज्यस्तोत्र पञ्चदशस्तोमयुक्त, तीन अन्य आज्यस्तोत्र सप्तदशस्तोमयुक्त, पृष्ठस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त, अग्निष्टोम त्रयस्त्रिंशस्तोमयुक्त उक्थ और शोडशिस्तोत्र एकविंशस्तोमयुक्त, रात्रिस्तोत्र पञ्चदस्तोमयुक्त और सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त होते हैं।

अन्य क्रतुओं में उपसदों का सम्पादन आज्यद्रव्य से होता है, किन्तु यहाँ पुरोडाश से किया जाता है।[1] अग्नि को एक; अश्विन को दो, विष्णु को तीन, सोम को चार, सविता को पाँच, धाता को छः, मरुद्गण को सात, बृहस्पति को आठ, मित्र को नौ, वरुण को दस, इन्द्र को एकादश और विश्वेदेवों को द्वादशकपाल पुरोडास प्रदान किया जाता है।

वासिष्ठ चतूरात्र :

आर्षेयकल्प में इसका नामान्तर 'संसर्प' उल्लिखित है।[3] हतपुत्र वसिष्ठ ने अपनी हीनता के निराकरणार्थ प्रस्तुत याग का साक्षात्कारपूर्वक अनुष्ठान किया था। इसके नामकरण का यही हेतु[4] है। स्तोम-क्लृप्ति की दृष्टि से इसमें प्रारम्भ से एक-एक स्तोम को छोड़कर उसके उत्तरवर्ती स्तोम का प्रयोग किया जाता है, यथा—प्रथम दिन प्रातःसवन त्रिवृत्स्तोमयुक्त, माध्यन्दिन सवन पञ्चदशस्तोम-युक्त और तृतीय सप्तदश स्तोमयुक्त होता है। दूसरे दिन प्रातःसवन पञ्चदशस्तोम-युक्त, माध्यन्दिनसवन सप्तदशस्तोमयुक्त और तृतीय सवन एकविंशस्तोमयुक्त होता है। इसी प्रकार अन्य दिनों की भी स्तोम-क्लृप्ति की जाती है।[5]

---

1. तां० ब्रा० 21.10.10
2. वही 21.10.23
3. आर्षेयकल्प 7.9
4. तां० ब्रा० 21·11.2
5. तां० ब्रा० 21.11-1

सञ्जयाख्य वैश्वामित्र चतूरात्र :

इसमें क्रम से चार त्रिवृदादि स्तोम विहित हैं।[1] इसके अनुष्ठान से विश्वामित्र को विजय और राज्य की प्राप्ति उल्लिखित है।[2]

तीन पञ्चरात्र

तां० ब्रा० के 21वें अध्याय के शेष तीन खण्डों (13-15) में अभ्यासंग्य, पञ्चशारदीय तथा अन्तर्म्महाव्रताख्य तीन पञ्चरात्र निरूपित हैं। इनमें 5 सुत्या-दिवस, 12 उपसद् और 13 दीक्षाएँ होती हैं।

अभ्यासंग्य :

इसका नामान्तर 'देवपञ्चरात्र' है, जैसा कि आर्षेयकल्प[3] से विदित होता है। तां० ब्रा० के अनुसार अभ्यासंग्य के अनुष्ठान का प्रयोजन शत्रुविजय है।[4] स्तोम-क्लृप्ति इस प्रकार है—प्रथम दिन प्रातः और माध्यन्दिनसवन त्रिवृत्स्तोममय तथा तृतीय सवन पञ्चदशस्तोमयुक्त होता है। दूसरे दिन प्रातः और माध्यन्दिन सवन पञ्चदशस्तोममय तथा तृतीयसवन सप्तदशस्तोमयुक्त होता है। तृतीय दिवस दो सवन सप्तदशस्तोममय तथा तृतीय सवन एकविंशस्तोमयुक्त होता है। चतुर्थ दिन दो सवन एकविंशस्तोमयुक्त तथा तृतीयसवन त्रिणवस्तोममय होता है। पाँचवें दिन दो सवन त्रिणवस्तोमयुक्त तथा एक त्रयस्त्रिंशस्तोमात्मक होते हैं। उक्थस्तोत्रों में से प्रथम त्रिणवस्तोमयुक्त तथा शेष दो षोडशिसहित एकविंशस्तोममय होते हैं। रात्रिस्तोत्र पञ्चदशस्तोम तथा सन्धिस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त रूप में विहित हैं। आर्षेय कल्प ने इस क्लृप्ति को संहत रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कतिपय छोटे अन्तरों के साथ इसके प्रथम दो दिन वैश्वामित्र चतूरात्र की भाँति अनुष्ठेय है और तीसरा द्वादशाह की भाँति। शेष दो दिनों में विशिष्ट स्तोम-क्लृप्ति विहित ही है।

पञ्चशारदीय पञ्चरात्र :

सन्तान-कामना से मरुत्-प्रसादनार्थ यह अनुष्ठेय है।[5] आर्षेयकल्प[6] के अनुसार इसके चार दिनों का अनुष्ठान देवपञ्चरात्र के समान है; केवल प्रथम दिन जराबोधीय साम का विशेष विनियोग है। चतुर्थ दिन से द्वितीय षडर्च के साथ कुछ साम छोड़ दिये जाते हैं। पाँचवें दिन का अनुष्ठान यत्किञ्चित् परिवर्तनों के साथ पुनः देवपञ्चरात्र के समान है। पशुबन्धों का इसमें विशेष विधान है।

---

1. तां०ब्रा० वही 21.12.1
2. वही 21.12.2
3. आर्षेयकल्प 7.17
4. तां० ब्रा० 21.13.2-3
5. तां० ब्रा० 21.14.2-3
6. आर्षेयकल्प 7.21

ताण्ड्य में विस्तार से तद्विषयक नर और स्त्री पशुओं का उल्लेख है।[1] सूत्रकारों ने भी इसकी पुष्टि की है।[2]

अन्तर्म्महाव्रत :

आर्षेयकल्प में इसे 'व्रतमध्य' कहा गया है।[3] दोनों नामों का हेतु याग की महाव्रतगत मध्यस्थता है। इसके पाँचों दिन विभिन्न एकाहों की स्तोम-क्लृप्ति ही अनुमन्य है, जिसका विवरण इस प्रकार है—1. ज्योतिष्टोम-अग्निष्टोम; 2. गोरुवथ्य, 3. महाव्रत, 4. गोरुवथ्य और 5. आयुरतिरात्र। भिन्नता यह है कि केवल प्रथम दिन को छोड़कर बहिष्पवमानस्तोत्र का गान सदस् में होता है। चारों दिन दधि-भक्षणान्त हैं।[4] पञ्चम दिन उदवसानीयान्त है।

जैमि० ब्रा० से ज्ञात होता है कि यह अन्नाद्य कामना से अनुष्ठेय है।[5]

तीन षड्रात्र

तां० ब्रा० के 22 वें अध्याय के प्रथम तीन खण्डों में तीन षड्रात्र निरूपित हैं; ये हैं—ऋतुषड्रात्र, त्रिकद्रुक और अभ्यासंग्य। इनमें 12 दीक्षाएँ, 12 उपसद् और छः सुत्या-दिन होते हैं।

ऋतुषड्रात्र :

वस्तुतः यह भिन्न नाम वाला पृष्ठ्यषडह ही है, जैसा कि तां० ब्रा० में कहा गया है।[6] आर्षेयकल्प के अनुसार कुछ इसे व्यूढ मानते हैं और कुछ समूढ।[7] कल्पकार ने दोनों की स्तोम-क्लृप्ति दी है। यह याग प्रतिष्ठा के आकांक्षी के द्वारा अनुष्ठेय है[8] क्योंकि ऋतुओं ने इससे प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। श्रौतसूत्रों से ज्ञात होता है कि प्रतिदिन षडहों में ऐन्द्राग्निसवनीय पशुयाग अथवा स्तोमायन होता है।

त्रिकद्रुक :

आर्षेयकल्प में इसका नामान्तर दिया है—'आयुष्काम षडह।'[9] सायण-भाष्य में त्रिकद्रुक नाम उल्लिखित है। यागगत प्रथम दिन ऋतुषडह तथा अगले तीन दिन ज्योति, गो और आयुरतिरात्र के समान अनुष्ठेय हैं। इसके अनुष्ठान से सम्पूर्णायु की प्राप्ति उल्लिखित है।[10]

---

1. तां० ब्रा० 21.14.7-20
2. लाट्या० श्रौ० सू० 9.12.10
3. आर्षेयकल्प 7.23
4. वही 7.23
5. जैमि० ब्रा० 2.294
6. तां० ब्रा० 22.1.1
7. आर्षेयकल्प 7.24
8. तां० ब्रा० 22.1.2
9. आर्षेयकल्प 7.25
10. तां० ब्रा० 22·2.2

अभ्यासंग्य षडह :

आर्षेयकल्प में इसे पृष्ठ्यावलम्ब कहा गया है।[1] इसके स्तोम अभ्यासंग्य (Internally attached) हैं; अर्थात् प्रथम दिन के तृतीयसवन का स्तोम अगले दिन के प्रथम दो सवनों का स्तोम विधेय है। उदाहरणार्थ प्रथम दिन के बहिष्पवमान और माध्यन्दिनसवनगतस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त होते हैं और आर्भवस्तोत्र पञ्चदशस्तोमयुक्त। दूसरे दिन प्रथम दो सवन पञ्चदशस्तोमयुक्त और तृतीयसवन सप्तदशस्तोमयुक्त होते हैं। पाँच दिनों तक इसी प्रकार त्रिवृत् से त्रयस्त्रिंश तक के स्तोमों का विभाजन है। षष्ठ दिन विश्वजिदतिरात्र एकाह का पूर्णतया अनुष्ठान विहित है।

सात सप्तरात्र

तां० ब्रा० 22 वें अध्याय के 4-10 खण्डों में सप्तर्षि, प्राजापत्य, छन्दोमपवमान, जामदग्न्य, ऐन्द्र, जनक और पृष्ठस्तोत्र संज्ञक सात सप्तरात्रों का निरूपण है। इनमें 12 उपसद्-साध्य 11 दीक्षाजन्य और सात सुत्याजन्य दिन होते हैं।

सप्तर्षि सप्तरात्र :

ताण्ड्य के अनुसार इसके अनुष्ठान से सप्तर्षियों को समृद्धि प्राप्त हुई थी, इस कारण अन्य अनुष्ठाताओं को भी इससे समृद्धि-लाभ होता है।[2] प्रथम छः दिन प्रातः ऋतुषडह के समान हैं। सातवें दिन महाव्रत एकाह के स्तोत्र ज्योतिष्टोमातिरात्र के साथ विहित हैं।

प्राजापत्य सप्तरात्र :

यह सन्तान और पशुजन्य कामनाओं का पूरक है।[3] इसके प्रथम छः दिन कतिपय परिवर्तन के साथ सप्तर्षि सप्तरात्र के समान अनुष्ठित होते हैं। अन्तिम दिन महाव्रत एकाह के रूप में अनुष्ठेय है।

छन्दोमपवमान सप्तरात्र :

पशु-समृद्धि का आकांक्षी इस याग का अधिकारी है।[4] सामान्य परिवर्तन पूर्वक इसके प्रथम छः दिन पृष्ठ्यषडह् की भाँति और अन्तिम दिन सप्तर्षि सप्तरात्र के समान अनुष्ठेय हैं।

जामदग्न्य सप्तरात्र :

आर्षेयकल्प में इसका नामान्तर दिया गया है—'क्षुल्लक जामदग्न्य सप्तरात्र।'[5] यह याग पुष्टि का साधन है। ताण्ड्य के अनुसार इसके अनुष्ठान से सभी काम-

1. आर्षेयकल्प 7.26 2. तां० ब्रा० 22.4.2 3. वही 22.5.3-4
4. तां० ब्रा० 22.6.2 5. आर्षेयकल्प 7.30

नाओं की पूर्ति होती है। प्रथम पाँच दिन पृष्ठ्यावलम्ब षडह की भाँति अभ्यासक्त-रूप में अनुष्ठेय हैं। छठे दिन त्रयस्त्रिंशस्तोम के प्रयोग का प्रयोजन तैंतीस देवों—(आठ वसुओं, 11 रुद्रों; 12 आदित्यों, प्रजापति और वषट्कार) का प्रतिनिधित्व है; स्तोम इनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। शेष दिनों के अनुष्ठान महाव्रत-अतिरात्र के समान हैं।

ऐन्द्र सप्तरात्र :

सर्वविजय और सर्वप्राप्ति यागानुष्ठान के प्रयोजन हैं।[2] इसके सात दिन क्रमशः ज्योतिष्टोम-अग्निष्टोम, गौरुक्थ्य, आयुरुक्थ्य, अभिजिद्-अग्निष्टोम, विश्वजित् अग्निष्टोम और महाव्रत एकाह के समान अनुष्ठेय हैं और अन्तिम दिन सर्वस्तोमातिरात्र के समान।[3]

जनक सप्तरात्र :

अन्नाद्य के आधिपत्य की प्राप्ति इसका प्रयोजन है।[4] कतिपय परिवर्तनों और वैकल्पिक विधानों के साथ इसके प्रथम चार दिन देवपञ्चरात्र के समान अनुष्ठेय हैं। प्रथम दिन अग्निष्टोमसंस्थ और अन्य तीन दिन उक्थसंस्थ हैं। प्रथम दिन देवपञ्चरात्र के विपरीत सर्वत्र त्रिवृत्स्तोम और सभी सामों का प्रयोग विहित है। पंचम दिन विश्वजित् एकाह, षष्ठ दिन महाव्रत और सप्तम दिन षोडशियुक्त ज्योतिष्टोम अतिरात्र के रूप में अनुष्ठेय है।

पृष्ठस्तोत्र सप्तरात्र :

पहले छः दिन ऋतुषडह के समान हैं—कुछ अवान्तर परिवर्तनों के साथ। स्तोत्र यहाँ अभ्यासक्त रूप में प्रयोज्य नहीं होते। पृष्ठस्तोत्रों में बृहत् और रथन्तर सामों का विकल्पतः प्रयोग विहित है। षोडशि का विनियोग चतुर्थ दिन है। सप्तम दिन विश्वजिदतिरात्र के रूप में अनुष्ठेय है।

अष्टरात्र

इनमें आठ सुत्यादिन होते हैं। प्रथम छः दिन ऋतुषडह (व्यूढ अथवा समूढ में से किसी एक प्रकार के) के समान हैं। सप्तम दिन ज्योतिष्टोमातिरात्र के समान है। इसमें षोडशि प्रयोग अविहित है। अष्टरात्र के अनुष्ठान से देवों को सर्व प्राप्ति हुई थी।[5]

---

1. तां० ब्रा० 22.7.2
2. वही 22.8.2
3. वही 22.8.1
4. वही 22.9.2
5. तां० ब्रा० 22.11.6

दो नवरात्र

तां० ब्रा० के 21 वें अध्याय के 12-13 खण्डों में दो नवरात्रों का विधान है। इनमें से प्रथम शतायुष्य का साधनभूत देवनवरात्र है और दूसरा पशु-साधनभूत नवरात्र है। नवरात्र में 12 उपसद्, 10 सुत्या-दिन और 8 दीक्षा-दिन होते हैं।

देवनवरात्र :

इसके अनुष्ठान से देवों ने मृत्यु-भय से मुक्त होकर अमृतत्व-प्राप्ति की थी। मनुष्य की अमरता यही है कि वह सौ वर्ष की सम्पूर्ण आयु जिये-अतएव इस भाग का प्रयोजन शतायुष्य-प्राप्ति है।[1] इसके प्रारम्भिक तीन दिन ऋतुषडह के समान हैं और अगले तीन दिन क्रमशः ज्योति, गो और आयुसंज्ञक एकाहों का अनुष्ठान होता है। अन्तिम दिन अतिरात्रसंस्थ है।

पशुसाधनभूत नवरात्र :

याग के आरम्भिक तीन दिन कुछ परिवर्तनों के साथ ज्योतिष्टोमातिरात्र, गोरुक्थ्य और आयुरुक्थ्य रूप में अनुष्ठेय हैं। आगे के पाँच दिन पृष्ठ्यावलम्ब की भाँति तथा अन्तिम दिन विश्वजिदतिरात्रसंस्थ हैं।[2]

चार दशरात्र

ताण्ड्य के 22 वें अध्याय के 14-17 खण्डों में त्रिकद्रुक, कुसुरुविन्द, अभ्यासंग्य और देवपुर संज्ञक चार दशरात्रों का वर्णन है। इनमें 10 सुत्यादिन, 12 उपसद् और 8 दीक्षा दिन होते हैं।

त्रिकद्रुक :

आर्षेयकल्प में यह 'त्रिककुप्' नाम से अभिहित है।[3] 'त्रिककुब्वा एष यज्ञः' कहकर तां० ब्रा० ने भी इसके इस नाम के स्वारस्य को प्रकट किया है।[4] ताण्ड्य के अनुसार इन्द्र ने प्राजापत्य असुरों को मारकर यह सोचा कि मैंने भ्रातृवधरूप महान् अकार्य कर डाला है। तब इसी याग के अनुष्ठान से उन्हें नैर्दंश्य (भयराहित्य की अवस्था) की प्राप्त हुई।[5] कतिपय सामों की भिन्नतापूर्वक प्रथम दिन प्रायः जनक सप्तरात्र के समान अनुष्ठेय है। कुछ सामों में विलक्षणता के साथ दूसरा दिन देवपञ्चरात्र के सदृश है। तृतीय दिन से नवें दिन तक स्वतन्त्र स्तोत्र विहित हैं। दशम दिन विश्वजिदतिरात्रसंस्थ है। प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम और

---

1. तां० ब्रा० 22.12.1-4
2. तां० ब्रा० 22.13.1 तथा आर्षेयकल्प 7 36
3. आर्षेयकल्प 8.1 4. तां०ब्रा० 22.14.6 5. तां० ब्रा० 22.14.2

और नवम दिन अग्निष्टोमसंस्थ तथा द्वितीय, पञ्चम और अष्टम दिन उक्थ्य-संस्थ होते हैं।

कुसुरुविन्द दशरात्र :

पुत्र-पौत्रादि के साधक इस याग का नामकरण उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द के नाम पर हुआ है, जिन्होंने इसका सर्वप्रथम यजन किया था।[1] आर्षेयकल्प[2] के अनुसार इसके प्रथम और तृतीय दिन बृहस्पतिसव के समान, द्वितीय और चतुर्थ दिन कुछ परिवर्तनपूर्वक क्रमशः जनक सप्तरात्र और त्रिककुप् दशरात्र के समान, पंचम दिन कुछ सामान्य परिवर्तनों के साथ ज्योतिष्टोम के समान हैं, किन्तु उक्थ्यस्तोत्र तृतीय दिनगत ही है। षष्ठ दिवस चतुर्थवत् ही है। सप्तम दिन कुछ परिवर्तनों के साथ तीव्रसुत के सदृश, अष्टम दिन कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ स्वरसाम के समान, नवम दिन सप्तमवत् तथा दशम दिन एकविंशातिरात्र के समान है। इस प्रकार प्रथम तीन दिन अग्निष्टोमसंस्थ, छः उक्थ्यसंस्थ और 10 वां अतिरात्रसंस्थ है।

तृतीय दशरात्र :

यह पशुकामना से अनुष्ठेय है।[3] आर्षेयकल्प[4] के अनुसार इसके प्रथम पाँच दिन पृष्ठ्यावलम्ब के समान अनुष्ठेय हैं; केवल बहिष्पवमान स्तोत्रों में कुछ भिन्नता है। अगले चार दिन द्वादशाह के 7-10 दिनों के अनुसार होते हैं। दशम दिवस विश्वजिदतिरात्रसंस्थ है।

देवपुर दशरात्र :

इसके अनुष्ठान से देवों ने असुरों पर जय पाई थी। ताण्ड्य के अनुसार इसका अनुष्ठान उसे करना चाहिए, जिसके विरोध में किसी अभिचारकर्म का अनुष्ठान चल रहा हो।[5] यागानुष्ठान से वह देवपुर में प्रविष्ट हो जाता है और उस पर अभिचार का प्रभाव नहीं होता। यह अग्निष्टोमसंस्थ याग है। आर्षेयकल्प में इसकी विस्तार से स्तोम-क्लृप्ति दी गई है।[6]

पौण्डरीक एकादशरात्र

तां० ब्रा० के 22 वें अध्याय के अन्तिम खण्ड में इसका वर्णन है। इसके प्रथम पाँच दिन पृष्ठ्यावलम्ब के समान हैं। षष्ठ दिन पृष्ठ्यस्तोम के षष्ठ दिन की

---

1 तां० ब्रा० 22.15 2 तथा 10

2. आर्षेयकल्प 8.12

3. तां० ब्रा० 22.16.1

4. आर्षेयकल्प 8.21

5. तां० ब्रा० 22.17.3

6. आर्षेयकल्प 8.27

भाँति होता है। ताण्ड्य के[1] अनुसार स्वाराज्य और परमेष्ठिता की प्राप्ति इसके अनुष्ठान के प्रयोजन है। बृहत् और रथन्तर सामों का गान इस याग में विशेष रूप से होता है। अयुतसंख्य गायें दक्षिणा में प्रदेय हैं। इसके प्रथम दो सवन त्रयस्त्रिंशस्तोमयुक्त और तृतीय सवन षट्त्रिंशस्तोमयुक्त हैं। 7-9 दिन छन्दोमवत् दशरात्र के समान है। दशम चतुष्टोम और अन्तिम विश्वजिदतिरात्र के समान हैं।

पुण्डरीक के पुत्र क्षेमधृत्वा ने इसका अनुष्ठान सुदामा प्रदेश के उत्तरवर्ती भाग में किया था।[2]

सत्रयाग

जैसा पहले कहा गया है, तां० ब्रा० के 23-25 अध्यायों में विभिन्न सत्रयागों का वर्णन है। इनके अनुष्ठान में न्यूनतम 12 दिन लगते हैं। सत्रयाग में यजमान नहीं होता, उसके स्थान पर गृहपति होता है। सत्र का आरम्भ और समापन अतिरात्र से होता है। शतरात्र तक के सत्र रात्रिसत्र कहलाते हैं। समस्त रात्रि-सत्रों में 12 दीक्षाजन्य और 12 उपसद्जन्य दिन होते हैं। सुत्यादिन सभी में भिन्न-भिन्न हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—त्रयोदशरात्र में 13, चतुर्दशरात्र में 14, पञ्चदशरात्र में 15, इस प्रक्रिया से एक एक दिन बढ़कर चत्वारिंशद्रात्र तक के सत्रों में 24 सुत्यादिन हो जाते हैं। इस दृष्टि से त्रयोदशरात्र 37 तथा चतुर्दशरात्र 38 दिनों में अनुष्ठेय हैं।

दो त्रयोदशरात्र

आप्तद्वादशाख्य त्रयोदशरात्र :

'आप्त' शब्द का अभिप्राय है सम्पूर्ण। वस्तुतः यह सम्पूर्ण द्वादशाह है। सायण के अनुसार जैसे लोक में न्यूनता की शंका के परिहार-हेतु दान में क्लृप्त संख्या से कुछ अधिक वस्तु दे दी जाती है, ताकि यदि कोई कमी रह गई हो, तो वह भी पूर्ण हो जाये, उसी प्रकार से द्वादशाह के अनुष्ठान में कोई न्यूनता न रह जाये, इस कारण एक दिन अधिक अर्थात् त्रयोदशरात्र में उसका अनुष्ठान किया जाता है।[3] ताण्ड्य के अनुसार इसके अनुष्ठान से समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।[4] प्राचीनकाल में अर्यल को गृहपति तथा आरुणि को होता बनाकर सत्रियों ने सुभगा नदी के तट अथवा सुभगाख्य प्रदेश में इसका अनुष्ठान किया था। तां० ब्रा०[5] तथा आर्षेयकल्प[6] के अनुसार इसके अनुष्ठेय दिनों का विवरण इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र, पृष्ठ्यषडह-2-7; सर्वतोमातिरात्र—8; चार छन्दोम—9-12 उदयनीय अतिरात्र—13।

---

1. तां० ब्रा० 22.18.3 तथा 5
2. वही 22.18.7
3. तां० ब्रा० 23.1.2 पर सायण-भाष्य
4. वही 23.1.3
5. वही 23.1.1
6. आर्षेयकल्प 9·4

द्वितीय त्रयोदशरात्र :

ताण्ड्य ब्राह्मण[1] तथा आर्षेयकल्प[2] में से किसी ने भी इसके विशिष्ट नाम का उल्लेख नहीं किया है। इसके अनुष्ठेय दिनों का विवरण इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र, द्वादशाह के 10 दिन, महाव्रत (12 वां दिन) तथा उदयनीय अतिरात्र।

इन दो त्रयोदशरात्रों के अतिरिक्त एक त्रयोदशरात्र और है, जिसका निरूपण षड्० ब्रा०[3] में हुआ है, जिसका विवरण आगे षड्विंशगत यागों के प्रसंग में द्रष्टव्य है।

चतुर्दशरात्र

ये तीन हैं जिनके कहीं भी कोई विशेष नाम नहीं दिए गये हैं।

प्रथम चतुर्दशरात्र:

ताण्ड्यानुसार यह समस्त कामनाओं का साधक है।[4] इसके अनुष्ठान का विवरण इस प्रकार है—(1) प्रायणीय अतिरात्र, दो पृष्ठ्यषडह गवामयन के (2-13), उदयनीय अतिरात्र। प्रथम पृष्ठ्यषडह में स्तोमों का क्रम सामान्य ही है, अर्थात् उसमें त्रिवृत् से प्रारम्भ कर त्रयस्त्रिंशान्त क्रम से स्तोम प्रयोज्य हैं। द्वितीय पृष्ठ्यषडह में क्रम उलट जाता है—तब त्रयस्त्रिंश से प्रारम्भ कर त्रिवृत् से समाप्त करते हैं, जैसा कि तैत्तिरीय शाखा में स्पष्टोल्लेख है—'पराचीनानि पृष्ठानि' तथा 'प्रतीचीनानि पृष्ठानि।'[5]

द्वितीय चतुर्दशरात्र :

जिन्हें अपने विवाहादि में सन्देह हो, उनके द्वारा यह याग अनुष्ठेय है।[6] सायण के अनुसार शय्या, अभिषेक आदि के आकांक्षी भी इसमें अधिकृत हैं।[7] इसके 14 दिनों का अनुष्ठान क्रम यों है—प्रायणीय अतिरात्र (1), ज्योति, गौ

---

5. तां० ब्रा० 23.2　　6. आर्षेयकल्प 9.3

1. षड्० ब्रा० 4.6　　2. तां० ब्रा० 23.3.4

3. तुल०-कात्या० श्रौ० सू०-प्रतिलोमः परः—24 1.21

4.5. तां० ब्रा० 23.4.2 : 'यांस्तल्पे वोदके वा विवाहे वा मीमांसेरन्' में सायण ने 'उदक' का अर्थ अभिषेक किया है, जबकि कालन्द सायण से असहमत हैं। सूत्रकार ने भी 'विवाहोदकतल्प' को ही दोहरा दिया है (कात्या० श्रौ० सू० 24.1.24)। कात्यायन के भाष्यकार कर्क ने 'उदके' का अर्थ 'उदकपाने' किया है, जिससे सन्देह का निराकरण नहीं हो पाता।

और आयु संज्ञक एकाह (2-4), गवामयनगत पृष्ठ्यषडह (5-10), पुन: आयु, गो और ज्योति एकाह (11-13) तथा उदयनीय अतिरात्र (14)।

तृतीय चतुर्दशरात्र :

यह प्रतिष्ठासाधक याग है [1], जिसका अनुष्ठान-क्रम यों है—प्रायणीय (1), गो और आयुसंज्ञक एकाह (2-3), द्वादशाह के 10 दिन (एक पृष्ठ्य षडह 4-9) तथा चार छन्दोम दिन), उदयनीय अतिरात्र।

चार पञ्चदशरात्र

प्रथम पञ्चदशरात्र :

यह याग देवत्व-प्राप्ति का साधन हैं, क्योंकि देवों ने इसी के द्वारा देवत्व को प्राप्त किया था।[2] अनुष्ठान-दिनों का विवरण इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र (1), गवामयनगत पृष्ठ्यषडह (2–7), महाव्रत (8), विपरीतक्रम के पृष्ठ्य षडह (9-14), उदयनीय अतिरात्र (15)। यह पौर्णमासी से प्रारम्भ होकर अमावास्या को सम्पन्न होता है।[3]

द्वितीय पञ्चदशरात्र :

तां० ब्रा० के अनुसार यह ब्रह्मवर्च्चस् प्राप्ति के निमित्त है।[4] इसमें अनुष्ठेय विभिन्न कृत्य लोक में प्रतिष्ठाकारक और कीर्तिकर हैं।[5] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र (1), त्रिवृत्‌अग्निष्टोम (2), ज्योति, गो और ज्योति (12-14), उदयनीय अतिरात्र (15)।

तृतीय पञ्चदशरात्र :

यह याग अहीन और सत्र–उभयात्मक है और दोनों के ही अनुष्ठानजन्य फलों का प्रदाता है।[6] इसमें प्रायणीय अतिरात्र नहीं होता; शेष अनुष्ठान–क्रम यों हैं—त्रिवृत् अग्निष्टुत्-अग्निष्टोमसंस्थ (1); ज्योति, गो और आयु (2-4), द्वादशाह के 10 दिन अर्थात् पृष्ठ्यषडह (5-10) तथा चार छन्दोम (11-14), उदयनीय अतिरात्र (15)।

चतुर्थ पञ्चदशरात्र :

ताण्ड्यानुसार यह सन्तान-प्राप्ति का साधन है।[7] अनुष्ठान-क्रम की दृष्टि से इसमें प्रथम दिन प्रायणीय अतिरात्र होता है, शेष दिन तृतीय पञ्चदशरात्र के सदृश हैं।

---

1 तां० ब्रा० 23.5.4 2. वही 23.6.2
3. वही 23.6.4 4. वही 23.7.3
5. वही 23.7.4 तथा 6 6. वही 23.8.2-4 7. तां० ब्रा० 23.9.2

ऐन्द्र षोडशरात्र

इसका प्रयोजन परमविजय है, क्योंकि इन्द्र ने इससे सर्वलोक-विजय पाई थी।[1] अनुष्ठान-क्रम प्रायः चतुर्थ पञ्चदशरात्र के समान ही है; अन्तर केवल यह है कि इसमें उदयनीय अतिरात्र से पूर्व 15 वें दिन महाव्रत विशेषरूप से अनुष्ठेय है।[2]

प्राजापत्य सप्तदशरात्र

अनन्त श्री का अभिलाषी इसका अनुष्ठान करता है।[3] अनुष्ठान-क्रम यों है—प्रायणीय अतिरात्र (1), गवामयनगत अभिप्लवषडह के पाँच दिन, षडहगत पाँचवें दिन के तृतीय सवन में स्तोम-स्तोत्र-क्लृप्ति षष्ठ दिन के अनुरूप होती है, शेष 10 दिन द्वादशाह के अनुरूप अनुष्ठेय हैं। आर्षेयकल्प के अनुसार अतिरात्र षोडशिक और अषोडशिक दोनों रूपों में किये जा सकते हैं।[4]

दैविक अष्टादशरात्र

इसमें अनुष्ठान से व्यक्ति मृत्यु-भय से मुक्त होकर अमरत्व-लाभ करता है।[5] अमरता का अभिप्राय यहाँ सम्पूर्णायु की प्राप्ति से है।[7] ब्राह्मण और कल्प के अनुसार अनुष्ठान-क्रम का विवरण इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र (1) गौणपरिवर्तनपूर्वक अभिप्लवषडह (2-7), द्वादशाह के दिन और उदयनीय अतिरात्र (18)।

वायव्य एकोनविंशतिरात्र

इस याग का अनुष्ठाता वन्य और ग्राम्य उभयविध पशुओं पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है।[6] प्रकृत याग 'मृगसत्र' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[7] अनुष्ठान-क्रम पूर्ववत् है, केवल उदयनीय अतिरात्र से पूर्व महाव्रत का अनुष्ठान और करना होता है।

विंशतिरात्र

यह पुरुष-कामना से अनुष्ठेय है, क्योंकि इसके द्वारा प्रजापति ने पुरुष-सृष्टि की थी।[8] इस सन्दर्भ में 'पुरुष' का अभिप्राय अस्पष्ट है—सायण इसे अव्याख्यात रूप में ही छोड़ देते हैं। तां० ब्रा० के आंग्लानुवाद में कालन्द सेवक या पुत्रसन्तति

---

1. तां० ब्रा० 23.10.2
2. वही 23.10.1
3. वही 23.11.2
4. आर्षेयकल्प 9.11
5. तां० ब्रा० 23.12.2
6. तां० ब्रा० 23.13.2-3
7. वही
8. वही 23.14.2

अर्थ करते हैं।[1] ब्राह्मणकार ने इसे 'पुरुषसत्र' भी कहा है।[2] अनुष्ठान-क्रम यों है—प्रायणीय अतिरात्र (1), अभिप्लवषडह (2-7), गवामयनगत अभिजित् और विश्वजित् (8-9), द्वादशाह के दिन 10 दिन तथा उदयनीय अतिरात्र (20)।

दो एकविंशतिरात्र

प्रथम एकविंशतिरात्र :

यह पशु-फल का साधनभूत है।[3] आदित्यों की संख्या से इसका विभागशः साम्य हैं, क्योंकि सात-सात के तीन भाग याग-दिनों के हैं और आदित्य भी सात है—'त्रिवैं सप्त सप्तादित्याः'।[4] सायण, ब्राह्मणकार के इस कथन कि आदित्य सात है, को यह कहकर औचित्यसंगत बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि द्वादश आदित्यो में सात विशेष प्रसिद्ध हैं। अनुष्ठान क्रम की दृष्टि से इसमें प्रायणीय और उदयनीय संज्ञक दो अतिरात्र हैं। इनमें अतिरात्र अभिप्लव षडह (2-7) पुनः अतिरात्र (8) और दो अभिप्लवषडह (9-20) होते हैं। आर्षेयकल्प के अनुसार मध्यवर्ती अतिरात्र षोडशियुक्त होता है।[5]

द्वितीय एकविंशतिरात्र

तां०ब्रा० से विदित होता है कि यह ब्रह्मवर्च्चस् के निमित्त है।[6] स्वर्भानु संज्ञक असुर के द्वारा तिमिराच्छन्न सूर्य को भी इसी यजन से देवों ने मुक्त कराया था।[7] ब्राह्मण और कल्प के अनुसार अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), पृष्ठ्यषडह (2-7) तीन स्वरसाम (8-10), विषुवान् (11) पुनः तीन स्वरसाम (12-14), पृष्ठ्यषडह (15-20), अतिरात्र (21)। ताण्ड्य का कथन है[8] कि सवनीय पशु के अनन्तर सोम और पूषा के निमित्त पश्वालम्भन होना चाहिए तथा इस याग का अनुष्ठान ग्रीष्म ऋतु में करना चाहिए, क्योंकि निदाघ के समय सूर्य तेजिष्ठ रहता है।[9]

---

1. The Brahmana of Twenty Five Chapters.
2. तां० ब्रा० 23.14.4; 'विंशतिरात्र गत' विंशति संख्या की अन्वितार्थता ब्राह्मणकार ने पुरुष की 20 अँगुलियों से की है—तां० ब्रा० 23.14.5
3. तां० ब्रा० 23.15.1
4. तां० ब्रा० में ही अन्यत्र (24.12.4) आदित्यों की संख्या 08 बतलाई गई है। वहाँ सायण का कथन है कि 12 में से 8 विशेष प्रसिद्ध हैं-'द्वादशानां मध्ये मुख्यानामष्टानाम्...1'
5. आर्षेयकल्प 9.15
6. तां० ब्रा० 23.16.1
7. वही 23.16.2
8. वही 23.16.4
9. वही 23.16.8-9

द्वाविंशतिरात्रसत्र

अन्नाद्य-कामना से अनुष्ठेय[1] इस याग का अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), ज्योति, गो और आयु (2-4), अभिप्लव षडह (5-10), द्वादशाह के 10 दिन, महाव्रत और अतिरात्र।

त्रयोविंशतिरात्रसत्र

प्रजापति ने इस सत्र के द्वारा लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, अतएव यह प्रतिष्ठा का साधनभूत है।[2] अनुष्ठान-क्रम यह है—अतिरात्र (1), ज्योति, गो और आयु, गो और पुनः आयु, अभिप्लवषडह और द्वादशाह के 10 दिन तथा अतिरात्र।

दो चतुर्विंशतिरात्र

प्रथम चतुर्विंशतिरात्र :

श्रौतसूत्रों में उसका उल्लेख 'संसदामयन' के नाम से भी है। ताण्ड्य के अनुसार इसका प्रयोजन स्वर्ग-प्राप्ति है।[3] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र (1), पृष्ठ्यस्तोम षडह (प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम दिनों की क्लृतियों में कुछ अन्तर रहता है), 8वें और 9वें दिनों की पृथक् क्लृप्तियाँ हैं, दशम दिन द्वादशाह के द्वितीय दिन के समान कुछ परिवर्तित रूप में होता है, 11वाँ दिन द्वादशाह के तृतीय दिन के सदृश है—प्रयोज्य साम केवल तृच पर निर्भर रहते हैं; 12-14 दिन द्वादशाह के 4-6 दिनों के समान हैं; 15 वाँ दिन कुछ परिवर्तित रूप से द्वादशाह के सप्तम दिन के समान है; 16-21 तक के छः दिन पृष्ठ्यस्तोम-षडह के समान हैं; 22 वाँ दिन कुछ परिवर्तन पूर्वक उपहव्य के समान है; 23 वाँ दिन ज्योतिष्टोम (अग्निष्टोम) के सदृश है; ऋषभयाग के समान सभी साम अनुष्टुप् छन्दस्क ऋचाओं पर ही आधृत होते हैं। 24 वाँ दिन ज्योतिष्टोमातिरात्र के रूप में अनुष्ठेय है।

द्वितीय चतुर्विंशतिरात्र :

प्रजा और पशु-दोनों में से किसी भी कामना से यह अनुष्ठेय है।[4] अनुष्ठान-क्रम यों है—अतिरात्र (1), दो अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन।

प्राजापत्य पञ्चविंशतिरात्र

यह अन्नाद्यफलप्रद याग है।[5] प्रकृत सत्र प्रायः द्वितीय चतुर्विंशतिरात्र के समान ही अनुष्ठेय है। अन्तर केवल यह है कि उदयनीय अतिरात्र से पूर्व गवामयनगत महाव्रत का अनुष्ठान इसमें अधिक होता है।

---

1. तां० ब्रा० 23.17.1
2. वही 23.18.1-3
3. तां० ब्रा० 23 19.2-3
4. वही 23.20.1
5. तां० ब्रा० 23.21.2-3

षड्विंशतिरात्र

यह प्रतिष्ठा का साधनभूत है, क्योंकि ऋतुएँ इससे प्रतिष्ठित हुई थीं।[1] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र (1), गो और आयु संज्ञक एकाह (2-3) दो अभिप्लवषडह (4-15), द्वादशाह के 10 दिन और उदनीय अतिरात्र।

नक्षत्रों का सप्तविंशतिरात्र

नक्षत्रों ने इस सत्र के अनुष्ठान से सम्पूर्ण समृद्धि प्राप्त की थी, अतएव इसका अनुष्ठाता वही लाभ प्राप्त करता है।[2] तां० ब्रा० ने नक्षत्रों के साथ इसकी सम्बद्धता का औचित्य संख्यासाम्य के आधार पर प्रदर्शित किया है—27 नक्षत्रों के आधार पर याग के अनुष्ठेय दिन 27 हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—अतिरात्र (1), ज्योति, गो और आयु संज्ञक एकाह, दो अभिप्लव षडह, द्वादशाह के 10 दिन और उदयनीय अतिरात्र।

अष्टाविंशतिरात्र

पशु-कामना से अनुष्ठेय[3] इस याग का अनुष्ठान-क्रम सामान्यतः पूर्ववत् ही है; अन्तर केवल इतना है कि उदयनीय अतिरात्र से पूर्व महाव्रत का अनुष्ठान इसमें अधिक होता है।

प्राजापत्य एकोनत्रिंशद्रात्र

इसके अनुष्ठान का फल है अनन्तश्री-लाभ।[4] अनुष्ठान-विवरण क्रमशः यों है—अतिरात्र, ज्योति, गो, आयु, पुनः गो और आयु, दो अभिप्लव षडह, द्वादशाह के 10 दिन और अतिरात्र।

त्रिंशद्रात्र सत्र

अन्नाद्य-लाभ के साधनभूत[5] इस याग का अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र, तीन अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन तथा उदयनीय अतिरात्र।

प्राजापत्य एकत्रिंशद्रात्र सत्र

इसका प्रयोजन[6] और अनुष्ठान का विवरण प्रायः पूर्ववत् है। अन्तर केवल इतना है कि उदयनीय अतिरात्र से पूर्व गवामयनगत महाव्रत का अनुष्ठान बढ़ जाता है।

---

1. वही 23.22.2
2. तां० ब्रा० 23.23.2
3. वही 23.24.1
4. वही 23.25.2
5. वही 23.26.3
6. वही 23.27.1

द्वात्रिंशद्रात्र सत्र

पशु-कामना से अनुष्ठेय[1] इस याग का अनुष्ठान-क्रम यों है—अतिरात्र, गो और आयु एकाह, तीन अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन और अतिरात्र।

तीन त्रयस्त्रिंशद्रात्र सत्र

प्रथम त्रयस्त्रिंशद्रात्र सत्र :

तां० ब्रा०[2] से विदित होता है कि प्रतिष्ठा की कामना से व्यक्ति इस याग में प्रवृत्त होता है। अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), सप्तदशरात्र के पंचाहों की तीन बार आवृत्ति (2-16)—इन पंचाहों के ब्रह्मसाम विभिन्न होते हैं; प्रथम और तृतीय पंचाहों में बृहत् और रथन्तर सामों का प्रयोग अपने सही क्रम में होता है; किन्तु द्वितीय पञ्चाह में उनका व्यत्यय (क्रम-परिवर्तन) हो जाता है। 17वें दिन कुछ गौण-परिवर्तनों के साथ विश्वजिदतिरात्र का अनुष्ठान होता है। तदनन्तर सप्तदशरात्र का पंचाह विपरीतक्रम से अनुष्ठित होता है; यहाँ भी प्रत्येक दिन प्रयोज्य ब्रह्मसाम में भिन्नता रहती है—बृहत् और रथन्तर का स्थान-परिवर्तन हो जाता है। तत्पश्चात् द्वादशाह के दिनों का अनुष्ठान होता है और अन्त में उदयनीय अतिरात्र का।

द्वितीय त्रयस्त्रिंशद् रात्र :

आदित्यों और अङ्गिरसों ने इसके अनुष्ठान से समृद्धि प्राप्त की थी, अतएव यह समृद्धि-साधक याग है।[3] अनुष्ठान-क्रम का विवरण यों है—अतिरात्र (1), अभिप्लवषडह (2-7), अतिरात्र (8), अभिप्लवषडह (9-14), अतिरात्र (15), अभिप्लवषडह (16-21), द्वादशाह के 10 दिन (पृष्ठ्यषडह तथा चार छन्दोम), महाव्रत (32) एवं अतिरात्र। सभी अतिरात्र षोडशियुक्त हैं।

तृतीय त्रयस्त्रिंशद्रात्र :

इस सत्र की रात्रियों को पक्षिणी बतलाकर सभी कामनाओं की पूर्ति में समर्थ बतलाया गया है।[4] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—प्रायणीय अतिरात्र (1), अभिप्लवषडह के तीन पञ्चाह (2-16), विश्वजिदतिरात्र (17), पुनः अभिप्लवषडह के तीन पञ्चाह (18-32)—ये पञ्चाह विलोमक्रम से अनुष्ठेय हैं; तदनन्तर

---

1. तां० ब्रा० 23.28.1
2. वही 24 1.2
3. वही 24 2.2
4. तां० ब्रा० 24.3.3

उदयनीय अतिरात्र।[1] तां॰ ब्रा॰[2] ने 17वें दिन अनुष्ठेय विश्वजिदतिरात्र में छन्दोमों के अनुष्ठान को पशु-प्राप्त्यर्थक बतलाया है। यद्यपि विश्वजिदतिरात्र में साक्षात् रूप में छन्दोम नहीं होते, तथापि सायण ने उसमें छन्दोम-सम्पादन की प्रक्रिया बतलाई है, जो इस प्रकार है[3]—त्रिवृत् (9) और पञ्चदशस्तोमों (15) को मिलाकर प्रथम छन्दोम का चतुर्विंशस्तोम सम्पन्न हो जाता है; सप्तदश (17) और त्रिणव (27) को मिलाकर द्वितीय छन्दोम का चतुश्चत्वारिंशस्तोम सम्पन्न हो जाता है। पञ्चदश और त्रयस्त्रिंश को मिलाकर तृतीय छन्दोम का अष्टाचत्वारिंशस्तोम बन जाता है।

चतुश्चत्वारिंशद्रात्र :

तां॰ ब्रा॰ के अनुसार यह सत्रसमृद्धि-कामना से अनुष्ठेय है।[4] याग की 34 रात्रियों का औचित्य 34 देवताओं के आधार पर प्रदर्शित है। 33 देवताओं की परम्परागत संख्या को 34 बनाने के लिए उसमें प्रजापति को और जोड़ दिया गया है।[5] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है--अतिरात्र, ज्योति, गो और आयु एकाह, तीन अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन और उदयनीय अतिरात्र।[6]

पञ्चत्रिंशद्रात्र :

यह याग पश्वभिलाषी के द्वारा अनुष्ठेय है।[7] अनुष्ठान-क्रम यों है—अतिरात्र, ज्योति, गो, आयु, पुनः गो और आयु, तीन अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन और अतिरात्र।

षट्त्रिंशद् रात्र :

इसका प्रयोजन आदित्यलोक की प्राप्ति है, साथ ही पशु-लाभ भी।[8] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र, चार अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन और उदनीय अतिरात्र।

---

1. वही 24.3.1; तथा आर्षेयकल्प 9.35
2-3. तां॰ ब्रा॰ 24.3.2 तथा उस पर सायण-भाष्य—'अनुष्ठातारोऽत्र विश्वजिदतिरात्रे छन्दोमाननुतिष्ठन्ति।...यद्यप्यस्मिन् विश्वजिदतिरात्रे साक्षात् छन्दोमा न सन्ति तथाप्युपायेन छन्दोमास्सम्पादयितुं शक्यन्ते।'

आर्षेयकल्प और उसके व्याख्याकार इस विषय में मौन हैं। कालन्द ने इसे 'अतिकृत्रिम' बताकर अनिच्छा प्रकट की है।
(The Brahmana of Twenty Five Chapters, Page 609).

4. तां॰ ब्रा॰ 24.4.1-2 5. वही 24.4.3
6. वही 24.4.1 7. तां॰ ब्रा॰ 24.5.1 8. वही 24.6.1

सप्तत्रिंशद् रात्र :

यह याग अन्न और पशु दोनों की प्राप्ति में साधनभूत है ।[1] इसका अनुष्ठान-क्रम पूर्ववत् ही है; केवल उदयनीय अतिरात्र से पूर्व गवामयनगत महाव्रत का अनुष्ठान बढ़ जाता है ।

अष्टत्रिंशद् रात्र :

यह भी पश्वाभिलाषियों के द्वारा अनुष्ठेय है ।[2] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र, गो और आयु एकाह, चार अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन और उदयनीय अतिरात्र ।

एकोनचत्वारिंशद् रात्र :

इसका प्रयोजन अनन्तश्री है ।[3] अनुष्ठान-क्रम यों है—अतिरात्र, ज्योति, गो और आयु—ये तीन एकाह, चार अभिप्लव षडह, द्वादशाह के 10 दिन और अतिरात्र ।

चत्वारिंशद् रात्र :

इस सत्र के अनुष्ठान का प्रयोजन परम राज्य की प्रतिष्ठापना है ।[4] अनुष्ठान-क्रम पूर्ववत् ही है । केवल उदयनीय अतिरात्र से पूर्व महाव्रत का अनुष्ठान बढ़ जाता है ।

सात एकोनपञ्चाशद्रात्र

विधृति या प्रथम एकोनपञ्चाशद् रात्र :

तां० ब्रा० के अनुसार यह सत्र पापनिवृत्ति-हेतुक है ।[5] प्रजापति को इसके अनुष्ठान से अनियन्त्रित प्रजाओं को नियन्त्रित करने में सहायता प्राप्त हुई थी ।[6] अनुष्ठानक्रम इस प्रकार है-कुछ परिवर्तन पूर्वक और षोडशि रहित प्रायणीय अतिरात्र; तीन त्रिवृत् दिन (एक अग्निष्टोमसंस्थ और दो उक्थ्यसंस्थ) जो कुछ परिवर्तनपूर्वक कौसुरुविन्द के समान हैं, कुछ परिवर्तन सहित तथा षोडशियुक्त ज्योतिष्टोमातिरात्र, 10 पञ्चदश उक्थ्य दिन–पृष्ठस्तोत्र कुसुरुविन्द के समान बृहत् और रथन्तर साम वाले होते हैं, सभी दिन पञ्चदशस्तोम प्रयोज्य है । पुनः षोडशि-सहित ज्योतिष्टोमातिरात्र (16), 12 सप्तदश उक्थ्य (17-24)-यहाँ पुनः कुछ परिवर्तन से कुसुरुविन्द अनुष्ठेय है—बृहत् और रथन्तर साम प्रयोज्य हैं, वार्कजम्भ

1. तां० ब्रा० 24.7.2
2. वही 24.8.1
3. वही 24.9.2
4. तां० ब्रा० 24.10.2
5. वही 24.11.3
6. वही 24.11.7

साम छोड़ दिया जाता है. मैधातिथ और रौरवसाम अपने स्थान पर बने रहते हैं, 12 वें दिन उक्थ का समापन उद्वंशीय से होता है, पुनः कुछ परिवर्तनपूर्वक षोडशिसहित ज्योतिष्टोमातिरात्र (29), कोई भी ऋतुओं का पृष्ठ्यषडह (30-35, ज्योतिष्टोमातिरात्र (36), एकादश एकविंश उक्थ्य (37-48)। इन 12 दिनों में पञ्चविंश के स्थान पर एकविंशस्तोम प्रयोज्य है, कुछ परिवर्तनपूर्वक पुनः ज्योतिष्टोमातिरात्र (49) – षोडशिरहित । इस सत्र में गायत्रीछन्द में जराबोधीय साम, उष्णिक्छन्द में श्रुघ्य, अनुष्टुप् में नानद साम; बृहती में रथन्तर, पङ्क्ति छन्द में रायोवाजीय, त्रिष्टुप् छन्द में औशन साम तथा जगती छन्द में कावसाम विहित हैं।

यमातिरात्र अथवा द्वितीय एकोनपञ्चाशद् रात्र :

यह याग श्री-अभिलाषियों के द्वारा अनुष्ठेय है।[1] आदित्यों से इसका विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि उन्होंने ही इसका साक्षात्कार किया था। अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है-प्रायणीय अतिरात्र (1), दो अभिप्लवषडह (2-13), गो और आयु एकाह (14-15) ये दोनों अतिरात्रसहित और षोडशिरहित रूप में कुछ परिवर्तनपूर्वक अनुष्ठेय हैं। दो अभिप्लव षडह (16-27), अभिजिदतिरात्र (28), विश्वजिदतिरात्र (29), अभिप्लवषडह (30-35), सर्वस्तोम (36), नवसप्तदश (37)-ये दोनों अतिरात्रसहित हैं। द्वादशाह के 10 दिन (38-47), महाव्रत (48) और उदयनीय अतिरात्र (49)। ऊपर उल्लिखित अभिजिदतिरात्र की स्तोत्र-क्लृप्ति में पहले से कुछ परिवर्तन हो जाता है। नवसप्तदशातिरात्र में भी ईषत्परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

अञ्जनाभ्यञ्जन अथवा तृतीय एकोनपञ्चाशद्रात्र :

यह याग सुगन्धित द्रव्यों का लेपन करके सभा में अपने को प्रख्यापित करने के इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा अनुष्ठेय है।[2] इस सत्र के अनुष्ठान में भी विभिन्न सुगन्धित द्रव्यों का विधान है, यथा-प्रातःसवन में गुग्गुलु का विलेपन, माध्यन्दिन-सवन में सौगन्धिक और तृतीय सवन में पैतुदारव (देवदारु का तेल) विहित है।[3] अनुष्ठान-क्रम यों है—प्रायणीय अतिरात्र (1); चार अभिप्लवषडह (2-25), सर्वस्तोमातिरात्र (26), पुनः दो अभिप्लवषडह (17-38), द्वादशाह के 10 दिन (39-48) और अतिरात्र (49)।

चतुर्थ एकोनपञ्चाशद्रात्र अथवा सम्वत्सरसम्मित सत्र :

तां० ब्रा० के अनुसार यह समृद्धिप्रद याग है[4], जिसका अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है —अतिरात्र (1). चतुर्विंशप्रायणीय अहः (2), तीन अभिप्लवषडह (3-

1. तां० ब्रा० 24.12.3
2. वही 24.13.3
3. वही 24.13.4
4. वही 24.14.1

20), अभिजित् (21), तीन स्वरसाम (26-28), विश्वजित् (29), अभिप्लव-षडह (30-35), आयु और गौ एकाह (37-37), द्वादशाह के 10 दिन (38-47) महाव्रत और अतिरात्र (48-49)। विश्वजित् के अनन्तर अनुष्ठेय अभिप्लवषडह विपरीतक्रम से होता है। आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराज के अनुसार इस सत्र की क्लृप्ति गवामयन के अनुसार है।[1]

पञ्चम एकोनपञ्चाशद्रात्र (सवितुः ककुभः) :

'ककुभ' शब्द का अर्थ है समुन्नत; इस याग के अनुष्ठाता अपने सदृश लोगों के मध्य श्रेष्ठ हो जाते हैं। यों यह समस्त कामनाओं का पूरक माना गया है।[2] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), नौ त्रिवृत् दिन (2-10), नौ पंच-दशाह (11-19), नौ सप्तदशाह (20-28), नौ एकविंशाह (29-37), द्वादशाह के 10 दिन (38-47), महाव्रत और अतिरात्र (48-49)। चारों नवाहों के प्रारम्भिक छः दिनों में प्रथम दिन अग्निष्टोमसंस्थ और अन्य पाँच दिन उक्थ्यसंस्थ होते हैं। शेष तीन दिनों में आद्यन्त दिन अग्निष्टोमसंस्थ और मध्यम दिन उक्थ्यसंस्थ है।[3]

षष्ठ एकोनपञ्चाशद्रात्र :

यह प्रतिष्ठार्थियों के द्वारा अनुष्ठेय है।[4] अनुष्ठान-क्रम यों है—अतिरात्र (1), चार अभिप्लवषडह (2-25), महाव्रत (26), पुनः दो अभिप्लवषडह (27-38), द्वादशाह के 10 दिन (30-48), और अतिरात्र।

सप्तम एकोनपञ्चाशद् रात्र :

तां० ब्रा० के अनुसार इन्द्र अग्नि ने देवताओं के मध्य प्रकृत यागानुष्ठान के माध्यम से श्रेष्ठता प्राप्त की थी, अतएव इसका अनुष्ठाता अन्य जनों का श्रेष्ठता की दृष्टि से अतिक्रमण कर जाता है।[5] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है-अतिरात्र (1), छः अभिप्लवषडह (2-37), द्वादशाह के 10 दिन (38-47), महाव्रत और अतिरात्र (48-49)।

एकषष्टिरात्रसत्र

यह याग सर्वनिधि का साधनभूत है।[6] अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है-अतिरात्र (1), प्रायणीयमहः (2), तीन अभिप्लवषडह (3-20), पृष्ठ्यषडह (21-26),

---

1. आर्षेयकल्प 9.50—'गवामयनेन क्लृप्ता।'
2. तां० ब्रा० 24.15.3
3. तां० ब्रा० 24.15.1 तथा आर्षेयकल्प 9.51
4. तां०ब्रा० 24.16.2
5. वही 24.17.2
6. तां०ब्रा० 24.18.9

अभिजित् (27), तीनस्वरसाम (28-30), दिवाकीर्त्यमहः (31), तीन स्वरसाम (32-34), विश्वजित् (35), पृष्ठ्यषडह (36-41), अभिप्लवषडह (42-47), आयु और गो (48-49), द्वादशाह के 10 दिन (50-59), महाव्रत (60) और अतिरात्र (61)। आर्षेयकल्प और उसके व्याख्याकार वरदराज के अनुसार इस याग के 61 दिनों की क्लृप्ति गवामयन के सदृश है—'तस्य गवामयनवदहानि कर्त्तव्यानि'।[2]

शतरात्रसत्र :

यह सत्र अमृतत्व-प्राप्ति का साधनभूत है[3]—इसके अनुष्ठान से ही देवों ने मृत्युभय से मुक्त होकर अमरता पाई थी। अमृतत्व से यहाँ सम्पूर्ण आयु अभिप्रेत है। अनुष्ठानक्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), ज्योति, गो और आयु एकाह (2-4), 14 अभिप्लवषडह (5-88), द्वादशाह के 10 दिन (89-98), महाव्रत और अतिरात्र (99-100)।

गवामयनाख्य संवत्सर सत्र :

तां० ब्रा० के चतुर्थ और पञ्चम अध्यायों में इसका विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। यहाँ उसी का अतिदेश हो जाता है—'संवत्सरब्राह्मणं ब्राह्मणम्।'[4] इसकी क्लृप्ति यद्यपि पहले बतला दी गई है, तथापि ताण्ड्यकार की परम्परा का आदर करते हुए यहाँ पुनः उसके अनुष्ठान-क्रम का विवरण संक्षेप में दिया जा रहा है—

अतिरात्र; (1), चतुर्विंशप्रायणीयमहः (2), प्रथममास-चार अभिप्लव षडह, एक पृष्ठ्यषडह, 2-5मास-प्रथम मास के अनुष्ठान की आवृत्ति, षष्ठमास-तीन अभिप्लवषडह, अभिजित् और तीन स्वरसाम, प्रारम्भ के दो दिनों को मिलाकर यह मास पूर्ण हो जाता है।

दिवाकीर्यंत्यमहः (1), सप्तममास—तीन स्वर साम, विश्वजित्, पृष्ठ्यषडह, तीन अभिप्लवषडह = 28 दिन; अन्त के दो दिनों को मिलाने से यह मास भी पूरा हो जाता है। अष्टममास—एक पृष्ठ्यषडह और चार अभिप्लवषडह। 9-11 मास उपर्युक्तवत्। 12 वाँ मास—तीन अभिप्लवषडह, आयु, गो और द्वादशाह के 10 दिन। महाव्रत और अतिरात्र।

---

1. आर्षेयकल्प 9.52 पर व्याख्या
2. तां० ब्रा० 24.19.2
3. वही 24.20.2

अयन मास

आदित्यों का अयन

तां० ब्रा० के अनुसार आदित्यों से इस कारण प्रकृत याग को सम्बद्ध किया गया है, क्योंकि इसके अनुष्ठान से उन्होंने स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त किया था।[1] याग के मध्य में पृष्ठ्यषडह का विधान इसी निमित्त है। एक वर्ष में सम्पन्न होने वाले इस याग का सम्पूर्ण अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), चतुर्विंश महः (2) प्रथममास—दो अभिप्लवषडह,—जिसके अयुग्म दिन त्रिवृत्स्तोम-युक्त और युग्म दिन पंचदशस्तोमयुक्त होते हैं, पृष्ठ्यषडह, पुनः दो अभिप्लवषडह (उपर्युक्त प्रकार से ही स्तोमक्लृप्ति)। 2-5 मासों में भी प्रथम मास के अनुष्ठान प्रकार की आवृत्ति होती है। षष्ठमास—त्रिवृत् और पञ्चदशस्तोमयुक्त तीन अभि-प्लवषडह, त्रिवृत्-बृहस्पतिस्तोम युक्त पृष्ठ्यषडह—तां० ब्रा०[2] के अनुसार त्रिवृत् बृहस्पतिस्तोम है, तीन स्वरसाम तथा दिवाकीर्त्यमहः—ताण्ड्य में दिवाकीर्त्य को शिर बतलाकर स्वरसामों को उसमें अवस्थित प्राण बतलाया गया है।[3] सप्तममास-तीन स्वरसाम, पञ्चदशस्तोमयुक्त उक्थ्य, त्रयस्त्रिंशारम्भण पृष्ठ्यषडह, त्रिवृत् और पञ्चदशस्तोमयुक्त अभिप्लवषडह, द्वादशाह के 10 दिन—त्रिवृत्स्तोमयुक्त और अग्निष्टोमसंस्थ, उद्भिद् और बलभिद्। अष्टममास—दो अभिप्लवषडह, पृष्ठ्य-षडह और पुनः दो अभिप्लवषडह। 9-11 मासों में भी उपर्युक्त अनुष्ठान ही होता है। 12 वाँ मास—अभिप्लवषडह, पृष्ठ्यषडह, पुनः अभिप्लवषडह, गो, आयु और छन्दोमदशाह, महाव्रत और अतिरात्र।

यद्यपि गवामयन और आदित्यानामयन दोनों ही एक वर्ष तक चलने वाले सत्र याग हैं, किन्तु दोनों में अन्तर है, जिसे इस प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है-(1) इसमें षडहों का विन्यास इस प्रकार से किया गया है कि प्रतिमास दो अभि-प्लवषडहों के मध्य एक पृष्ठ्यषडह सन्निविष्ट हो जाये-इसी कारण इसे 'मध्येपृष्ठम-यन' भी कहते हैं। (2) इसमें अभिजित् और विश्वजित् के स्थान पर बृहस्पति और इन्द्रस्तोम विहित है; बृहस्पति स्तोम में अभीवर्त ब्राह्मसाम है, सुज्ञान और गौरीवित साम अनुष्टुप्छन्दस्क हैं। (3) द्वादशाह के 10 दिन मध्य में निविष्ट हैं। आर्षेयकल्प[4] के अनुसार इसके प्रथम दिन का अनुष्ठान तो पूर्ववत् ही है किन्तु द्वितीय से दशम दिनान्त अनुष्ठानों में बहुत अन्तर है (4) अन्त में छन्दोम दशाह का विधान भी इसका वैशिष्ट्य है। महाव्रत गवामयन के समान ही है।

---

1. तां० ब्रा० 25.1.2-3
2. वही 25.1.7
3. वही 25.1.8
4. आर्षेयकल्प 10.1 पृष्ठ (520-27)

पुरस्तात् पृष्ठ्य अथवा अङ्गिरसामयन :

तां० ब्रा० के अनुसार अङ्गिरस ने इसका अनुष्ठान कर स्वर्ग पर अधिकार प्राप्त किया था ।[1] पृष्ठ्यषडह से आरम्भ होने के कारण यह 'पुरस्तात् पृष्ठ्य' भी भी कहलाता है। सम्पूर्ण अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—अतिरात्र (1), चतुर्विंशप्रायणीयमह: (2) प्रथममास-एक पृष्ठ्यषडह और त्रिवृत्स्तोमयुक्त चार अभिप्लवषडह । द्वितीय से पञ्चममासान्त अनुष्ठान भी प्रथममासवत् है। षष्ठमास—तीन अभिप्लवषडह और एक पृष्ठ्यषडह सभी त्रिवृत् स्तोमयुक्त; तीन स्वरसाम और दिवाकीर्त्यमह: (विषुवद्दिन)--इनके साथ प्रारम्भिक प्रायणीय अतिरात्र और प्रायणीयमह: मिलाने से यह मास भी पूर्ण हो जाता है। सप्तममास-विपरीत क्रम से तीन स्वरसाम, पञ्चदशस्तोम इन्द्रस्तोम (उक्थ्य); त्रयस्त्रिंशारम्भण पृष्ठ्यषडह, द्वादशाह के 10 दिन-व्यूढ-अग्निष्टोमसंस्थ (त्रिवृत्), उद्भिद् और बलभिद् । अन्त के महाव्रत और उदयनीय अतिरात्र को मिलाकर यह मास भी सम्पन्न हो जाता हैं। 8 से 11 वें मासों में से प्रत्येक में चार अभिप्लवषडह और एक पृष्ठ्यषडह का विधान है । 12 वाँ मास—दो त्रिवृत्स्तोमयुक्त अभिप्लवषडह, एक पृष्ठ्यषडह, आयु और गो एकाह; छन्दोम दशाह—इसके प्रत्येक दिन क्रमश: चतुर्विंश, अष्टाविंश, त्रिंश, द्वात्रिंश, षट्त्रिंश, चत्वारिंश, चतुश्चत्वारिंश, अष्टाचत्वारिंश, और पुन: चतुर्विंशस्तोम नियत हैं । अन्त में महाव्रत और अतिरात्र अनुष्ठेय हैं ।

आर्षेयकल्प[2] से ज्ञात होता है कि इसके अतिरात्र. प्रायणीयमह: और पृष्ठ्यषडह गवामयन के समान हैं । अभिप्लवषडह के प्रथम, तृतीय और पञ्चम दिन मध्ये पृष्ठ्य के समान ही हैं; द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठदिन के औद्गात्र में कुछ अन्तर है। 12 वें मास के गो और आयु भी गवामयन के सदृश हैं। छन्दोमद्वादशाह के कुछ दिनों के अनुष्ठानों में भी भिन्नता है। विस्तृत विवरण के लिए आर्षेयकल्प अवलोकनीय है ।

दृतिवातवतोरयन :

दृति और वातवान् ने इस सत्रायण का अनुष्ठान खाण्डववन में किया था ।[3] इसके नामकरण का यही आधार है । विभिन्न ऋतुजन्य भोगों की प्राप्ति इस के अनुष्ठान का फल है ।[5] तां०ब्रा० के अनुसार इसका प्रारम्भ भी प्रायणीय अतिरात्र से होता है ।[4] मासानुसार इसमें प्रयोज्य स्तोमों का विवरण इस प्रकार हैं—1 से

1. तां० ब्रा० 25.2.2
2. आर्षेयकल्प 11.1.6
3. तां० ब्रा० 25.3.6
4. वही 25.3.2
5. वही 25.3.1

6 मासों में से प्रत्येक में क्रमशः त्रिवृदादि त्रयस्त्रिंशान्त स्तोम विहित हैं। इसके अनन्तर महाव्रत अनुष्ठेय है। सायण के अनुसार यह अन्नाद्य फल के निमित्त है। सप्तम से द्वादश मासों में उपर्युक्त स्तोम विपरीत क्रम से हैं— अर्थात् सप्तम में त्रयस्त्रिंश, अष्टम में त्रिणव, नवम में एकविंश, दशम में सप्तदश, एकादश में पञ्चदश और द्वादश में त्रिवृत् स्तोम प्रयोज्य है।[1] अंत में उदयनीय अतिरात्र से याग समाप्य है। आर्षेयकल्प[2] के अनुसार इस अयन के चार मासों का कल्प विधृति के प्रायःसमान ही है—कहीं-कहीं कुछ भिन्नता है। तां०ब्रा० ने इसे एक पक्षी के रूप में प्रस्तुत कर इसे समस्त कामनाओं का पूरक बतलाया है।[3] प्रथम और अन्तिम मासों की त्रिवृत्स्तोमयुक्तता भी सप्रयोजन है, क्योंकि ताण्ड्य में त्रिवृत् की प्राणरूपता का अनेक बार उल्लेख हुआ है—त्रिवृत् के इस विन्यास से याग उभयथा सप्राण हो उठता है।

कुण्डपायिनामयन :

सभी सत्री इस सत्र में हुतशिष्ट सोम का पान 'अत्सरु' नामक चमसों के द्वारा कुण्डों से करते हैं, यही इसके नामकरण का आधार है।[4] कात्यायन के अनुसार अत्सरुक् कुण्ड के आकार वाले वृत्ताकार चमस हैं।[5] वस्तुतः कुण्ड वे पात्र हैं जिनमें पकड़ने के डंडे नहीं होते। इस सत्र में एक पूरे मास भर दीक्षा होती है। प्रायणीय अतिरात्र के अनन्तर प्रथम प्रवर्ग्य और उपसद् के दिन सोम-क्रय सम्पन्न होता है। इस सन्दर्भ में 12 उपसद् अनुष्ठित होते हैं। प्रकृत सत्रयाग का वैशिष्ट्य यह है कि यह आधा हविर्याग है और आधा सोमयाग, जैसा कि तां० ब्राह्मण में सायण का कथन है—'आदितः षण्मासा हविर्यज्ञिकः; इतरे तु सौमिकाः।'[6]

---

1. कात्या० श्रौ० सू० और उसके कर्कादि भाष्यकारों ने यह विवाद उठाया है कि पृष्ठ्यस्तोम शब्द स्तोमवाचक है अथवा एकाह का? अंत में निर्णय किया गया है कि त्रिवृदादि शब्द पृष्ठ्य सम्बन्धी स्तोमों के वाचक हैं-'गौण-मुख्ययोश्च मुख्ये सम्प्रत्यय इति न्यायात्त्रिवृदादिशब्दाः पृष्ठ्यसम्बन्धिनां स्तोमानां वाचका इति सिद्धम्'—कात्या० श्रौ० सू० 24.4.18 तथा उस पर भाष्य।
2. आर्षेयकल्प 11.7-1
3. तां० ब्रा० 25.3.4—'पक्षि वा एतत् सत्रायणं यं कामं कामयन्ते तमेतेनाभ्यश्नुवते।'
4. तां० ब्रा० 25.4.4
5. अत्सरुकाः कुण्डप्रतिरूपाश्चमसाः—कात्या० श्रौ० सू० 24.4.42
6. तां० ब्रा० 25.4.1 पर सायण-भाष्य

प्रथम छः मासों में ये कृत्य अनुष्ठेय हैं— अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, वैश्वदेव, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय। इनमें से प्रत्येक के लिए एक मास का समय आवण्टित है। इस अन्तराल में प्रातः-सायं सुब्रह्मण्याह्वान होता है, जैसा कि वरदराज का कथन है—'अग्निहोत्रमासादिष्वपि प्रत्यहमहराद्यन्तयोः सुब्रह्मण्याह्वानं कर्तव्यम्।'[1]

वस्तुतः सोमयाग छः मास के पश्चात् आरम्भ होता है। इस दृष्टि से प्रकृत सत्र दृति-वातवान-अयन के कल्प का दृढ़ता से अनुगामी है। अन्तर केवल यह है कि दृतिवातवतोरयन में, उत्तरार्द्ध में स्तोम-विधान विपरीत क्रम से है, जबकि यहाँ नियमित क्रम से है; यथा—प्रथममास में त्रिवृत्, द्वितीय मास में पञ्चदश इत्यादि। अन्तिम मास में त्रयस्त्रिंशस्तोम को केवल 18 दिन ही मिल पाते है—[2] इसके अनन्तर 10 दिन द्वादशाह के हैं और तत्पश्चात् महाव्रत और अतिरात्र के अनुष्ठान से याग का परिसमापन हो जाता है। इसमें केवल पाँच ऋत्विक् होते हैं और वे ही सभी के द्वारा अनुष्ठेय कृत्यों का सम्पादन करते हैं। तदनुसार होता ही उध्वर्यु और पोतृ के कार्य भी करता है, उद्गाता नेष्टा और अच्छावाक् के, मैत्रावरुण ही ब्रह्मा और प्रतिहर्त्ता के, प्रस्तोता ब्राह्मणाच्छंसी और ग्रावस्तुत के तथा प्रतिप्रस्थाता अग्नीत और उन्नेता के कार्य भी करता है। इनके साथ गृहपति और सुब्रह्मण्य तो रहते ही हैं।[3] इसके अनुष्ठान से सत्रियों को प्रकृति-विकृत्यात्मक समस्त यागों का फल प्राप्त हो जाता है।[4]

तपश्चितामयन (तपश्चितों का अयन) :

इस याग के अनुष्ठान से तपश्चयन करने वाले देवों ने सर्वसमृद्धि प्राप्त की थी, यही इसके नामकरण का हेतु है।[5]

तां॰ ब्रा॰[6] तथा आर्षेयकल्प[7] के अनुसार इसमें संवत्सरसाध्य दीक्षा, संवत्सर-साध्य उपसद् और संवत्सरसाध्य प्रसुत (सुत्या) होते हैं। बिना किसी परिवर्तन के इस याग की क्लृप्ति गवामयनवत् है--'गवामयनेन क्लृप्तिं तपश्चितामयनम्।'[8] तां॰ ब्रा॰ में उपर्युक्त दीक्षा, उपसद् और सुत्या की क्लृप्ति को तपोऽनुष्ठानपरक बतलाया गया है।[9]

---

1. आर्षेयकल्प 11.7 पर व्याख्या
2. तां॰ ब्रा॰ 25.4.1
3. तां॰ ब्रा॰ 25.4.5
4. वही 25.4.3
5. वही 25.5.3
6. वही 25.5.1
7. आर्षेयकल्प 11.7
8. वही
9. तां॰ ब्रा॰ 25.5.2

प्रजापति का द्वादशसंवत्सर सत्र :

इसका अनुष्ठान नैमिशारण्य (अथवा नैमिषारण्य) वासियों ने किया था और उन्हें इससे सर्वसमृद्धि प्राप्त हुई थी।[1] सम्पूर्ण सत्र के अनुष्ठान में चार स्तोम प्रयोज्य हैं--यथा प्रथम तीन वर्षों के लिए त्रिवृत् स्तोम तथा अन्यान्य तीन-तीन वर्षों के लिए क्रमशः पञ्चदश, सप्तदश और एकविंशस्तोम विहित हैं।[2] ये ब्रह्म-वर्चस्, ओजस्, अन्न और प्रतिष्ठाप्रद हैं।[3] ताण्ड्य ने इस सत्र का एक नव-वर्षीय प्रयोग भी बतलाया है।[4] उस स्थिति में एकविंशस्तोम अविहित है। आर्षेयकल्प[5] के अनुसार इसकी और अगले दो यागों की क्लृप्ति 'दृतिवातोरयन' के समान है।

शाक्त्यों का षट्त्रिंशत् संवत्सरसत्र :

यव्यावती नदी के तट पर गौरीविति शाक्त ने इसका अनुष्ठान तरसपुरोडाश (मांस के सवनीय पुरोडाश) के द्वारा किया था। इसके अनुष्ठाता को सर्वसमृद्धि के साथ ही 10 वीर पुत्रों की प्राप्ति होती है।[6] इस याग में भी चार ही स्तोम 36 वर्षों तक प्रयोज्य हैं। प्रथम 9 वर्षों के लिए त्रिवृत्, द्वितीय 9 वर्षों के लिए पञ्च-दश, तृतीय 9 वर्षों के लिए सप्तदश और शेष 9 वर्षों के लिए एकविंशस्तोम विहित है।

साध्यों का शतसंवत्सर सत्र :

साध्य नामक देवों ने इसके अनुष्ठान से गवादि पशुओं और पुरुषों के साथ स्वर्गाप्ति की थी, अतएव यह सत्र स्वर्गसाधक है।[7] इसमें भी चार स्तोम प्रयोज्य हैं, जो क्रमशः 25-25 वर्षों तक अनुष्ठेय हैं। इसमें 100 वर्षीया सुत्या विहित है।

उपर्युक्त अयनों में, जिनमें त्रिवृत्स्तोमयुक्त वर्ष अग्निष्टोमसंस्थ और अन्य-स्तोमयुक्त वर्ष उक्थ्यसंस्थ हैं, अतिरात्र का समावेश किया जाय या नहीं—इस पर सूत्रकारों के मध्य मत-वैभिन्न्य है।

उपर्युक्त तीनों सत्रों को सूत्रकार कात्यायन ने 'महासत्र' कहा है।[8]

अग्नि का सहस्रसाव्य सहस्रारात्र :

यह समस्त अन्नाद्य फल का साधनभूत है।[9] अतिरात्र के अनन्तर इसमें 1000 दिनों की सुत्या होती है, तदनन्तर पुनः अतिरात्र अनुष्ठेय है। बिना किसी

---

1. तां० ब्रा० 25.6.4
2. वही 25.6.1
3. वही 25.6.3
4. तां० ब्रा० 25.6.5
5. आर्षेयकल्प 11.7
6. तां० ब्रा० 25.7.4
7. वही 25.8.2
8. कात्या० श्रौ० सू० 24.5.25
9. वही 25.9.2

परिवर्तन के इसमें ज्योतिष्टोम के कल्प का अनुष्ठान विहित है— 'ज्योतिष्टोमेना-विक्लृप्तेन क्लृप्तमग्नेः सहस्रसाव्यम् ।'[1]

तीन सारस्वत सत्र

सारस्वत सत्रों का अनुष्ठान सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर, उस स्थान पर होता है, जहाँ नदी भूमि के अन्दर विलुप्त हो गई है और जिसे 'विनशन' (प्रभास क्षेत्र) कहा गया है—'सरस्वत्या विनशने दीक्षन्ते ।'[2] ये तीनों सारस्वत सत्र क्रमशः मित्रावरुण, इंद्राग्नि और अर्यमा से सम्बद्ध हैं ।

मित्रावरुण का सारस्वत सत्र :

इसमें 12 दीक्षाएँ और इतने ही उपसद् होते हैं ।[3] प्रायणीय और उदयनीय अतिरात्र षोडशिसामयुक्त हैं । प्रायणीय अतिरात्र के अनन्तर सन्नाय्य याग होता है ।[4] सूर्यास्त से पूर्व गो-दोहन कर लेते हैं, प्रातः पुनः दोहन होता है । सन्नाय्ययाग में इन्द्र को महेन्द्र पुरोडाश के अतिरिक्त दधि पयस् की आहुतियाँ दी जाती हैं ।[5] सान्नाय्य याग के अनन्तर अध्वर्यु आहवनीय के पास खड़े होकर यथाशक्ति शम्या (Yoke pin) को फेंकता है । वह जहाँ गिरती है, वहीं गार्हपत्याग्नि सम्पन्न की जाती है । यहाँ से 36 पग चलकर आहवानीयाग्नि तैयार की जाती है ।[7] तां० ब्रा०[8] के अनुसार इस सत्र में सदोमण्डप, हविर्द्धान और आग्नीध्र चक्राकृति बनाये जाते है । कुछ के अनुसार 'चक्री' शब्द यहाँ रथ या शकट का वाचक है, उसके युक्त मण्डप बनाये जाते हैं । सूत्रकार ने पत्नीशाला और शामित्रशाला को भी चक्री-वत् बनाने की व्यवस्था दी है— 'तथापि पत्नीशाला स्यात् शामित्रं च ।' ताण्ड्य के पूर्वेङ्गित अंश के ही अनुसार यूप भी उलूखल के मूलभाग की तरह स्थविष्ट होना चाहिए । पौर्णमासी को उक्थ्यसंस्थ गोष्टोम अनुष्ठेय है ।[9] गोष्टोम के अनन्तर

---

1. आर्षेयकल्प 11.7 2. तां० ब्रा० 25.10.1
3. वही 25.10.1 4. वही 25.10.3
5. 'दधिपयसी च पायसान्नाया इति सूत्रेण निपातनात् कर्मव्युत्पत्या सान्नाय्यप-दाभिधेये'— श्रौतपदार्थ निर्वचनम्, पृष्ठ 2 ।
6. खदिरकाष्ठनिर्मिता षट्त्रिंशदङ्गुलपरिमितायामा अग्रभागे अष्टास्वङ्गुलिषु कुम्बा (कुम्बो वर्तुलग्रन्थिसदृशाकारः) एटकयुता तण्डुलादिपेषणकाले दृषदोऽध-तात् स्थापनायोज्यमाना आग्नीध्रकर्तृकदृषदुपलादिसमाहननादौ करणभूता शम्यापदवाच्या । श्रौतपदार्थनिर्वचनम्, पृष्ठ 7-8
7. तां० ब्रा० 25.10.4 8. वही 25.10.5 6. तां० ब्रा० 25.10.7

पौर्णमास कृत्यों का सम्पादन होता है।[1] आयुष्टोम अमावस्या को होता है।[2] आयुष्टोम उक्थ्यसंस्थ और रथन्तर सामयुक्त होता है। इसी क्रम में गो और आयु संज्ञक एकाहों की आवृत्ति होती है। यजमान प्रथम अतिरात्र के अनन्तर ही उठ जाता है। ताण्ड्य में यजमान के सत्रोत्थान की चार विधियाँ दी हुई हैं। इनमें से एक का अवलम्बन विदेहराज सप्यपुत्र नमि ने किया था। उसने सरस्वती के उत्तरवर्ती स्थूलाम्र्म प्रदेश गत कुण्ड में अवभृथ स्नान किया, जहाँ उसकी 100 गायें 1000 हो गई। इस सत्र के प्रसंग में सरस्वती के विनशन से लेकर प्लक्षप्रस्रवणपर्यन्त स्थानगत अनुष्ठान की विशेष प्रशंसा की गई है।

इन्द्राग्नि का द्वितीय सारस्वत अयन :

इन्द्र और अग्नि इस सत्र के अनुष्ठान से अन्य देवों से श्रेष्ठ हो गये थे[3]–यही इसके नामकरण का आधार है। अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है–षोडशिक अतिरात्र—त्रिवृत् और पञ्चदशस्तोम व्यत्यासपूर्वक (on alternate days) प्रयोज्य हैं। प्रथम सारस्वत सत्रायण की भाँति गो और आयु का अनुष्ठान क्रमशः पौर्णमासी और अमावस्या को होता है। तां० ब्रा०[4] में आया 'इन्द्रकुक्षी' शब्द इन्हीं का वाचक है। पौर्णमासी और अमावास्या इन्द्र की कुक्षियाँ हैं।[5] प्रकृत अयन याग के अन्य अनुष्ठान प्रथम सारस्वत सत्र समान होते हैं। अन्त में षोडशियुक्त अतिरात्र होता है।

अर्यमा का तृतीय सारस्वत सत्र :

ताण्ड्य के अनुसार इसके अनुष्ठान से अर्यमा ने स्वर्गलोक की प्राप्ति की थी।[6] प्रायणीय अतिरात्र, जो षोडशियुक्त होता है, के अनन्तर अमावास्या से प्रारम्भ कर जब तक याग समाप्त नहीं होता, ज्योति गो और आयु —इन एकाहों का अनुष्ठान चलता रहता है। बीच में पौर्णमासी को अभिजित् और अमावस्या को विश्वजित् अनुष्ठेय है। अन्त में उदयनीय अतिरात्र के पश्चात् यजमान उठ जाते हैं।

दार्षद्वत इष्ट्ययन

नाम से ही व्यक्त है कि यह याग सत्र नहीं है। इसमें इष्टियों का समुच्चय है, जिनमें से प्रत्येक इष्टि का अनुष्ठान पृथक् स्थान पर किया जाता है। दार्षद्वत में केवल एक ही यजमान होता है। सूत्रकारों ने इसके अनुष्ठाता के द्वारा पालनीय

---

1. तां० ब्रा० 25.10.8
2. वही
3. वही 25.11-2
4. वही 25.11.1
5. इस सन्दर्भ में एक खिलमन्त्र उल्लेख्य है–'ओभा कुक्षी पृणातां वार्त्रघ्नं च माघोनाम् च'। —ऋग्वेदखिलानि, 5.7,4
6. तां० ब्रा० 25.12.2

कुछ सामान्य नियम भी दिये हैं ।[1] उनके अतिरिक्त उसे एक वर्ष तक ब्राह्मण-ऋत्विकों या आचार्यों की गायों की रक्षा करनी चाहिए, दूसरे वर्ष वह कुरुक्षेत्र के व्यर्ण नैतन्धव नामक ग्राम में औपासनाग्नि की स्थापना और परिचर्या करे। तीसरे वर्ष कुरुक्षेत्र की परीण नामक स्थली में अग्न्याधान करे, तत्पश्चात् अन्वारम्भणइष्टि से याग कर दार्षद्वत के अनुष्ठान की इच्छा से दर्शपूर्णमास को बिना किये ही उस स्थान को छोड़ दे; अनन्तर वह दृषद्वती नदी के दक्षिण तट पर शम्या-प्रक्षेप करे; शम्या के गिरने के अनुसार याग का स्थान निर्धारित कर अगले दिन अग्नि के निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश से याग करे। अवभृथ स्नान यमुना में किया जाता है—'यमुनामवभृयमभ्यवैति ।[2] आर्षेयकल्प ने इसकी कोई क्लृप्ति नहीं दी है। कल्पकार के 'उपायक्लृप्ते दार्षद्वततीरे' कथन पर व्याख्याकार वरदराज की टिप्पणी है कि इनका अनुष्ठान ब्राह्मणोक्त प्रकार से होना चाहिए ।[3]

तुरायण इष्ट्यन :

देवर्षि तुर ने इसके अनुष्ठान से सम्पूर्ण समृद्धि को प्राप्त किया था ।[4] इसमें एक वर्ष तक प्रतिदिन अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश, इन्द्र को 11 कपाल और वैश्वदेव के निमित्त चरु समर्पित किया जाता हैं । तां०ब्रा० तथा सूत्रकार के अनुसार ये आहुतियाँ क्रमशः तीन सवनों में प्रदेय हैं अर्थात् अग्नि को प्रातः सवन, इन्द्र को माध्यन्दिन सवन और वैश्वदेव को तृतीय सवन में दी जाती हैं ।[6] संवत्सर बीत जाने पर अवभृथ होता है। शेष कृत्य पूर्व भाग के समान हैं।

सर्पों का सत्र :

इस याग का अनुष्ठान सर्पों ने किया था और इससे लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी ।[5] तां० ब्रा०[7] ने अनुष्ठान में सम्मिलित सर्पों की एक लम्बी तालिका दी हैं, जिन्होंने सत्र में विभिन्न गृहपति-ऋत्विकों के दायित्व सम्पन्न किये थे। तदनुसार जर्वर ने गृहपति, धृतराष्ट्र ऐरावत ने ब्रह्मा, पृथुश्रवा दौरेश्रवस् ने उद्गाता, ग्लाव और अजगाव ने क्रमशः प्रस्तोता और प्रतिहर्ता, दत्ततापस ने होता, शितिपृष्ठ ने मैत्रावरुण, वैशालेय तक्षक ने ब्राह्मणाच्छंसी, शिख और अनुशिख ने क्रमशः नेष्टा

---

1. 'दार्षद्वततोरयोः व्रतानि—तिष्ठेद्दिवा आसीत नक्तं हविरुच्छिष्ट भोजीस्यादधः संवेश्यामांसाश्यलवणाशी न स्त्रियमुपेयाद्यथा प्रकृत्याग्निवृत्तिं वर्त्तयेदिति ।'
2. तां० ब्रा० 25.13.1-4
3. उपायो ब्राह्मणोक्तानुष्ठानप्रकारः । तेनैव क्लृप्ते नैवान्यतरयो : कल्पे नियमोऽस्तीत्यर्थ : ।—आर्षेयकल्प 11.8
4. तां० ब्रा० 25.14.5
5. वही 25.14.4
6. वही 25.15.2
7. वही 25.15.3

और पोता, अरुण आट ने अच्छावाक, तिमिर्घ दौरेश्रुत ने अग्नीत्, कौतस्तों (कुतस्त के पुत्रों) ने अध्वर्यु, अरिमेजय, जनमेजय तथा अर्बुद ने ग्रावस्तुत, अजिर ने सुब्रह्मण्य, चक्क और पिशङ्ग ने उन्नेता तथा षण्ड और कुषण्ड ने क्रमशः अभिगर (स्तोता) तथा अपगर (निन्दिता) के दायित्वों का सम्पादन किया।[1] महाव्रत में अभिगर और अपगर के कार्य क्रमशः ब्राह्मण और शूद्र द्वारा करणीय है। इसके अनुष्ठान से सर्पों ने फलान्तर के रूप में अपमृत्यु पर विजय पाई थी।[2] इसका अनुष्ठान-क्रम इस प्रकार है—षोडशिसहित प्रायणीय और उदयनीय अतिरात्र; दोनों अतिरात्रों के मध्यवर्ती सभी दिन अग्निष्टोमसंस्थ होते हैं। दोनों अतिरात्रों सहित सम्पूर्ण संवत्सर दशिस्तोम (अथैष विराडित्युक्तो विराड् द्वन्द्वेन सर्वो दशीति सर्वोऽयमाग्निष्टोमो दशिस्तोम इत्यर्थः)[3] युक्त होता है। इसका अपवाद केवल विषुवत् दिन हैं जो द्वादशस्तोमयुक्त है। विषुवदह में सर्पसाम प्रयोज्य है। आर्षेयकल्प के अनुसार प्रथम अग्निष्टोम प्रायः विराज के सदृश होता है। द्वितीय अग्निष्टोम की अपनी क्लृप्ति है, जो आर्षेयकल्प में उल्लिखित है। इन्हीं दोनों अग्निष्टोमों की आवृत्ति व्यत्यासपूर्वक छः मास तक होती है। अंतिम मास में केवल 29 दिन होते हैं। इसके पश्चात् विषुवदह होता है। अगले छः मासों में उपर्युक्त अग्निष्टोमसंस्थ दो दिनों की विपरीतक्रम से आवृत्ति हो जाती है।

त्रिसंवत्सर सत्र :

तां० ब्रा०[4] के अनुसार इसका अनुष्ठान गायों, आदित्यों, अंगिरसों, अह्नार के पुत्र पर, पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु, श्रयस् के पुत्र वीतहव्य और उशिज के पुत्र कक्षीवान् ने किया था। सभी को इससे प्रजाति-लाभ हुआ। अनुष्ठान की दृष्टि से इसमें गवामयन, आदित्यानामयन और अंगिरसामयन संज्ञक तीन अयनों का समावेश है। इनमें से किसी भी अयन की क्लृप्ति में परिवर्तन नहीं होता। इन सभी का क्रमशः एक-एक वर्ष तक अनुष्ठान होता है।

---

1. यह सूची बौ० श्रौ० (17.18) तथा बौ० गृह्यसूत्र में भी प्राप्त होती है (बौ० गृ० सू० 3.10) बौधायन के अनुसार ऊपर जो नाम दिए गये हैं, वे सर्पों के राजा और राजकुमार हैं, जिन्होंने खाण्डवप्रस्थ में मानव-देह धारण कर सर्प सत्र का अनुष्ठान किया था। प्रतीत होता है कि ये नाग जाति के वन्य लोग थे, जिन्होंने इस याग का सम्पादन किया था।
2. तां० ब्रा० 25-15 4
3. आर्षेयकल्प (11.9) और उस पर व्याख्या
4. तां० ब्रा० 25.16.2-3

प्रजापति का सहस्रसंवत्सर सत्र

यह सर्वर्द्धि-साधन माना गया है। प्रजापति ने इसके द्वारा सृष्टि ही नहीं की, अपितु अपनी वृद्धावस्था का निराकरण भी किया था, अतएव यह जरानिवृत्ति-कारक सत्र भी है।[1] नाम से ही स्पष्ट है कि यह एक सहस्र वर्ष तक चलने वाला याग है। प्रारम्भ और समापन अतिरात्रों से होता है। त्रिवृत्स्तोम ही इसमें निरन्तर प्रयोज्य है। बिना किसी परिवर्तन के बृहस्पतिसव ही इसमें अनुष्ठेय है, जैसा कि आर्षेयकल्प का वचन है—'बृहस्पतिसवेनाविक्लृप्तेन क्लृप्तं प्रजापतेः सहस्रसंवत्सरम्।'[2]

विश्वसृजामयन :

यह भी एक सहस्रवर्षसाध्य एक असाधारण सत्र है। तां० ब्रा० में निरूपित यह अन्तिम याग है। आर्षेयकल्प में भी इसके अनन्तर किसी यज्ञ की क्लृप्ति उल्लिखित नहीं है। इसमें 250-250 वर्षों तक क्रमशः त्रिवृत्, पञ्चदश और एकविंशस्तोम विहित हैं। कल्प की दृष्टि से यह दृतिवातवतोरयन या ज्योतिष्टोम के समान अनुष्ठेय है, जैसा कि आर्षेयकल्प में कहा गया है।[3]

तां० ब्रा०[4] से ज्ञात होता है कि इसके द्वारा ही सृष्टि के आदि में विश्वस्रष्टा देवों ने यह विश्व रचा था। विश्वस्रष्टा देवता कौन हैं और उन्होंने इस याग में क्या भूमिका निभाई, इसका सुन्दर विवरण ताण्ड्य में संजोया गया है। तदनुसार तपस् ने गृहपति, ब्रह्म ने ब्रह्मा, इरा ने गृहपत्नी, अमृत ने उद्गाता, भूतकाल ने प्रस्तोता, भविष्यकाल ने प्रतिहर्त्ता, ऋतुओं ने उद्गाता, आर्त्तवों ने सदस्यों, सत्य ने होता, ऋत ने मैत्रावरुण, ओज ने ब्राह्मणाच्छंसी, त्विषि और अपचिती ने नेष्टा और पोता, यशस् ने अच्छावाक, अग्नि ने अग्नीत्, भग ने ग्रावस्तुत, अर्क ने उन्नेता, वाक् ने सुब्रह्मण्य, प्राण ने अध्वर्यु, अपान ने प्रतिप्रस्थाता, दिष्टि ने विशास्ता, बल ने ध्रुवगोप, आशा ने हविष्य, अहोरात्र ने इध्मवाह और मृत्यु ने शमिता का कार्य-सम्पादन करने की दीक्षा ली।[5]

इस याग के अनुष्ठाता ब्रह्म का सायुज्य, सालोक्य और सार्ष्टिता को प्राप्त करते हैं।[6]

---

1. तां० ब्रा० 25.17.2-4
2. आर्षेयकल्प 11.10
3. दृतिवातवतोरयनेन क्लृप्तं विश्वसृजामयनम्। पक्षान्तरमाह—'ज्योतिष्टोमेनाविक्लृप्तेन वा'—आर्षेयकल्प 11.10
4. तां० ब्रा० 25.18.2
5. वही 25.18.4
6. वही 25.18.6

सायण ने सहस्रसंवत्सरसाध्य अयन के विषय में यह विवाद उठाया है कि प्रकृत याग के अनुष्ठान का अधिकारी कौन है ? विश्वस्रष्टा देवों की बात तो ठीक है, क्योंकि उनकी अपरिमित आयु होती है, अतएव वे एक सहस्र वर्षों में सम्पाद्य याग का अनुष्ठान सरलता से कर सकते हैं। इस विषय में सायण-भाष्य में कई पक्ष मुखरित हैं। प्रथम यह कि इसके अनुष्ठानाधिकारी गन्धर्व हैं, क्योंकि वे दीर्घायु होते हैं। इस पर आपत्ति यह है कि शास्त्रों में 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'—इत्यादि वाक्यों से मनुष्यों को ही याग का अधिकार दिया गया, क्योंकि वे ही आहवनीयादि अग्नियों का आधान कर सकते हैं, न कि गन्धर्व। ये मनुष्य रसायन से सिद्ध देह वाले होते है, जिनके शरीर पर अवस्था का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वे इच्छानुसार जीवन जी सकते हैं। इस द्वितीय मत के विरोध में यह तर्क दिया जाता है कि रस-रसायन आरोग्यप्रद और पुष्टिकारक तो होते हैं, किन्तु मृत्यु-निवारक अथवा आयुष्कारक नहीं। अतएव इस पक्ष ने यागानुष्ठान का अधिकार कुल को देने का प्रस्ताव किया है, क्योंकि एक कुल में समुत्पन्न पिता, पुत्र और प्रपौत्रादि के क्रम से कुल की सहस्रवर्षीय आयु हो सकती है। इस तीसरे मत के विरोध में यह युक्ति दी जाती है कि याग का फल वस्तुत: उसी को मिलता है, जो उसका समग्रत: अनुष्ठान करता है। पिता, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रादि में से कोई भी निखिल सत्र का अनुष्ठान नहीं कर पाता, अतएव उन्हें याग का फल भी नहीं प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से चतुर्थ पक्ष का कथन है कि सत्रविधायक वचनों की सामर्थ्य से सत्रियों को दीर्घायु प्राप्त हो जाती है। इस पर यह आपत्ति की जाती है कि सत्रान्तरों में प्रवृत्त म्रियमाण देवों की सत्रविधायक विधि के बल से आयुष्य-वृद्धि होती हुई नहीं दिखलाई देती। अतएव यागविधायक 'पञ्चपञ्चाशत' शब्द को यदि वर्षपरक न मानकर पुरुषपरक मान लिया जाये और ढाई सौ पुरुषों को यागाधिकारी स्वीकार कर लिया जाये तो सत्रानुष्ठान सम्भव है। इसका विरोध यह कहकर किया जाता है कि 'चतुर्विंशति परमाः सत्रमासीरन्'—सदृश वचनों के अनुसार एक समय में 24 से अधिक यजमान सत्र में भाग नहीं ले सकते।

छठा मत यह है कि 'यो मासः स संवत्सर' इत्यादि वाक्यों के आधार पर 'संवत्सर' को यदि मासवाचक मान लिया जाय तो सहस्रमासों अर्थात् 83 वर्षों और 4 मासों में याग सम्पन्न हो जायेगा। इसके विरोध में यह आपत्ति है कि यदि किसी का अष्टम वर्ष में उपनयन हुआ और उसने 12 वर्ष वेदाध्ययन करके न्यूनतम 20 वर्ष की अवस्था में भी यागानुष्ठान प्रारम्भ किया, तो अनुष्ठान के वर्ष 100 वर्ष की आयु से ऊपर हो जाते हैं, जो सामान्यत: नहीं मिलते। अतएव सप्तम पक्ष है कि 'संवत्सरस्य प्रतिमा वै द्वादश रात्रयः' प्रभृति वचनों के आधार पर

संवत्सर को द्वादशरात्रिपरक मान लिया जाय तो 12 हजार दिनों अर्थात् 33 वर्षों और 4 मासों में सहस्रसंवत्सर सत्र सम्पन्न हो जायेगा ।

इसके विरुद्ध भी आपत्तियाँ हैं । प्रमुख आपत्ति यह कि 'संवत्सरस्य प्रतिमा वै द्वादश रात्रयः' वाक्य में 'संवत्सर' शब्द रात्रिपरक नहीं है; किन्तु यह तो प्रतिमा का विशेषण है । आठवें मत के अनुसार 'संवत्सर' शब्द दिनपरक है । ऐसा होने पर ही 'त्रिवृतः संवत्सराः' इत्यादि वाक्यों का स्वारस्य हो सकेगा, क्योंकि त्रिवृत्, पञ्चदश और एकविंशादि शब्द स्तोमवाचक होते हुए भी लक्षणा से तत्तत्स्तोम-युक्त एक-एक दिन में अनुष्ठेय याग के भी द्योतक हैं । सत्रों में इस प्रकार के प्रयोग बाहुल्य से दिखलाई देते हैं । त्रिवृदादि शब्द अहःसंघ के लिए कहीं भी नहीं प्रयुक्त हुए हैं । इन शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण 'संवत्सर' शब्द अपने अवयवभूत दिन में अवयवलक्षणा से विद्यमान है—इस कारण जब 'त्रिवृतः संवत्सराः' कहा जाता है, तब इसका अर्थ त्रिवृत्स्तोमयुक्त याग-दिन है । अतएव सिद्धान्त यही स्थिर हुआ कि विश्वस्रष्टा ऋषियों का यह याग सहस्रदिनात्मक है ।

षड्विंशब्राह्मणोक्त विशिष्ट श्रौत याग :

षड्विंश के प्रथम चार अध्यायों की अधिकांश यागविषयक सामग्री ताण्ड्योक्त यागों की पूरक है और उसका समावेश गत पृष्ठों में ही हो जाता है; किन्तु उसमें अद्भुतों के अतिरिक्त पाँच याग ऐसे हैं, जिनका निरूपण केवल इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में है । ये हैं—श्येन, त्रिवृदग्निष्टोम (इषु याग), संदंश, वज्र और वैश्वदेव त्रयोदशाह । इनमें से वैश्वदेव त्रयोदशाह को छोड़कर शेष चारों अभिचार फल युक्त हैं, इसलिए उनका उल्लेख बाद में किया जायेगा ।

वैश्वदेव त्रयोदशाह

यद्यपि कुछ त्रयोदशाह-सत्रों का वर्णन पञ्चविंश में भी हैं, किन्तु यह उनसे भिन्न है, जैसा कि सायण का कथन है—'पञ्चविंशब्राह्मणोक्ताभ्यां त्रयोदशाभ्यां विलक्षणं त्रयोदशाहं वैश्वदेवाख्यम् ।'[1]

राजा सोम को गृहपति बनाकर विश्वेदेवों ने इस सत्र का अनुष्ठान किया था ।[2] अन्य सत्र-यागों की भाँति यह भी गवामयन की विकृति है । इसके अनुष्ठाता पुत्र-पौत्रादि के साथ शतवर्षीय आयुष्य-लाभ भी करते हैं ।[3] इसकी अनुष्ठानक्लृप्ति इस प्रकार है—अतिरात्र, चतुर्विंशस्तोमयुक्तप्रायणीयमहः, अभिजित्, तीनस्वरसाम, दिवाकीर्त्यमहः, तीन स्वरसाम, विश्वजित्, महाव्रत और अतिरात्र ।

1. षड्० ब्रा० 4.6 की उपक्रमणिका ।
2. षड्० ब्रा० 4.6.2
3. षड्० ब्रा० 4.6.5

षड्विंशोक्त अभिचार याग

अभिचार का उल्लेख तो तां० ब्रा० में ही दिखता है[1], किन्तु षड्विंश में उसे अनावृत रूप में स्थान मिला।

श्येनयाग :

शत्रु-हिंसा के प्रयोजन से यह अनुष्ठेय है।[2] श्येन के नाम पर इसके नामकरण का आधार बतलाया गया है कि वह पक्षियों में क्षेपिष्ठ अर्थात् सर्वाधिक तीव्रगामी होता है। श्येन (बाज) जैसे पक्षि-समूह पर टूटकर उन्हें मारने के लिए दबोच लेता है, वैसे ही यह याग भी यजमान के शत्रु को दबोच लेता है। इसके सभी पवमानस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त होते हैं। अन्य सोमयागों में हविर्धान शकटाकार होते हैं, किन्तु इसमें रथ होते हैं।[3] श्येनयाग में प्रयोज्य विशिष्ट साम ये हैं – वषट्कारणिधन ('पुनानः सोमधारया'[4] पर आधृत), बृहत्, रथन्तर, वार्षाहर, सफौपगव इत्यादि। इसका यूप तिल्वक अर्थात् बाधक-कांटेदार (राजवृक्षादि) वृक्षों की लकड़ी से स्फ्याग्रसदृश (खड्गाकृतिवत्) अग्रभागयुक्त होता है। सवनीय पशु का रंग लाल विहित है। इध्म का चयन विभीतक (अक्षदारु) वृक्ष से किया जाता है। अनुष्ठान में निरत ऋत्विक् ऊपर से नीचे तक रक्त वस्त्र और रक्तोष्णीष धारण करते हैं। वे निवीत होकर अर्थात् कान अथवा कण्ठ पर ब्रह्मसूत्र और उत्तरीय डालकर ही याग-कृत्यों का सम्पादन करते हैं। आर्षेयकल्प के व्याख्याकार वरदराज के अनुसार श्येनयाग के ऋत्विक् श्रमिकों और योद्धाओं के पुत्र होते हैं, किन्तु उन्हें अनूचान अर्थात् वेदानुशीली होना चाहिए।[5] दक्षिणा में प्रत्येक ऋत्विक् को प्रतिवर्ग की नौ गायें प्राप्त होती हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है-काण (एक आँख वाली), खोर (लँगड़ी), कूट (टूटे शृंगों वाली), वाण्ड (छिन्नपुच्छ)। इस प्रकार प्रत्येक ऋत्विक् को 36 गायें प्राप्त होती हैं। दक्षिणा में हिरण्यादि भी योग्यतानुसार प्रदान किये जाते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र से विदित होता है कि यह साद्यस्क्र है और इसके सभी अनुष्ठान एक ही दिन में सम्पन्न कर लिए जाते हैं।[6]

---

1. तां० ब्रा० 8.1.1
2. षड्० ब्रा० 4.2.2
3. वही 4.2.6
4. साम० सं० 511
5. व्रातीनां योधानां पुत्रा अनूचाना अभिचारणीयायामृत्विजः प्रचरन्ति। अर्हतामेव पुत्रा इति धानञ्जय्यः। ते च लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीताः प्रचरन्ति। —आर्षेयकल्प 3.15
6. दीक्षादि सर्वं सद्यः क्रियते-कात्या० श्रौ० सू० 22.3.25-26

इषुयाग अथवा त्रिवृदग्निष्टोम :

इसका नामकरण त्रिवृदग्निष्टोम की 'इषु' नाम्नी विष्टुतियों के आधार पर हुआ है।[1] इसका प्रयोजन भी शत्रु-वध ही है। त्रिवृत्स्तोम तथा वषट्कारणिध-नादि साम इसमें विशेषतः प्रयोज्य हैं। इसके ऋत्विगादि तथा शेष कृत्य श्येनयाग के समान ही होते हैं।[2]

संदंशयाग :

जैसे संदंश (अयोगोलकादि) सामान्यतया पकड़ में न आ सकने वाली वस्तु को भी पकड़ने का साधन है, वैसे ही यह याग उस शत्रु के वध के निमित्त है, जो सामान्यरूप से हमारी पकड़ में नहीं आता, जैसा कि षड्० ब्रा० में कहा गया है— 'यद्वै दुरादानं सन्दंशेन तदादत्ते।'[3] इसमें दो स्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त, दो द्वादश-स्तोमयुक्त, दो पञ्चदशस्तोमयुक्त, दो एकविंशस्तोमयुक्त, दो चतुर्विंशस्तोम युक्त और दो त्रिणवस्तोमयुक्त होते हैं। वैयश्व, वार्षाहर, काशीतौपगव और नानद आदि इसमें विशेष प्रयोज्यसाम हैं। इसके भी ऋत्विगादि श्येनवत् ही कहे गये हैं।[4]

वज्रयाग :

शत्रु-हिंसा की दृष्टि से इसकी वज्र से समानता है।[5] इसके सभी स्तोत्र द्वादशस्तोमयुक्त होते हैं, क्योंकि वह वज्ररूप ही होता है। षोडशियुक्त उक्थ्य इसमें अनुष्ठेय है। महानाम्नी ऋचाओं पर आधृत षोडशिसाम इसमें विशेष प्रयोज्य है। शेष कृत्य संदंश के समान ही हैं।

ताण्ड्योक्त प्रायश्चित्त याग

तां० ब्रा० के नवमाध्याय के आठ खण्डों (3-10) में सोमयाग (अग्निष्टोम) से सम्बद्ध 10 प्रायश्चित्त यागों का निरूपण हुआ है, जिनका विवरण अग्रलिखित है। क्षुद्रकल्पसूत्र[6] में भी इनका इसी क्रम में वर्णन हुआ है।

साम्युत्थानजन्य प्रायश्चित्त :

जब सत्र में अनेक अनुष्ठाता यजमानों ने एक साथ दीक्षा ली हो और उनमें से कोई दैवी अथवा मानवीयआपत्तिवश सत्र-समापन से पूर्व ही चला जाये तो इस प्रायश्चित्त का अनुष्ठान विहित है। इसमें अतिरात्रसंस्थ विश्वजित् याग की स्तोत्रस्तोम-क्लृप्ति का विधान है[7], किन्तु वह एकाह प्रकरण में पठित विश्वजित्

1. षड्० ब्रा० 4.3.2
2. समानमितरत् श्येनेन-षड्० ब्रा० 4.3.7
3. षड् ब्रा० 4.4.3
4. वही 4.4.10
5. वही 4.5.8
6. क्षुद्रसूत्रम् 2.1.7 से 11 तक
7. तां० ब्रा० 9.3.1

से भिन्न है। विश्वजिदतिरात्र में छः पृष्ठस्तोम हैं। इसमें दक्षिणास्वरूप सर्वस्व-दान विहित है।

पर्यायकालातिक्रम प्रायश्चित्त :

यदि यह आशंका हो कि उषःकाल से पूर्व रात्रिपर्यायस्तोत्रों का समापन नहीं हो सकेगा, तब यह प्रायश्चित्त अनुष्ठेय है। इसमें होतृशस्त्र की 15 ऋचाओं तथा मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी और अच्छावाक्साध्य 5-5 ऋचाओं के स्तोत्रों से स्तुति की जाती है—इस कारण होतृ-साम में 15 ऋचाएँ तथा अन्यों में 5-5 ऋचाएँ होती हैं। इसकी विस्तृत क्लृप्ति आर्षेयकल्प तथा उसकी व्याख्या में दी गई है।[1]

अर्वाक्स्तवातिष्टव प्रायश्चित्त :

त्रिवृदादिस्तोमगत स्तोत्रों में जब निर्धारित संख्या से कम स्तोत्रियाओं से की जाती है, तो याग एक प्रकार से अस्तुतप्राय ही रह जाता है। इस वैकल्य के कारण उससे अपूर्व का उत्पादन नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त जब विहित स्तोम का अतिक्रमण कर अधिक स्तोत्रियाओं का प्रयोग होता है, तब याग 'सुष्टुत' हो जाता है। सायण के अनुसार 'सु' उपसर्ग यहाँ निन्दार्थक है। इन दोनों दोषों के निराकरणार्थ इस प्रायश्चित्त का विधान है।[2]

स्तोत्रिय ऋचाओं की संख्या न्यून होने पर अगले स्तोत्र में उतनी ही ऋचाएँ अतिरिक्त रूप से सम्मिलित कर देनी चाहिए। ऋचाओं की संख्या अधिक होने पर अगले स्तोत्र में उतनी ही कम की जा सकती हैं। इन उपायों के अतिरिक्त दोनों स्थितियों के लिए एक-एक विकल्प और है। तदनुसार इन दोषों के परिहार के लिए कुछ सामों का गान विशेष रूप से विहित है, जैसे महावैश्वामित्र और चार दीर्घश्रवस् साम।

संसवप्रायश्चित्त :

दो परस्पर शत्रुभूत यजमानों के द्वारा यदि एक साथ और उसी स्थान पर दो सोमयाग किये जा रहे हों, तो यह प्रायश्चित्त विधेय है। इसके सन्दर्भ में विशेष रूप से रौरव, योधाजय, बृहत्, रथन्तर, तौरश्रवस् और विहव्य आदि साम विहित हैं।[3]

सोमापहरणजन्य प्रायश्चित्त :

दीक्षा के अनन्तर सोम क्रय किया जाता है। यदि उससे पहले ही अक्रीत सोम का अपहरण शत्रु कर लें तो सामान्य रूप से विहित प्रायश्चित्त करके अन्य सोम

---

1. आर्षेयकल्प 2.1.7   2. तां० ब्रा० 9.3.7   3. वही 9.4.9-10

क्रय कर लेना चाहिए। क्रीत सोम का अपहरण हो जाने पर आस-पास से ले लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में सोम-विक्रेता को कुछ धन देय है; किन्तु गवादिक्रयण द्रव्य के रूप में नहीं। सोम के अप्राप्त होने पर पूतीकलता और अर्जुनतृण आदि के विकल्प उल्लिखित हैं। प्रायश्चित्त के प्रसंग में विहित सामों में श्रायन्तीय, यज्ञायज्ञीय और वारवन्तीय विशिष्ट हैं। ऋत्विकों को दक्षिणास्वरूप पाँच गायें प्रदेय हैं।[1]

द्रोणकलशदारणजन्य प्रायश्चित्त :

द्रोणकलश के टूट जाने और उसमें से सोमरस के बह जाने पर इस प्रायश्चित्त का विधान है। इसमें भी श्रायन्तीय साम विहित है।[2]

सोमातिरेक प्रायश्चित्त :

तीनों सवनों में से किसी में अन्त्यचमसगण के होम के पश्चात् यदि अधिक सोम दिखाई पड़े, तब यह प्रायश्चित्त करणीय है। गायत्र और गौरीवितसाम इसमें विशेष रूप से विहित है।[3]

दीक्षितान्यतममरण प्रायश्चित्त :

सत्रार्थ दीक्षित हुए यजमानों में से किसी की मध्य में ही मृत्यु हो जाने की स्थिति में प्रकृत प्रायश्चित्त की योजना है। मृतक का दाह-संस्कार करके कृष्णमृग चर्म पर उसकी अस्थियों को रखकर निकटतम सम्बन्धी (पुत्रादि) को दीक्षित कर मृतक के प्रतिनिधिस्वरूप उसके साथ अन्य सभी यजमान सत्रानुष्ठान करें।[4]

सुत्या के दिन सुत्या के मध्य में ही यजमान की मृत्यु हो जाने पर अभिषुत सोम को त्यागकर, अन्य सोम का अभिषवन करके अध्वर्यु आदि रुक जाते हैं–ऐन्द्र, वायवादि ग्रहों का ग्रहण नहीं करते। इसी समय दक्षिणी कोने में या मार्जालीय धिष्ण्य पर उद्गातृमण्डल स्तोत्र-पाठ करता है, जिसका प्रयोजन मृतक का तर्पण है।[5] स्तोत्रगत गेय साम है याम साम, जो 'आयङ्गौः पृश्निरक्रमीत' प्रभृति सर्पराज्ञी ब्रह्मवादिनी के द्वारा दृष्ट ऋचाओं पर आधृत होता है। अध्वर्यु प्रभृति ऋत्विक् इन ऋचाओं का उच्चारण करते हुए अपने बायें ऊरू को बायें हाथ से ठोकते हुए मार्जालीय धिष्ण्य की तीन बार परिक्रमा करते हैं।[6] प्रारम्भ सत्र का समापन हो जाने और संवत्सर पूर्ण हो जाने पर[7] मृतक की अस्थियों को मृतक

1. तां० ब्रा० 9.5
2. वही 9.6
3. तां० ब्रा० 9.7
4. वही 9.8
5. वही 9.8.3
6. क्षुद्रकल्पसूत्र, 2.1.11.4
7. तां० ब्रा० 9.8.13

का प्रतिनिधि समझकर[1] याग किया जाता है जिसमें सोमरस का पान न करके उसे मार्जालीय धिष्ण्य में डाल दिया जाता है।[2] याग में सभी पवमानस्तोत्र त्रिवृत्स्तोमयुक्त होते हैं और अन्य सप्तदशस्तोमयुक्त। क्षुद्रकल्पसूत्र में इसकी क्लृप्ति और अन्य कृत्यों का व्याख्याकार श्रीनिवास ने विस्तार से विवेचन किया है।[3]

सोमक्षयजन्य प्रायश्चित्त :

द्रोणकलशस्थ सोम के क्षय हो जाने पर यह प्रायश्चित्त विहित है, क्योंकि तब यजमान के प्राण भी क्षय होने लगते हैं।[4] ताण्ड्य ने क्षीण सोम में हिरण्यखण्ड और वसतीवरी नामक जल डालने का विधान किया है।[5]

आगे उस स्थिति का उल्लेख है, जब प्रमादवश सदोमण्डप अथवा हविर्धानादि अग्नि से ज्वलित हो उठें, तब सोमादि यज्ञ-सामग्री को अन्य देवयजन में रखकर यज्ञ के शेष अनुष्ठान को पूर्ण करना चाहिए। 5 गायें दक्षिणास्वरूप देय हैं। अवभृथ के अनन्तर उदयनीय से उदवसानीयान्त कर्म करके पुनः उसी याग के अनुष्ठानार्थ दीक्षा लेनी चाहिए। दीक्षा-ग्रहण द्वादशी रात्रि से पूर्व सम्पन्न हो जाना चाहिए, क्योंकि उसके बाद यज्ञ अन्तर्हित हो जाता है।

महावीरभेदनादिजन्य अन्य प्रायश्चित्त :

प्रवर्ग्य इष्टि में प्रयोज्य पात्र-विशेष 'महावीर' कहलाता है। वह यदि भग्न हो जाये, तो तीन विशिष्ट ऋचाएँ[6] पढ़कर उसका स्पर्श करना चाहिए। यही इसका प्रायश्चित्त है।

यज्ञ के मध्य में यूप में शाखा का उद्भिन्न हो जाना यजमान के लिए अशुभ है। उसके प्रायश्चित्तस्वरूप पशु-याग करणीय है, जिसमें कई रंगों वाला पशु त्वष्टा को समर्पित किया जाता है।

षड्विंशोक्त प्रायश्चित्त याग :

षड्० ब्रा० में भी पञ्चविंश के समान यागों में सम्भाव्य विभिन्न भूलों और त्रुटियों के निराकरण-हेतु विस्तृत प्रायश्चित्त-विधान प्राप्य है, जिसका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित हैं—

---

1. The Brahmana of Twenty Five Chapters. page 222
2. आप० श्रौ० सू० 14.22.11-12
3. क्षुद्रकल्पसूत्रम्, पृष्ठ 90-96
4. तां० ब्रा० 9.9.1 5. वही 9.9.2-3
6. तां० ब्रा० 9.10.1 में उल्लिखित; ये कुछ भिन्नता के साथ ऋ० सं० 8.1. 12-14 में भी है।

सुब्रह्मण्याह्वान के द्वारा प्रायश्चित्तविधान–

सोमयाग में जाने अनजाने यदि कोई त्रुटि हो गई हो, तो षड्० ब्रा० के अनुसार विद्वान् सुब्रह्मण्य सुब्रह्मण्याह्वान कर उसका प्रायश्चित्त कर सकता हैं— 'अथो खल्वाहुर्यच्चागतं यच्चानवगतं सर्वस्यैष प्रायश्चित्तिरिति ।'[1]

तीन व्याहृति-होम :

तीनों वेदों से सम्बद्ध ऋत्विकों–होता, अध्वर्यु और उद्गाता यदि अपने विहित कर्म के अनुष्ठान में कुछ न्यूनाधिक्य कर जायें तो उसके प्रायश्चित्तस्वरूप भूरादि क्रमशः तीन व्याहृति-होम अनुष्ठेय हैं–ये ब्रह्मा के द्वारा करणीय हैं । यदि भेदविशेषगत अथवा ऋत्विक्विशेषगत त्रुटि का निश्चय न हो सके, तो तीनों व्याहृतियों से एकसाथ होम होता है ।[2]

हविष् के गिर जाने और पात्रों के टूट जाने पर प्रायश्चित्त :

हविष् के स्कन्दित होने और पात्रों के टूट जाने पर यज्ञ त्रिविध उत्क्रमण कर जाता है । उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तीन विभिन्न मन्त्र पढ़कर अभिमर्शन का विधान हैं । यज्ञ -हविष् का न्यूनाधिक्य होने पर भी प्रायश्चित्तस्वरुप विष्णु और वरुण की ऋचा से जल के उपनयन की विधि उल्लिखित है ।[3]

विराट् छन्द की अधिकता और न्यूनता जन्य प्रायश्चित्त :

विराट् में 10 अक्षर होते हैं ।[4] कतिपय ऋत्विक् इस संख्या का अतिक्रमण कर जाते हैं; जिसमें उन्हें लोक-परलोक में श्रान्ति अनुभव होती है और सुकृत-क्षय होता है, अतएव प्रायश्चित्त विधेय है । चूँकि इस स्थल पर किसी प्रायश्चित्त-विधि का उल्लेख नहीं है, अतःसायण का कथन है कि यहाँ भी पूर्वोल्लिखित 'स्वः स्वाहा' कह कर होम कर देना चाहिए । [5]

ब्रह्मा का मौन-भंग होने पर प्रायश्चित्तः

षड्० ब्रा० के अनुसार जिस समय जो ऋत्विक् अपने वेद-विहित कर्म के अनुष्ठान में संलग्न होता है, उस यज्ञ की स्थिति उसी ऋत्विङ्मण्डल में होती है । उदाहरणार्थ होता जब शस्त्र-पाठ में निरत होता है, तब यज्ञ होतृ-मण्डल में स्थित रहता है । यही बात अन्य ऋत्विकों और वेदों के विषय में भी है । अन्य ऋत्विकों के कार्य करते समय ब्रह्मा को मौन रहना चाहिए, किन्तु यदि किसी कारणवश

---

1. षड्० ब्रा० 1.2.3
2. षड्० ब्रा० 1.5.7-11 3. वही 1.5.12-14
4. दशाक्षरा वै विराट्—शत० ब्रा० 1.1.22
5. षड्० ब्रा० 6.1 तथा उस पर सायण-भाष्य

ब्रह्मा अपने मौन को भंग कर दे तो प्रायश्चित्त स्वरूप उसे भूरादि तीन व्याहृतियों का मानसिक ध्यान करना चाहिए। इस विषय में अन्य विकल्प भी हैं, जिनमें 'इदं विष्णुर्विचक्रमे०' ऋचा का ध्यान, महाव्याहृतियों से होम प्रभृति सम्मिलित हैं।[1]

मृण्मययज्ञ-पात्र के भग्न होने पर प्रायश्चित्त :

यज्ञ में शराव और उदञ्चनादि मृण्मय पात्रों के टूटने पर 'भूमिभूँमिमगान्माता मातरमप्यगात0' मन्त्र पढ़कर भग्न पात्र का अभिमर्शन विहित हैं।[2]

ऋत्विकों के द्वारा कर्म-परित्याग करने पर प्रायश्चित्त:

ऋत्विकों के द्वारा स्वकार्य में त्रुटि करने पर यह प्रायश्चित्त अनुष्ठेय है। यजमान को कैसे विदित हो कि किस ऋत्विक् ने अपने कर्म का परित्याग किया है? इसका समाधान षड्० ब्रा० में यह है कि अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा का सम्बन्ध यजमान के क्रमशः पशुओं, कीर्ति, जीवन ओर सन्तानों तथा योगक्षेम से है।[3] इनके किसी में न्यूनता होने पर ऋत्विक्विशेषगत प्रमाद का निश्चय किया जा सकता हैं। इसके प्रायश्चित्तस्वरूप होम-विशेष और स्रुक् में निबद्ध हिरण्य-दान विहित है। षड्विंश ने इसे यागरूप ही बतलाया है।[4]

सामविधान ब्राह्मणगत प्रायचित्त प्रयोग

ताण्ड्य और षड्विंश ब्राह्मणों में याग-गत त्रुटियों के ही संदर्भ में प्रायश्चित्त-प्रयोग विहित हैं, किन्तु सामविधान ब्राह्मण तक सामान्य जीवन-व्यवहारों में सम्भावित अपकृत्यों के परिमार्जन-हेतु धर्मशास्त्रीय दृष्टि से भी प्रायश्चित्त-प्रक्रिया का निर्धारण हो चुका था, जिसका विवरण अधोलिखितवत् है—

तीन कृच्छ्र व्रत :

सामविधान ब्राह्मण में कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्र संज्ञक तीन कृच्छ्र-व्रतों का प्रायश्चित्त-प्रयोगों के रूप में निरूपण है।[5] इनका प्रयोजन अपवित्र व्यक्तियों की शुद्धि है।[6] सायण और भरतस्वामी के तद्विषयक भाष्यांशों के

---

1. षड्० ब्रा० 1.6.5-20
2. वही 1.5.21
3. वही 3.1.10 तथा 3.2.1-4
4. अथ यदाह यज्ञो वाव यज्ञस्य प्रायश्चित्तः—षड्० ब्रा० 3.2.4
5. सामवि० ब्रा० 1.2
6. प्रथमं चरित्वा शुचि. पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं चरित्वा यत्किञ्चिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात् प्रमुच्यते। तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते।—वही 1.2.11

अवलोकन से विदित होता है कि इनकी मान्यता विशिष्ट तप के रूप में रही है।[1]

इन व्रतों का स्वरूप ब्राह्मणकार ने प्रायः वैसा ही बतलाया है, जैसा आगे मन्वादि स्मृतियों में मिलता है।[2] निर्धारित प्रक्रिया से उपवास तथा कतिपय सत्य-भाषणादि नियमों का पालन ही इसमें विहित है। तीनों कृच्छ्रों में उपवास की अवधि प्रायः बढ़ती गई है। इनके साथ ही विभिन्न साम भी विहित है। सामवि० ब्रा० के अनुसार इन तीन कृच्छ्रों के पालन से व्यक्ति वेदज्ञानसाध्य विभिन्न फलों का अधिकारी हो जाता है—'अथैतांस्त्रीन् कृच्छ्रान् चरित्वा सर्वेषु वेदेषु भवति।'[3]

अन्य प्रायश्चित्त :

सामवि० ब्रा० के प्रथम प्रपाठक (5वें से अष्टम अनुवाक तक) में विभिन्न दुष्कृत्यों के प्रायश्चित्त विहित हैं। पञ्चम अनुवाक में अश्लील-भाषण, ब्राह्मणों, बन्धुओं और उपाध्यायादि से परुषभाषण, अनध्याप्य-अध्यापन, अयाज्य-याजन, अमेध्य-दर्शन और घ्राण, अभोज्य-भोजन, अमेध्य-प्राशन, सुरा-पान, भ्रूण-हत्या, ब्रह्म-हत्या और सुवर्णादि की चोरी करने पर प्रायश्चित्तों का विधान है। प्रायश्चित्त की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है मंत्रों का, जो समस्त पापों के शोधन में समर्थ माने गये हैं—'अनादेशे मन्त्रा बलवन्तस्तपोऽन्विताः पावना भवन्ति।'[4] बहुत से प्रसंगों में, जहाँ अन्य कोई विशिष्ट विधान प्राप्त नहीं होता, 100 बार या कम से कम 10 बार साम-गान ही शुद्धि-हेतु पर्याप्त है।[5] उदाहरण के लिए अश्लील-शब्दों का उच्चारण करने पर प्रायश्चित्त-हेतु 'दधिक्राव्णो अकारिषम्'—साम का गान विहित है। साम-आवृत्ति के अतिरिक्त उपवास (जिसकी अवधि तीन दिनों से लेकर अपराध की गम्भीरता के अनुसार कितने ही दिनों तक हो सकती है), दक्षिणा-परित्याग, वमन-विरेचन, सम्पूर्ण वेदराशि का स्वाध्याय, वस्त्र-त्यागकर त्रिसवनस्नान, स्वकुकृत्य-ख्यापन, केशादि-छेदन भी विहित हैं। अपराध की गुरुता के अनुसार उक्त साधनों की मात्रा और अवधि भी बढ़ जाती है। षष्ठ अनुवाक में परधनापहरण और अगम्या-गमन के सन्दर्भ में प्रायश्चित्तों का विधान है। एक ही अपराध की गुरुता वर्णादि के अनुसार भी घटती-बढ़ती दिखाई देती है। ब्राह्मण और अब्राह्मण के धन-हरण में अन्तर दिखलाई देता है। उस युग की मान्यताओं को देखते हुए ये स्तेय और यौनसम्बन्धी अपराध निःसन्देह असामान्य हैं, किन्तु सामवि० ब्रा० में इनका जो प्रायश्चित्त-विधान है, वह कुछ अल्प प्रतीत होता है।

1. त्रीन् कृच्छ्रान् तपोविशेषान् व्याख्यास्यामः।—वही 1.2.1 पर भाष्य।
2. मनुस्मृति 11 वाँ अध्याय
3. सामवि० ब्रा० 1.2.12
4. वही 1.5.2
5. अभ्यासः साम्नां शतं दशावरम्।—सामवि० ब्रा० 1.5.4

उदाहरण के लिए ब्राह्मण का धनापहरण करने पर सामवि० ब्रा० में एक मास तक जलाशय के निकट निवास, चतुर्थकाल में भोजन और 'शुकं ते अन्यद्०'—साम का गान विहित है; गुरु अथवा ब्राह्मण की पत्नी के साथ अवैध सम्बन्ध करने पर अल्प भोजन, तीनों कृच्छ्रों का साधन तथा निर्दिष्ट साम-गान ही वांछित है, जबकि स्मृतियों में इन्हीं अपराधों के लिए शिश्नच्छेद अथवा अण्डच्छेद तक का विधान है।

सप्तम अनुवाक में चतुर्विध अपराधों के सन्दर्भ में प्रायश्चित्त विहित हैं। प्रथम कोटि के अपराध वे हैं, जिनका सम्बन्ध दान अथवा प्रतिग्रह से है, यथा अदत्त-आदान अथवा बिना किसी विपत्ति के दान-ग्रहण आदि। द्वितीय कोटि हत्या और ताड़ना सम्बन्धी अपराधों की है। तीसरी श्रेणी में कामजन्य अपराध हैं, यथा योनि-भिन्न अंग पर वीर्य-स्खलन, ब्रह्मचारी के द्वारा स्त्री-गमन, अग्रज के अविवाहित रहते हुए अनुज का विवाह कर लेना आदि। चतुर्थ श्रेणी जीविका सम्बन्धी अपराधों की है, जो आज वास्तव में अपराध या विचलन नहीं माने जाते। उस युग में ब्राह्मण से यही अपेक्षा की जाती थी कि वह अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन से ही अपनी जीविका चलाये, किन्तु जो ब्राह्मण इसके विपरीत अन्य वर्णों के लिए नियोजित व्यवसायों से अपनी जीविका उपार्जित करने लगते थे, उनके लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

अष्टम अनुवाक में रसादि-विक्रय, अश्वादि-प्रतिग्रह, अदत्त कन्या के साथ विवाह, गवादि-अभिघात सम्बन्धी अपराधों की प्रायश्चित्त-विधि दी गई है। इन सभी में प्रायश्चित्त स्वरूप प्रायः कृच्छ्रानुष्ठान और विभिन्न सामों का गान विहित है।

निष्कर्ष यह कि इन चारों अनुवाकों में सामान्य व्यवहारगत, आर्थिक और यौन सम्बन्धी अपराधों के सन्दर्भ में प्रायश्चित्त-विधान है।

कुछ ऐसी स्थितियों में भी प्रायश्चित्त-विधान प्राप्त होता है, जो वस्तुतः अपराधकोटि में नहीं आतीं; जैसे दुःस्वप्न-दर्शन, अक्षि-स्पन्दन, गृह-दाह, मूषकों के द्वारा अन्न-भक्षण, कूर्चनाश, गृहगत उपकरण-विनाश और पुत्र-भृत्यादि का कष्ट पाना।[1]

इस प्रकार के प्रसंगों में मनुष्य प्रायः विवश होता है; तथापि ब्राह्मणकार के द्वारा प्रायश्चित्त-विधान संभवतः अदृष्टजन्य अमंगल की आशंका और उसके निवारण की भावना से किया गया है।

1. सामवि० ब्रा० 1.8.7-13

सामविधानब्राह्मणगत काम्यकर्म

प्रकृत ब्राह्मण के द्वितीय और तृतीय प्रपाठकों में विभिन्न काम्यकर्मों का विधान है। इनके अनुष्ठानोल्लेख से पूर्व यह कह दिया गया है कि जहाँ कोई विशिष्ट निर्देश न हो, वहाँ त्रिरात्र उपवास करणीय है और कृत्यारम्भ पुष्य नक्षत्र से होना चाहिए।[1]

द्वितीय प्रपाठक के प्रथम अनुवाक में बहुपरिग्रह और बहुयाजन विषयक शुद्धि कर्म प्रायश्चित्त-प्रकरण में भी आये हैं, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रायश्चित्त जहाँ आवश्यक है, वहीं काम्यकर्म स्वेच्छागत हैं। आवश्यकता से अधिक दान लेना अथवा अधिक संख्या में यज्ञ कराने वाला यदि अपने अन्तःकरण में ग्लानि और दौर्बल्य की अनुभूति कर रहा हो, तो वह निर्दिष्ट सामों के अनुष्ठान से दौर्बल्य को दूर कर सकता है। यों उस पर एतदर्थ कोई सामाजिक बाध्यता नहीं है।

काम्य-कर्मों में सर्वप्रथम आयुष्यवर्धक प्रयोग दिये गए हैं, क्योंकि दीर्घायु के अभाव में कोई भी यागानुष्ठान सम्पन्न नहीं हो सकता।[2]

द्वितीय अनुवाक में तीन काम्य-कर्म उल्लिखित हैं—बालमृत्युनिवारणार्थ, राक्षसों के द्वारा गृहीत होने पर शान्त्यर्थ तथा रोग-शमनार्थ। इनकी अनुष्ठान-विधियों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि गाँव-गाँव और घर-घर में फैले लोक-विश्वासों तथा टोना-टोटकों को एकत्र कर और उनके साथ विभिन्न सामों का पुट देकर इन्हें प्रस्तुत किया गया है। लोकतत्त्व की दृष्टि से इन लोकविश्वासों तथा टोटकों का अनुशीलन अत्यन्त रोचक है। इन काम्यकर्मों में अभिचार का सम्मिश्रण स्वभावतः है।

यों तो विश्व के सभी धर्मों में अभिचार किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है और इसे आदिम विज्ञान की मान्यता भी प्राप्त है; किन्तु वैदिक वाङ्मय में प्राप्त अभिचारयागों को जनजातियों के धार्मिक विश्वासों, जीव[3] और जीवीवादों[4] अथवा मानवविज्ञान के बने-बनाये चौखटों के आधार पर नहीं समझा जा सकता। प्रो॰ कीथ, विण्टरनित्स प्रभृति ने नैतिकता की दृष्टि से इसे पतन की कोटि में रखा है,[5] किन्तु प्रायश्चित्त-विधान और काम्यकर्मों में भी सत्य-भाषणादि की

---

1. सामवि॰ ब्रा॰ 2.1.1   2. वही 2.1.1

3. Animism,   4. Animatism

5. वैदिक धर्म एवं दर्शन (द्वितीय भाग), अनु॰—डॉ॰ सूर्यकान्त, पृष्ठ 470 से 495

अनिवार्यता देखकर[1] उपर्युक्त विद्वानों का अभिमत तथ्यपरक नहीं प्रतीत होता। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि किसी भी काल-खण्ड में और किसी समाज में सभी व्यक्तियों का मानसिक स्तर एक ही नहीं होता, उनकी आशा-आकांक्षाएँ भी एक नहीं होतीं और न ही उन कामनाओं को साकार करने के साधन ही एक होते हैं। सामबिधान ब्राह्मण के इन अभिचारमिश्रित अनुष्ठानों में केवल विशिष्ट वर्ग के समानान्तर चल रही जनसामान्य की आस्थाओं और विश्वासों को भी समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है।

इन अनुष्ठानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

बाल-मृत्यु निवारणार्थ :

यह अनुष्ठान उस स्त्री के द्वारा अनुष्ठेय है, जिसके पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् जीवित न रहते हों। इसमें गर्भ के तीसरे मास न्यग्रोधशुङ्ग और शरकण्डे के मूल को उखाड़ पीस कर तीन पर्वों वाली मणि बनाई जाती है। तत्पश्चात् व्याहृति-होम होता है। विहित सामविशेष से मणि पर भी आहुति डाली जाती है। गर्भिणी इसे अपनी मेखला में पहने तथा नवजात शिशु के कण्ठ में बाँध दे।

राक्षसों से मुक्ति-हेतु :

इसमें राक्षस-ग्रस्त व्यक्ति के निमित्त अशनि-आहत वृक्ष की लकड़ी, श्वेतवर्णीय गाय के घी और बिल्ववृक्ष की मणि से पूर्ववत् मणि बनाने, होम करने और विशिष्ट सामों के गान का निर्देश है।

रोग-शान्ति-हेतु :

विशेष सामों से कुम्भगत घी से होम करने, हुत शेष घी के खाने आदि का विधान है।

सर्प-भय से मुक्ति-हेतु :

पूर्ववत् शंखपुष्पी और सर्पगन्धा से मणि-निर्माण, होम और विशेष साम विहित हैं।[2] शस्त्र-भय से मुक्ति, बह्वन्न-प्राप्ति, पिपासा से बचने, जल में डूबने से संभावित मृत्यु से बचने, यक्ष्मा और विष के प्रभाव को समाप्त करने, सर्वत्र क्षेम-कामना तथा स्वस्त्ययन के हेतु भी उपर्युक्त प्रकार से विशेष सामों का विधान किया गया है।[3]

वार्धक्य और मृत्यु पर विजय पाने के निमित्त सामविशेष के गान-विधान के अतिरिक्त मास भर वन-वास तथा तन्तु-निर्मित वस्त्र न पहनने का निर्देश है।[4]

1. सामवि० ब्रा० 1.2.7—'सत्यं वदेत्' इत्यादि।
2. सामबि० ब्रा० 2.3.2 3. वही 2 3.3-7 4. वही 2.4.4

आभिचारिक प्रयोग

वशीकरणजन्य प्रयोग :

सामवि० ब्रा० ने एक पुरुष अथवा स्त्री को वश में करने, सम्पूर्ण कुटुम्ब को वश में करने, सौभाग्य-कामनाजन्य, वेश्याओं और संन्यासिनियों को वश में करने तथा कन्या के लिए वरलाभार्थं अनेक विलक्षण कृत्यों का विधान किया है।[1] उनमें से कतिपय ये हैं—जिस स्त्री को वश में करना हो, उसकी मिट्टी से प्रतिमा बनाकर, प्राण-प्रतिष्ठा करके, उस पर पैर रखकर निर्दिष्ट विशिष्ट साम का जप विहित है।[2] दूसरा प्रयोग इस प्रकार है—कृष्णवर्ण के व्रीहि, जिसकी भूसी नाखूनों से निकाली गई हो, को पीसकर साध्य स्त्री की मूर्ति बनाये, उसमें स्वेदन एवं सरसों का तेल लेपकर, लोहे के छुरे से उसके हृदयातिरिक्त अंगों को काट-काट कर सामविशेष पढ़कर आहुतियाँ देने तथा हुतशेष के भक्षण से वह स्त्री वश में हो जाती है।[3] वेश्याओं और संन्यासिनियों को वश में करने के लिए[4] खिले हुए कमल की कलिका में प्रियंगु के बीज डालकर, कमल के बन्द होने पर, उसे उखाड़ ले, दो ओर से उसे फाड़कर उसकी कर्णिका को निकालकर विहित साम में अनुलेपन करने पर पूर्वोक्त युवतियाँ वश में हो जाती हैं।[5]

शत्रु-उच्चाटनार्थक प्रयोग :

एतदर्थं तीन दिन उपवास करके जलती हुई चिता से अंगारे लाकर, चौराहे पर कांटेदार लकड़ियों पर मत्स्य और कृकर पक्षियों की आहुतियाँ सामविशेष से देने तथा तदन्तर दग्ध मत्स्य और कृकर को पत्रपुट में रखकर, उसमें हरिताल-मिश्रित गो-हृदय का शोणित मिलाने और उसे शत्रु के घर में बिखेर देने का विधान है।[6]

यश, ब्रह्मवर्चस् तथा स्मरणशक्ति-वृद्धि-हेतु[7] :

स्मरण-शक्ति के सन्दर्भ में श्रुतनिगादित्व शब्द का प्रयोग है। 'श्रुतनिगादी' ऐसे व्यक्ति को कहा गया है, जो किसी मन्त्र को एक बार सुनकर उसका पाठ करने लगे। उपर्युक्त प्रयोजनों की पूर्ति के लिए विभिन्न सामों के अतिरिक्त अनेक परम्परागत काष्ठ और प्राणिज औषधियों का अनुपान-वैबिध्यपूर्वक विधान किया गया है। यश की प्राप्ति-हेतु प्रियंगु के बीजों का होम और उसकी भस्म का वर्षान्त अनुलेपन विहित है। स्मरणशक्ति में वृद्धि के निमित्त ब्राह्मी बूटी का सेवन विहित

---

1. सामवि० ब्रा० 2.5
2. वही 2.5.1
3. वही
4. वही 2.6.4
5. अन्य टोटके मूल ग्रन्थ में ही द्रष्टव्य है।
6. सामवि० ब्रा० 2.6.6
7. वही 2.6.7; 2.7

करने के अतिरिक्त अन्नप्राशन से पूर्व भारद्वाज पक्षी की जिह्वा को उखाड़-पीसकर घृत-मधु से चटाने का भी विधान है। भारद्वाज पक्षी के मांस को अन्नप्राशन के प्रसंग में चटाने की विधि पारस्करगृह्यसूत्र में भी है। इस सन्दर्भ में सामवि० ब्राह्मण में हल्दी और वच के चूर्ण भी स्मरण-शक्तिवर्धक बतलाये गये हैं।

धान्यादि समृद्धि-हेतु :

तद्विषयक विभिन्न प्रयोग तृतीय प्रपाठक के तृतीय खण्ड में प्राप्य हैं। विभिन्न सामों के गान के अतिरिक्त सत्य-संभाषणादि नियम व्यक्ति को समृद्धि की ओर अग्रसर करने में निःसन्देह समर्थ हैं। इस प्रसंग में जो प्रयोग सामान्य परम्परा से भिन्न हैं उनमें से एक में मणिभद्र यक्ष के निमित्त क्रमशः अज और वराह, कुक्कुर और मत्स्य-मांस के समर्पण की विधि।[2]

वास्तु-शान्ति :

इसका अभिप्राय है भूमिगत राक्षसादि का निवारण। वास्तु की प्रत्येक दिशा को रज्जु से आवृत कर, सभी कोनों को गोमयोदक से लीपकर, शमी, पलाश और बिल्व–पत्रों तथा अक्षतों को बिखेर देना चाहिए। सामविशेष से पायसाहुति-होम और बलि-समर्पण (प्रजापति, इन्द्र, वायु, यम, पितृगण, वरुण, महाराज,सोम महेन्द्र तथा वासुकि प्रभृति के निमित्त) भी इसमें विहित है।[3]

अदृष्टदर्शनार्थक प्रयोग :

अदृश्य विषयों के दर्शनार्थ अनेक प्रयोगों में से कुछ ये हैं–(1) स्वप्नविषयक— सम्मार्जनी के निकट से 'संकरवासिनी' नाम्नी देवी का आह्वान सूप में पुष्प-धूपादि रखकर करे, सूप को सिरहाने रखकर विहित सामविशेष का गानकर चुपचाप सो जाये; रात्रि में भाविफल सूचक स्वप्न दिखाई देता है।

(2) विषगुलिका को सम्पुट में रख; अक्षतादि से उसकी अर्चना करने, सामविशेष का गान कर सो जाने पर दिदृक्षित वस्तु के दर्शन हो जाते हैं।

(3) रजोदर्शन रहित कन्या को तथा दर्पण को मन्त्रविशेष से अभिमन्त्रित कर रात्रि में अपने पास रखने; प्रातः उसी मन्त्र की शतावृत्ति करने के पश्चात् कन्या से दर्पण में देखने के लिए कहा जाये-ऐसी कन्या से जो भी पूछा जाये, ठीक-ठीक बतला देती है।

(4) दीर्घ जीवन के परिज्ञान-हेतु विभिन्न अंगारराशियों को मानवी स्त्रियों के स्तन्यदुग्ध से तैयार नवनीत से प्रज्ज्वलित करने पर जो अंगारराशि सबसे बाद

1. सामवि० ब्रा० 3.1
2. वही 3.3.3-4
3. वही 3.3.2-3

में बुझे, उसे दीर्घायु समझना चाहिए। इसी आधार पर सभी के जीवन का पौर्वापर्य निश्चित किया जा सकता है।

ऐसे ही अन्य अनेक टोटके अज्ञात-ज्ञान के सन्दर्भ में उल्लिखित हैं।[1]

राजाभिषेक :

सायण के अनुसार यह कृत्य पुरोहित-कर्तृक है। अभिषेक के साधनभूत द्रव्यों में व्रीहि, यव, तिल माष, दधि, मधु, पुष्प, स्वर्णखण्ड, पवित्र नदियों तथा समुद्र से पृथकशः समानीत जल हैं। उदुम्बरनिर्मित सिंहासन पर बिछे व्याघ्र-चर्म पर समासीन राजपदाभिलाषी व्यक्ति का अभिषेक जीवित गायों के शृङ्गकोश से विहित है। गेय साम रहस्य है। ग्राम, दासियाँ आदि पुरोहित को दक्षिणास्वरूप दी जाती हैं।[2]

अद्भुत एवं अभिचार शान्ति :[3]

इस सन्दर्भ में सामविशेषों से साध्य होमादि विहित हैं। 'प्रदैवोदास' साम से कृष्णतिलों की अग्नि में आहुति डालने पर आभिचारिक रूप से प्रयुक्त कृत्यादि प्रयोक्ता के पास ही लौट जाती है।

सङ्ग्राम-जयार्थी राजा के निमित्त विभिन्न प्रयोग :[4]

ये सभी पुरोहित-कर्तृक हैं। विभिन्न मन्त्रों से होम का विधान है। युद्धार्थ प्रस्थान करते समय राजा को सन्नद्ध करने, उसके रथ-योजन एवं रथारोहण के निमित्त भी विभिन्न साम विहित है। प्रयोगान्तरों में गोघृत से होम, कांटेदार एवं महासार वृक्ष की शाखाओं से होम का विधान है। शत्रु के चतुरंग बल के विनाशार्थ गोधूम-चूर्ण की प्रतिकृति बनाकर उस पर सरसों के तेल का लेपन कर छुरे से अंगों के काटने की प्रक्रिया दी हुई हैं। शत्रु विशेष के वध के लिए द्वितीय प्रपाठकगत उच्चाटन प्रयोग की आवृत्ति कर दी गई है। अन्तर केवल यह है कि यहाँ मत्स्य एवं कुकर के स्थान पर सर्षप तेल से एक सहस्र आहुतियाँ डालने का विधान है। होम के अन्त में एक पुरुष हाथ में त्रिशूल लेकर खड़ा होता है, उससे व्यक्ति-विशेष को मारने के लिए कहा जाता है।

पिशाच वशीकरणार्थक प्रयोग[5] :

पिशाचों को अपने वश में करने का इच्छुक व्यक्ति एक वर्ष तक चतुर्थ काल में ही भोजन करे, कपाल में भिक्षा मांगे, विहित सामविशेष की आवृत्ति करे।

---

1. सामवि० ब्रा० 3.4
2. वही 3.5.1
3. वही 3.5.3-4
4. सामवि० ब्रा० 3.6
5. वही 3.7

उपर्युक्त प्रयोग का ही अयाचितव्रतपूर्वक अनुष्ठान करने से पितृदर्शन तथा चतुर्थ काल के स्थान पर अष्टकाल में भोजन करने से गन्धर्वों और अप्सराओं के दर्शन होते हैं ।[1] देव-दर्शन का भी यह माध्यम है ।

भूतवशीकरणलभ्य धनार्थ प्रयोग :

सप्तमी से चतुर्दशी तक 8 दिन उपवास करके अमावास्या के दिन मुख में आज्य रखकर सामविशेष का मानस जप करने और आज्यहोम करने से दो भूत दिखलाई देते हैं, वे अनुष्ठाता को पाँच कार्षापण देते हैं; उन्हें व्यय करने से वे फिर लौट आते है ।[2]

गोशाला में प्रवेश करती हुई गायों में से जो गाय पीछे रह जाये, उसके शिर से पूँछ तक सभी अंगों को परिमार्जित करने और बिना हिले-डुले पूरी रात गोशाला में खड़े रहने से जम्भक नामक भूत विशेषों के वश में हो जाने का उल्लेख हैं जो अनुष्ठाताओं की सभी कामनाओं को पूर्ण करते हैं ।[3]

पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए रात्रि-उपासना[4] :

जो व्यक्ति चाहे कि उसका पुनर्जन्म न हो, वह रात्रि की उपासना करे । विहित मन्त्र का अर्थ है-'मैं पुनः पुनः अर्थात् प्रतिदिन आविर्भूत होने वाली, सुख-प्रदा रात्रि देवी की शरण आया हूँ वह मुझे विभिन्न सामर्थ्यों से युक्त करे ।' रात्रि उस उपासक से इस प्रकार कहती है—'तुम अमुक अयन अमुक ऋतु, अमुक मास, अमुक पक्ष, अमुक द्वादशरात्र, अमुक षड्रात्र, अमुक द्विरात्र, अमुक अहोरात्र, अमुक दिन अमुक वेला और अमुक मुहूर्त में मरोगे । तुम यथाभिलषित स्वर्ग, देव, ब्रह्म या क्षत्रलोक में जाओ; वहां उत्कृष्ट ब्राह्मण्यादि योनि में प्रवेश करो ।' उपासक रात्रि के द्वारा कथित इन वचनों का निराकरण कर दे—'मैं प्राणियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण जाति की भी आर्तवयुक्त योनि में प्रवेश नहीं करूँगा, क्योंकि योनि में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति जन्मता है, मरता है, और देहान्तर से सम्बद्ध होता है । इसलिए हे रात्रि देवि ! मेरे लिए पुरातन, स्वर्गादि से विलक्षण, अर्चिमार्ग से प्राप्य तथा कर्मफलोप-भोग से बहिर्भूत ब्रह्मलोक में स्थान प्रदान करो, जिससे पुनः जन्म न हो ।' यह रात्रि व्रत रात्रिमें ही अनुष्ठेय है ।

स्वेच्छा से लोकान्तरगमनकामी के निमित्त प्रयोग[5] :

यह अनुष्ठान चार मासों में अनुष्ठेय है । इसकी प्रक्रिया यों हैं—तीन मास गायों के पीछे भ्रमण—इस अवधि में मात्र दुग्धाहार ग्राह्य है । चतुर्थमास में अरण्य

---

1. वही 3.7.3-4
2. वही 3.7.5
3. सामवि० ब्रा० 3.7.5
4. वही 3.8
5. वही 3 9

के किसी पावन स्थान पर तृणकुटी बनाकर आचमनार्थ कमण्डलु में जल लेकर स्नान, भोजन और जल-पान बिना किये हुए विहित साम की प्रतिदिन सहस्रावृत्ति करने पर यदि देव-देवियों के दर्शन हो, तब व्रत को सफल समझना चाहिए। इस व्रत से अनुष्ठाता के लिए देव-गन्धर्वादि की सिद्धि और अन्तरिक्ष-विचरण की सामर्थ्य सिद्ध हो जाती है। स्वर्गादि लोकों के द्वार उसके लिए अनायास अनावृत्त हो जाते हैं। इस प्रयोग के साथ एक अन्य सामविशेष की आवृत्ति से साधक 'मनोजवा' हो जाता है।

मानुषादि भोगों की प्राप्ति [1]:

शुक्ल पक्षगत दिनों में उपवास, स्नान, श्वेतवस्त्र-धारण और चन्दन लेपन करके निर्दिष्ट सामों की सहस्र आवृत्ति से देव और मानुष भोग सुलभ हो जाते हैं।

त्रैलोक्याधिपतित्व-प्राप्ति [2] :

एक मास उपवास और मास भर अयाचित भोजन का क्रम चार वर्षों तक अपनाने और सामविशेष की आवृत्ति से व्यक्ति त्रैलोक्य का स्वामित्व प्राप्त कर लेते हैं।

सामविधानगत उपर्युक्त अनुष्ठानों का विश्लेषण :

सामवि० ब्रा० की उपर्युक्त सामग्री का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि–

(1) इसका मुख्य प्रयोजन जनसामान्य की सर्वविध आकांक्षाओं के साथ साम-गान को सम्बद्ध कर उसे लोकप्रिय बनाना है।

(2) इस भ्रम का अपनयन भी सामविधानकार का उद्दिष्ट प्रतीत होता है कि साम-गान मूलतः सोमयागों से ही सम्बद्ध हैं, जो बहुकाल और बहुव्ययसाध्य याग हैं और जिनका अनुष्ठान केवल सम्राट्, सामन्त और समृद्ध ही कर सकते हैं।

(3) सामवि० ब्रा० में अधिकांश साम पूर्वगान से विहित हैं, जो छन्दोगों के दैनिक स्वाध्याय से सम्बद्ध रहा है।

(4) उपासना और अतिमानवीय सिद्धियों के सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न प्रयोग साधकों के मध्य गुरुपरम्परा से मौखिक रूपेण प्रचलित पद्धतियों से चुने गये प्रतीत होते हैं।

(5) विहित औषधियाँ भी परम्परा से जन-जीवन में प्रचलित रही हैं।

(6) सामविधानगत अनेक साधनाओं में प्रतीत होता है, परवर्ती काल में वाममार्गी तांत्रिक प्रणाली की भी कतिपय साधनाएँ सम्मिलित हो गई।

---

1. सामवि० ब्रा० 3.9.3 2. वही 3.9.5

(7) अभिजात और सामान्य जन के मध्य सामविधान ब्राह्मण सेतु के सदृश हैं। उन व्यक्तियों को, जो अपने भौतिक और पारमार्थिक जीवन को विकसित करने के लिए बड़े यागों का अनुष्ठान नहीं कर कर सकते थे, सामवि० ब्रा० ने साम-साधना की व्ययशून्य पद्धति देकर जन-जीवन की धार्मिक निष्ठा को सार्थक सम्बल प्रदान किया है।

(8) लोक-जीवन के विभिन्न अंचलों में प्रचलित कतिपय टोटकों को निःसंदेह इसमें स्थान मिला है, किन्तु नैतिकता के स्तर को गिरने नहीं दिया गया है। विभिन्न टोटकों के विधान के साथ ही आचरगत नियमों का विधान केवल टोटकों में फँसे व्यक्तियों की आत्मचेतना को परिष्कृत करने के लिए ही है।

(9) अन्त में कहा जा सकता है कि महार्घ कर्मकाण्ड के स्थान पर शनैःशनैः बद्धमूल होते जा रहे स्वाध्याय, ज्ञान और जप-यज्ञों की प्रतिष्ठा की दिशा में सामविधान ब्राह्मण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयत्न को रेखाङ्कित करता है।

सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त यज्ञ-विधान का विश्लेषण और विवेचन

उपर्युक्त शताधिक पृष्ठों में ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में विहित विस्तृत यज्ञ-विधान का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयोजन ऋत्विकों के निमित्त किसी यज्ञ-पद्धति का प्रस्तुतीकरण नहीं है। इस विवरण के आधार पर किसी याग का यथावत् सम्पादन भी नहीं कराया जा सकता है। इसका तात्त्विक उद्देश्य सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित यज्ञ-संस्था के विभिन्न अंगों का आलोचनात्मक दृष्टि से परिचय मात्र प्रस्तुत करना है।

प्रकृत परिचयात्मक सामग्री से यह अनुभव सरलता से हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने सोमयागों की विस्तृत एवं जटिल संरचना के उपादानमूलक तथ्यों का प्रस्तवन पूर्ण तत्परता एवं सजगता से किया है।

यज्ञ-योजना वस्तुतः मानव-जीवन एवं प्रकृति की अविकल समानान्तरता को उपलक्षित करती है। यज्ञ जीवन के विभिन्न व्यापारों एवं कार्य-कलापों के साथ-साथ चलता हुआ एक समानान्तर सृष्टि रूप व्यापार प्रतीत होता हैं। हमारे इस जागतिक जीवन के स्वप्न, आकांक्षाएँ और कामनाएँ ही यागानुष्ठान के प्रयोजन-रूप में अन्वित हुई हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थकारों ने यज्ञ के देवता, द्रव्य, मन्त्र और अन्य सभी तथ्यों की मानव-जीवन से यथातथ्य समरूपता प्रदर्शित करने का ही प्रयत्न किया है। यागानुष्ठान के माध्यम से निरन्तर हम अपने स्वरूप के ही निकट होते जाते हैं और यज्ञ के समानान्तर संसार तथा मानव-जीवन के मध्य पूर्ण समरसता ही हमारा उद्दिष्ट है—यह तथ्य यज्ञों की विधि-वर्णना के समय ब्राह्मण-ग्रन्थकारों के मन में सदैव निहित रहता है। उदाहरण के लिए एक स्तोत्रिया के

औचित्य का प्रदर्शन करते हुए कहा गया है कि 'पवस्व वाचो अग्निय' ऋचा में आये 'पवस्व' और 'वाक्' क्रमशः पुरुष और स्त्री रूप हैं।[1] अतएव यह स्तोत्रिया मिथुनभाव को प्रशस्त करने वाली है। मिथुनभाव ही सृष्टि का मूल है। सम्पूर्ण मानव-संस्कृति, अन्धकार से आलोक की दिशा में अग्रसर होने की कथा है। दिवाकीर्त्य साम के सन्दर्भ में स्वर्भानु की आख्यायिका से ताण्ड्यकार ने भी उसी आलोक के प्रति स्पृहा व्यक्त की है।[2] एक याग में अभिप्लवषडहों के प्रतिलोम-क्रम से अनुष्ठान का औचित्य-निरूपण करते हुए ब्राह्मणकार का कथन है कि जैसे लोक में ऊँचे वृक्ष पर मूलभाग से ही चढ़ा जाता है, तद्वत् याग में भी पहले आरोहण-क्रम अपनाया जाता है, तदनन्तर अवरोहक्रम।[3] हिङ्कारादि की मानसिक कर्त्तव्यता के प्रसंग में ब्राह्मणकार लोक-प्रामाण्य ही देता है—लोक में भी जो वाणी नहीं कह पाती, वह मौन कह देता है—'यद्वै वाचा न समाप्नुवन्ति मनसा तत्समापयन्ति।'[4] स्तोमों और छन्दों को भी वर्णव्यवस्था से सम्बद्ध कर दिया गया है। जैसे लोक में एक ही कार्य को बार-बार करना अप्रिय प्रतीत होता है, वैसे ही एक ही स्तोत्रीय ऋचा की पौनः पुन्येन याग में आवृत्ति अप्रशस्त बतलाई गई है।[5]

उन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर्गादिलोकों में पहुँचने का भव्य स्वप्न सँजोया गया है,[6] विभिन्न सुखों और कामना-पूर्तियों का आकर्षक चित्र है, यागानुष्ठानजन्य उपलब्धियों का रंगीन संसार है, किन्तु इन सबका मूल आधार भूतल पर स्थित मानव-जीवन ही है। उसी जीवन को उन्नत, उदात्त और भव्य बनाने के लिए कर्मानुष्ठान की सुदृढ़ आधार-भित्ति पर यज्ञ के विराट् स्वरूप की सँरचना ब्राह्मणग्रन्थों ने प्रस्तुत की है। याज्ञिक विधियों के साथ अर्थवादों की योजना हमारे दैनन्दिन जीवन के सामान्य व्यवहारों के प्रसंग में ही प्रायः की गई है।[7]

यज्ञ से ही देवों ने देवत्व की प्राप्ति की तथा स्वर्ग पर अधिकार किया—

'एतेन वै देवा एषु लोकेष्वाध्नुवन् एतेन स्वर्गं लोकमायन्।'

---

1. तां० ब्रा० 4.2.13
2. वही 4.6.13
3. वही—यथा वा इतो वृक्षं रोहन्ति एवमेनं प्रत्यवरोहन्ति स्वर्गमेव तल्लोकं रुद्वास्मिल्लोके प्रतितिष्ठन्ति। (4.8.10)
4. वही 4.9.10
5. तां० ब्रा० 6.8.9
6. तां० ब्रा० 20.15.1; तथा 23.19.2 इत्यादि
7. V. M. Apte, The Vedic Age, Page 447 (Fourth Impression).

एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में यज्ञ-संस्था का प्रस्तुतीकरण इन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। ताण्ड्यादिगत यज्ञ-भावना की सम्यक् अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि 'यज्ञ केवल हवि का प्रक्षेपमात्र नहीं है। इसका प्रयोजन विश्व की परम शान्ति और सौख्य का सम्पादन है। विश्व में मानवों तथा देवों के बीच परस्पर कल्याण के साधन का सेतु यज्ञ ही है। यज्ञ व्यक्ति तथा समाज दोनों के कल्याण का माध्यम है। अभिप्राय यह कि यज्ञ-संस्था सामाजिक तथा वैयक्तिक उभय प्रकार की उन्नति की निमित्त है।'

यज्ञ के द्रव्यमयरूप के स्थान पर शनैः शनैः जिस आत्मयज्ञात्मक रूप का वर्णन छान्दोग्योपनिषदादि में है, उसके बीज तां० ब्रा० में ही दिखलाई दे जाते हैं। सहस्रसंवत्सरसाध्य विश्वसृजामयन याग में,[1] प्रतीकात्मकता और मानवीकरण के माध्यम से आत्मयज्ञ की ही वस्तुतः उद्भावना की गई है। इस यज्ञ में तपस्या, ब्रह्म, इरा, अमृत, भूतकाल, भविष्यत्काल, ऋतुओं, आर्तव वस्तुओं, सत्य, ऋत, ओज, कान्ति, यश, ऐश्वर्य (भग), ऊर्जा, वाक्, प्राण, दिष्टि (आन्तरिक श्वसन), बल, आशा, अहोरात्र और मृत्यु ने विभिन्न ऋत्विकों और द्रव्यों का स्थान ग्रहण कर यज्ञ-सम्पादन किया। आशा को हविष्य बतला कर जीवन की यज्ञरूपता का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया गया है। इसी आशा के आधार से मानव-जीवन सहस्रों वर्षों से गतिमान है।

जीवन की इसी गतिशीलता का नाम यज्ञ है, जैसा कि छा० उप० में अभ्युक्त है[2]—यह जो चलता है, निश्चय ही यज्ञ है, चलते हुए ही यह इस जगत् को पवित्र कर देता है—'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते, एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति।'

इसी उपनिषद् में आगे पुरुष के जीवन को अत्यन्त प्रभावोत्पादक शब्दों में यज्ञस्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि जीवन के आरम्भिक 24 वर्ष प्रातः सवन, आयु का द्वितीय भाग माध्यन्दिनसवन तथा तृतीय भाग (48 वर्षों तक) तृतीय सवन है।[3]

निःसन्देह अध्यवसायात्मक मानव-जीवन क्रतुमय ही है—'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः।'[4]

सामवि० ब्राह्मण तक आते-आते यज्ञ का स्थूल रूप विलीन होता गया है और स्वाध्याय तथा तप उसका स्थान लेते चले गये—'कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम

---

1. ता० ब्रा० 25.18.2
2. छा० उप० 4.16.1
3. वही 3.16.1-7
4. वही 3.14.1

इति । तेभ्य एतत् स्वाध्यायाध्ययनं प्रयच्छन्त, तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमेष्यथेति । ताभ्यां स्वर्गं लोकमायन् ।'[1]

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञसंस्था के उदय और विकास की साङ्गोपाङ्ग रूपरेखा समाकलित है । अग्निहोत्र[2] यदि इस संस्था का आरम्भ बिन्दु है, तो विश्वसृजामयन पराकाष्ठा है । वस्तुतः सामवेद की सम्पूर्ण योजना ही यज्ञात्मक दृष्टि से हुई है, अतएव उसके ब्राह्मणग्रन्थों में उसके विभिन्न सोपानों का यथातथ्य चित्रण स्वाभाविक ही है । इसके अतिरिक्त सामों और स्तोमस्तोत्रों का विभिन्न सोमयागों में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म विनियोग है, वह भी अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिका प्रतिभा का परिणाम प्रतीत होता है ।

1. सामवि० ब्रा० 1.1.15 तथा 17
2. जैमि० ब्रा० 1.65

पञ्चम परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित सांस्कृतिक शेवधि

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से पुष्कल सामग्री निहित है।[1] तत्कालीन भारत की भौगोलिक स्थिति और उसके निवासियों के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन तथा जीवन-दर्शन के विषय में इसमें महत्त्वपूर्ण साक्ष्य और संकेत सुलभ होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

ताण्ड्य ब्राह्मणकालीन भारत की भौगोलिक स्थिति और उसके प्रमुख जनपद :

सामान्यतः इस युग को उत्तरवैदिक नाम से अभिहित किया जाता है। सभी मन्त्रसंहिताओं तथा ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों से यह परवर्ती है तथा गोपथ ब्राह्मण से पूर्ववर्ती। सामवेदीय जैमिनीय ब्राह्मण का प्रणयन ऐतरेय से भी पहले हो चुका प्रतीत होता है। पं० शंकर बालकृष्ण दीक्षित के गणना-क्रम[2] को यदि स्वीकार किया जाय तो विक्रम संवत से प्रायः तीन सहस्र वर्ष पूर्व ताण्ड्य ब्राह्मण का रचना-काल निर्धारित किया जा सकता है।

तां० ब्रा० की रचना सरस्वती नदी से गोमती नदी के मध्यवर्ती भूभाग में सम्पन्न हुई जिसके अन्तर्गत प्रमुखतया कुरु-पाञ्चाल जनपद और नैमिषारण्य हैं। ताण्ड्य में सारस्वत सत्रों के अनुष्ठान-स्थल के सन्दर्भ में सरस्वती और दृषद्वती नदियों के विनशन (जहाँ सरस्वती लुप्त हुई) तथा प्लक्षप्रास्रवण (जहाँ उसका पुनराविर्भाव तथाकथित है) का उल्लेख है।[3] विनशन से प्लक्षप्रास्रवण की दूरी अश्वगति से 44 दिनों के मार्ग की थी।[4] यमुना नदी भी उल्लिखित है।[5] जो कारपचु प्रदेश के मध्यवर्ती भाग में प्रवाहित होती थी।

---

1. The Brāhmaṇas of the Sāmaveda contain much matter that is interesting from a historical point of view.
   —A. A. Macdonell.; A History of Sanskrit Literature. p. 178
2. भारतीय ज्योतिष (उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ से प्रकाशित)
3. तां० ब्रा० 25.10.1; 11; 25.10.14
4. वही 25.10.21 तथा जैमि० ब्रा० 4.26
5. वही 24.11.22

कुरुक्षेत्र की विशेष महत्ता निरूपित है—'प्रजापतेर्वेदिय्यावत् कुरुक्षेत्रम् ।'[1] जैमिनीय ब्राह्मण में गंगा का उल्लेख भी है ।[2] इस प्रकार सरस्वती, गंगा और यमुना नदियों की यही अन्तर्वेदी कुरुपाञ्चाल प्रदेशों की भूमि सामवेदीय ब्राह्मणों की रचना-स्थली और यज्ञमयी संस्कृति के उत्कर्ष का केन्द्र रही है । नैमिषारण्य और उसके निवासियों की समृद्धि के सन्दर्भ[3] इस अंचल के भी सांस्कृतिक अवदान के उद्घोषक हैं ।

अपनी सहायक और निकटवर्तिनी नदी दृषद्वती के साथ सरस्वती आर्य-निवास की पूर्व सीमा का अंकन करती रही है ।

वनों में नैमिष के अतिरिक्त खाण्डववन का भी उल्लेख है ।[4]

प्राचीन भारतीय जनपदीय नामों से ही उनके निवासियों की भी पहचान की जाती रही है । जिन प्रमुख स्थानों और उनके निवासियों का सामवेदीय ब्राह्मणों में उल्लेख है, उनका संहत आकलन इस प्रकार है–

(1) कुरु-पञ्चाल (2) मगध (3) महावृष (4) केकय (5) कम्बोज और (6) निषाद ।

भौगोलिक विवरण में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सरस्वती का लुप्त होना है ।[5]

---

1. ता० ब्रा० 25.13.3
2. जैमिनीय ब्राह्मण 3.183
3. तां० ब्रा० 25 6 4
4. वही 25.6.4
5. The disappearance of the Sarasvati referred to in the Panchavimsha Brāhmana (25. 10.4) is an important geographical landmark in this period.

   –A. D. Pusālkar, Āryan Settlements in India.
   (The Vedic Age, page 266).

सरस्वती के लुप्त होने के भौगोलिक कारणों में सिन्धुनदी का पश्चिम की ओर अधिक उन्मुख होना, वनों की कटाई और थार का रेतीला रेगिस्तान मुख्य हैं । सम्प्रति सरस्वती की पहचान थानेश्वर के पश्चिम में बहने वाली 'सरसुती' से की जाती है जो शिवालिक की पहाड़ियों से निकलकर अम्बाला, करनाल और हिसार जिलों को पार करती है । इस सन्दर्भ में विस्तृत अध्ययन के लिए ये ग्रन्थ अवलोकनीय हैं —

(1) The Imperial Gazetteer of India. Vol. XXVI (2) Cunninghum, 'The Ancient Geography of India, (3) S. M. Ali : The problem of Desication of the Ghaggar plan (A paper read in Indian Science Congress, Benaras, 1941) (4) Survey of India.

कुरु-पाञ्चाल : मध्यदेश के नाम से विख्यात इन जनपदों के ब्राह्मण तथा राजन्य अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए विश्रुत थे। यज्ञविषयक विवादों की मीमांसा और गूढ़ औपनिषद दार्शनिक विवेचन का यह केन्द्रबिन्दु रहा है। सम्प्रति यह दिल्ली से नैमिषारण्य तक के जनपदों को समेटने वाला भूभाग माना जा सकता है। प्रो० ए० डी० पुसालकर के अनुसार यहीं की भाषा और उसका उच्चारण–सौष्ठव सम्पूर्ण देश में आदर्श समझे जाते थे।

मगध : ताण्ड्यगत व्रात्यस्तोम यागों के सन्दर्भ में सूत्रकारों ने मगध का उल्लेख किया है।[2] संभवतः व्रात्यों के क्रिया-कलाप का यह मुख्य केन्द्र था। जैमिनीय ब्राह्मण में महाव्रत के सन्दर्भ में यह उल्लिखित है।

महावृष : छान्दोग्योपनिषद् ने महावृष प्रदेश के रैक्वपर्ण ग्रामों तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ने राजा हृतस्वाशय का उल्लेख किया है।[3] इतिहासज्ञों ने इसे उत्तर भारत में स्थित बतलाया है, किन्तु अभी इसकी सम्यक् रीति से पहचान नहीं हो पाई है।

केकय : छान्दोग्य ब्राह्मण के अनुसार केकय नरेश अश्वपति की विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर अनेक तत्त्व-जिज्ञासु उनके समीप अपनी शंकाओं के समाधान-हेतु आया करते थे।[4] उत्तर-पश्चिम में सिन्धु और वितस्ता नदियों के मध्य केकय प्रदेश स्थित था।

कम्बोज : वंश ब्राह्मण में कम्बोज प्रदेशीय आचार्य औपमन्यव का उल्लेख है।[5] कम्बोज प्रदेश की भाषा का सन्दर्भ यास्क ने भी दिया है।[6] इतिहासज्ञों की मान्यता है कि सिन्धु नदी के उत्तर-पश्चिम में यह प्रदेश स्थित था। प्राचीन पारसीक अभिलेखों में 'कम्बुजीय' के नाम से यहाँ के निवासियों का उल्लेख है। इतिहासकार जयचन्द्र ने इसकी पहचान बदख्शां और पामीर से की है जिसका समर्थन डॉ० मोतीचन्द्र ने भी किया है।[7]

---

1. Pusālkar A. D. : The vedic Age, Page 257.
2. व्रात्येभ्यो व्रात्यधनानि ये व्रात्यचर्यायां अविरताः स्युः ब्रह्मबन्धवे वा मागधदेशीयाय इति —लाट्यायन श्रौतसूत्र तथा जैमि० ब्रा० 2.404
3. एते रैक्वपर्णानाम महावृषेषु—छा० उप० 4.2.5 जैमि० उप० ब्रा०–'हृत्स्वाशय आल्लकेयो माहावृषो राजा'—(3.7.3.17)।
4. अश्वपतिर्वै कैकेयः सम्प्रति वैश्वानरमध्येति—छा० उप० 5.11.4
5. काम्बोजश्चौपमन्यवः—वंश ब्राह्मण 1.19
6. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते—निरुक्त 2.1.2
7. Journal of the U.P. Historical Society, Lucknow, XVI, P. 43-6.

निषाद : ताण्ड्य ब्राह्मण में 'निषादेषु' के रूप में इसका उल्लेख है।[1] ये संभवतः अनार्य जातियाँ थीं जो वैदिक व्यवस्था का पालन नहीं करती थीं। रामायण और महाभारत के साक्ष्यों के आधार पर इनका निवास विन्ध्य और सतपुड़ा पहाड़ियों के मध्य बतलाया जाता है।

इस प्रकार ब्राह्मणकालीन सभ्यता और संस्कृति का प्रचार-प्रसार अत्यन्त व्यापक भूभाग में था—जिसके प्रमुख केन्द्र कुरुक्षेत्र[2] और नैमिष आदि थे।

ऋतुएँ एवं वर्षारम्भ : ताण्ड्य में कहीं-कहीं पाँच ऋतुओं का उल्लेख है[3], जिससे प्रतीत होता है कि हेमन्त और शिशिर में विशेष अन्तर नहीं किया जाता था। वसन्त और फाल्गुन को संवत्सर का मुख बतलाया गया है[4], जो उस युग में फाल्गुन से वर्ष आरम्भ होने का द्योतक है।

आर्थिक एवं सामाजिक जीवन :

ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि सामान्यतः सामाजिक जीवन सुसमृद्ध और सुव्यवस्थित था।

ताण्ड्य में एक स्थल पर कहा गया है कि प्रशस्य व्यक्तियों पर पापी अभिक्रमण नहीं करते हैं। दुर्भिक्षादि से पीड़ित होकर कोई जनसमूह दूसरे पर अतिक्रमण नहीं करता है। प्रजा में कोई व्यक्ति किसी अन्य का धनापहरण नहीं करता है। सभी अपने-अपने क्षेत्र में सीमित रहते हैं।[5] इसी प्रकार का कथन छान्दोग्योपनिषद् में राजा अश्वपति का है, जिन्होंने अपने राज्य में तस्करों, मद्यपों, आलसियों, अनाहिताग्निजनों, मूर्खों एवं परस्त्रीगामियों के अस्तित्व का दृढ़ता से निषेध किया है—

> 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
> नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥'[6]

आर्थिक स्थिति : स्वस्थ सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में प्रथम आवश्यकता सुदृढ़ आर्थिक स्थिति होती है। कृषि उस युग में जीविका का मुख्य साधन थी। ताण्ड्य में दो प्रकार की कृषियों का उल्लेख है—अकृष्टपच्या तथा कृष्टपच्या।[7]

---

1. निषादेषु तिस्रो वसति।—तां० ब्रा० 16.6.8-9
2. Sharmā, B.R. : Introduction to Jaiminiyopanishad B.āhanans, Page 28.
3. तां० ब्रा० 4.6.4
4. वही 5.9.7 तथा 6.1.6
5. न श्रेयांसं पापीयानभ्यारोहति। न जनता जनतामभ्येति। नान्योन्यस्य प्रजा आददते यथाक्षेत्रं कल्पन्ते।—तां० ब्रा० 2.1.4
6. छा० उप० 5.11.5
7. तां० ब्रा० 6.9.9

अकृष्टपच्या की उपज के रूप में सायण ने नीवार का उदाहरण दिया है और कृष्ट-पच्याजन्य उपज धान्य कही गई है। 'मत्य' शब्द जुती हुई भूमि को समतल करने वाले कृषि-यन्त्र के लिए व्यवहृत है।[1] काटने की वस्तु में पकड़ने के लिए हत्थे के स्थान पर लगे काष्ठ का नाम 'किष्कु' मिलता है। कुरु और पाञ्चाल जनपदों की भूमि सदैव अत्यन्त समृद्ध रही है। छान्दोग्य में एक बार प्रबल अकाल पड़ने और अन्नाभाव से जन-समूह के पीड़ित होने का भी उल्लेख है।[2] यागों में ब्राह्मणों को अच्छी दक्षिणा देने का विधान सामान्यतः प्रजा की आर्थिक समृद्धि का ही ज्ञापक है।

वर्ण व्यवस्था : मन्त्र-संहिताओं के काल की अपेक्षा ब्राह्मणकाल में वर्ण-व्यवस्था अधिक स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित दिखलाई देती है। वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान और तपोमय जीवन-यापन के कारण ब्राह्मणों की समाज में सर्वोच्च प्रतिष्ठा के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। अध्ययन-अध्यापन और मन्त्र-पाठ तथा सामगान प्रभृति मुखसाध्य कर्म ब्राह्मणों के साथ सम्बद्ध रहे हैं—

"ब्राह्मणो मुखेन वीर्यङ्करोति मुखतो हि सृष्टः।"[3]

सत्य-भाषण करना ब्राह्मणों के सन्दर्भ में एक स्वीकृत तथ्य था, जैसा कि सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका से विदित होता है।[4]

महाव्रत के प्रसंग में शूद्र और आर्यवर्ण के प्रतीकात्मक विवाद में प्राप्य 'आर्यं-वर्णमुज्जापयन्ति'[5] — (आर्य को जिता देते हैं) पर पाश्चात्य विद्वानों ने वस्तुतः समझे बिना ही दोषारोपण किया है। इसका अभिप्राय किसी जातिविशेष की विजय से न होकर विद्वान् और अविद्वान् की कलह में विद्वान् की पक्षधरता से है—इसीलिए ताण्ड्यकार ने 'ब्राह्मणमुज्जापयन्ति' न कहकर 'आर्यवर्णमुज्जापयन्ति' कहा है।

क्षत्रियों और ब्राह्मणों के मध्य सद्भाव और सौहार्द का सम्बन्ध प्रतीत होता है, अन्यथा इतने बड़े-बड़े यागों का सम्पादन ही असंभव था। ताण्ड्य से विदित होता है कि क्षत्रिय समुदाय मूलतः राज्य-व्यवस्था से सम्बद्ध था और वैश्यवर्ण सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का अनुगामी था— 'ब्रह्मणे चैव क्षत्राय च विशमनुगां करोति।'[6]

---

1. वही 2.9.2
2. छा० उप० 1.10.1
3. तां० ब्रा० 6.1.6
4. नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति।—छा० उप० 4.4.5
5. तां० ब्रा० 5.5.14
6. वही 3.9.2

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणगत सुदक्षिण क्षैमि, जिसे 'शूद्र दुरनूचान' कहकर उसके सतीर्थ्यों ने अपमानित किया था, की आख्यायिका से विदित होता है कि इतनी सुदृढ़ वर्ण-व्यवस्था होने पर भी विद्याध्ययन के सन्दर्भ में गुरुजन ब्राह्मण और अब्राह्मण शिष्यों में भेद-भाव नहीं करते थे। गुरुकुलों में सभी वर्णों, यहाँ तक कि शूद्रवर्ण के विद्यार्थियों को भी उदारतापूर्वक विद्या-सम्प्रदान किया जाता था।[1] सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका से भी इसकी पुष्टि होती है।

जहाँ तक वर्ण-व्यवस्था की दृढ़ता का प्रश्न है, वह अपने स्थान पर इतनी व्यापक थी कि छन्दों और स्तोमो तक के वर्ण निर्धारित कर दिये गये दिखते हैं।

शिक्षा-प्रणाली : सामवेदीय ब्राह्मणों के रचना-युग में शिक्षा का सर्वोपरि महत्त्व प्रतीत होता है। अध्ययन न करना ब्रह्मबन्धुता का कारण बतलाया गया है।[2] छान्दोग्योपनिषद् से ज्ञात होता है कि अध्ययन के विषयों में चारों वेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र (वाकोवाक्य), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या; नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, (गारुडमन्त्रशास्त्र) और देवजनविद्या (नृत्य-संगीतादि) मुख्य थे।[3] षड्विंश ब्राह्मण में वेद का कार्य और अनुष्ठानविधि-ज्ञानपूर्वक अनुशीलन प्रशंसनीय कहा गया है।[4]

अध्ययन का स्थान प्रमुख रूप से आचार्य-कुल था। छान्दोग्योपनिषद् ने विद्यार्थी के लिए 'आचार्यकुलवासी' शब्द का प्रयोग किया है।[5] श्रेष्ठ आचार्य के सम्पर्क में ही मनुष्य सच्चे अर्थों में ज्ञान प्राप्त कर सकता था, जैसा कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'—प्रभृति वाक्यों से विदित होता है।[6] एक अन्य स्थल पर उल्लिखित है कि आचार्य से ग्रहण की गई विद्या ही परमकल्याणकारिणी होती है—'आचार्यात् हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति।'[7]

---

1. Sharmā, B. R.—'This shows there was no injunction of a non-dwija being admitted in the fold of twice-born at the time when this Brāhmana was composed provided the student had mental and intellectual equipments for the study of the vedas.—Jaiminiya Upanishad Brāhmana Intro., Page 25.

2. छा० उप० 6.1.1 3. वही 7.1.2

4. षड्० ब्रा० 1.3.16 5. छा० उप० 2.23.1

6. वही 6.14.2 7. वही 4.9.3

सामान्यतः 12 वर्ष की अवस्था में उपनयन के अनन्तर 24 वर्ष की अवस्था तक सभी वेदों का अध्ययन सम्पन्न हो जाता था।[1]

आचार्य-कुल के अतिरिक्त समय-समय पर राजाओं के द्वारा आहूत विद्वत्सम्मेलनों का भी उल्लेख प्राप्त होता है; इन्हें 'समिति' कहा गया है। छान्दोग्य में ऐसी पाञ्चाल-समिति उल्लिखित है।[2]

अध्ययन के अधिकारियों का निर्णय योग्यता-परीक्षा के अनन्तर ही किया जाता था। संहितोपनिषद् ब्राह्मण ने सामवेद अध्ययन की दृष्टि से अर्ह और अनर्ह का निरूपण करते हुए कहा है कि विद्या-दान-हेतु छः सुपात्र हैं— (1) ब्रह्मचारी—ब्रह्मचर्य विधि से आचार्य-कुल में रहते हुए और आचार्य की आज्ञा के पालक वे शिष्य जो सावित्री से लेकर महानाम्नीपर्यन्त अध्ययन का व्रत निर्वाह करें। (2) धनदायी; (3) मेधावी; (4) श्रोत्रिय; (5) प्रिय और (6) प्रतिग्रहीता- एक गुरु से प्राप्त विद्या दूसरे गुरु को देकर नवीन विद्या सीखने में समर्थ छात्र। इन छः प्रकार के विद्यार्थियों को ज्ञान का तीर्थस्वरूप कहा गया है।[3]

अनर्ह शिष्य वे हैं, जिनमें ज्ञान के पुरस्करण की क्षमता नहीं होती थी। ऐसे अनुर्वर मस्तिष्क वाले छात्रों के लिए ब्राह्मणकार ने 'ऊषर' शब्द का प्रयोग किया है। भले ही विद्या के साथ मर जाना पड़े, किन्तु अयोग्य छात्रों को कदापि ज्ञान-दान नहीं करना चाहिए—'विद्यया सार्द्धं म्रियेत्। न विद्यामूषरे वपेत्।[4]' अन्य अपात्र शिष्यों में अहंकारी हैं, विद्या-दान की दृष्टि से ये भी निषिद्ध है- 'अनर्हते मानिने नैव मादाः'।[5]

गुरु को चाहिए कि वह अयोग्य छात्र से बचे और सत् शिष्य की अवमानना न करे-'सतश्च न विमानयेत्।'[6] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार पिता को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथवा सुयोग्य शिष्य को विद्या-दान करना चाहिए। समुद्रपरिवेष्टित और धन से परिपूर्ण धरा पाने की आशा हो, तो भी अपात्र शिष्य को विद्या नहीं दी जानी चाहिए।[7] इन नियमों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार अनधिकारियों से ज्ञान को संरक्षित रखने की दिशा में अत्यन्त सचेष्ट थे। ब्राह्मण के प्रति विद्या के मुख से स्वयं कहलाया गया है कि मैं तुम्हारी निधि हूँ, तुम मेरी सब प्रकार से सुरक्षा करो—

---

1. छा० उप० 6.1.2
2. वही 5.3.1 तथा 5.11.1-7
3. संहितोपनिषद् ब्राह्मण 3.11
4. वही 3.10
5. वही 3.9
6. वही 3.19
7. छा० उप० 3.11.5-6

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि। त्वं मा पालयस्व।'[1]

विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य बतलाया गया है कि वह श्रवण-रन्ध्रों को पीड़ित किये बिना वेदामृत प्रदान करने वाले गुरु से कभी भी द्रोह न करे और उसे माता-पिता के समान समझे—

'य आतृणोत्यवितथेन कर्णावतृप्तं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत कतमच्चनाह।।'[2]

ये श्रुति-वाक्य संहितोपनिषद् ब्राह्मण से निरुक्त में भी गृहीत हैं, जो इनकी अतिशय लोकमान्यता का द्योतक है।

विद्यार्थी के द्वारा पालनीय अन्य आठ गुणों का भी उल्लेख इसी ब्राह्मण में हुआ है। ये हैं-विक्ति (प्रज्ञा अथवा आचार्य की दक्षिणा), उपस्तव (आचार्य से निवेदन), दम, श्रद्धा, सम्यक् प्रश्न (संप्रश्न), अनाकाशीकरण (प्राप्त विद्या का असत् शिष्य के सम्मुख अप्रकाशीकरण) और आचार्य-शुश्रूषा।[3] पर्णाशनकर्त्ता, पयोभक्षी, वीरासनसेवी, माता-पिता तथा गुरु की सेवा-शुश्रूषा का ध्यान रखने वाले एवं गुरु-दक्षिणा में स्वर्णादि प्रदान करने वाले शिष्यों को विशिष्ट फलों का अधिकारी घोषित किया गया है।[4]

विद्या-दान को अतिदान बतलाया गया—

'त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथिवी सरस्वती।'[5]

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में गुरु-शिष्य से सम्बद्ध एक मानक और आदर्श आचार संहिता प्रस्तुत है, जिसकी अद्यावधि उपादेयता असन्दिग्ध है। उपर्युक्त प्रविधि से उपार्जित विद्या को सामविधान ब्राह्मण में स्वर्ग-प्राप्ति की साधनभूत कहा है।[6]

पारिवारिक सुख–सौमनस्य :

पारिवारिक जीवन सुख और सौमनस्य पूर्ण प्रतीत होता है। विवाह की विभिन्न पद्धतियों में देव विवाह का विशेष प्रचलन परिलक्षित होता है, क्योंकि ताण्ड्य ब्राह्मण ने श्यैत और नौधस् सामों की घनिष्ठता का प्रतिपादन इन दोनों के मध्य देव-विवाह दिखलाकर किया है।[7] सपिण्ड और सगोत्र विवाह निषिद्ध थे।[8]

---

1. संहितोपनिषद् ब्राह्मण 3.9
2. वही 3.13
3. वही 3.20
4. वही 4.1-11
5. वही 4.12
6. सामविधान ब्राह्मण 1.1.17
7. तां० ब्रा० 7.10.3
8. गोभिलगृह्यसूत्र 3.4.4-5

पुरुष एकाधिक विवाह कर सकते थे, किन्तु उनसे सबके साथ समान व्यवहार करने और किसी की भी उपेक्षा (परित्यागादि रूप) न करने की अपेक्षा की जाती थी, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् का निर्देश है—

'न काञ्चन परिहरेत् तद् व्रतम्' (2.9.3)।

स्त्रियों की स्थिति सम्मानपूर्ण थी। सर्पराज्ञी के द्वारा दृष्ट ऋचा का विनियोग प्रदर्शित करते समय ऋषिका के नाम से पूर्व 'ब्रह्मवादिनी' विशेषण प्रयुक्त है,[1] जो उनके याग-मीमांसा में सम्मिलित होने का द्योतक है। स्त्रियों के प्रति बलात्कारादि अपराधों का कोई उल्लेख नहीं है।

विवाह सामान्यतः वयस्क अवस्था में ही होते थे। किसी कन्या के बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने का एक मात्र उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद्गत उषस्ति चाक्रायण की पत्नी आटकी का है[2], जिसे शांकरभाष्य में 'अनुपजातपयोधरा' अर्थात् 'अविकसितयौवना' कहा गया है।

संयुक्त परिवार की परम्परा को बनाये रखने और भाइयों के मध्य सम्पत्ति-विभाजन अथवा अधिकार-प्राप्ति के सन्दर्भ में कलह के वातावरण को न उत्पन्न होने देने के लिए निरन्तर सतर्कता लक्षित की जा सकती है। ताण्ड्य में उल्लिखित है कि किसी क्षत्रिय परिवार में एक राजा होने पर अन्य भाई उसका आनुचर्य निभाते थे।[3]

परिवार के भृत्यों तक से सद्व्यवहार करने और उन्हें पहले भोजन करा देने की परम्परा थी।[4]

शृङ्गार-प्रसाधनों के प्रति आकर्षण :

जन-जीवन में अपने को अलंकृत करने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से थी। रूक्षता सर्वत्र अकाम्य थी। सुगन्धित द्रव्यों के विलेपन की लालसा रहती थी।[5] सभा आदि सार्वजनिक स्थानों पर सुगन्धित वस्तुओं से लिप्त होकर लोगों के जाने का उल्लेख ताण्ड्य ब्राह्मण में है।

स्वर्णाभूषणों के प्रति भी जनता में आकर्षण था। स्रक्, रुक्म, प्रकाश आदि अनेक सुवर्ण-निर्मित आभूषणों का ताण्ड्यकार ने उल्लेख किया है।[6] व्रात्यों के प्रसंग में तां० ब्रा० में रजत-निर्मित निष्क भी उल्लिखित हैं।[7]

---

1. तां० ब्रा० 4.9.4
2. छा० उप० 1.10.1
3. तां० ब्रा० 20.12.5
4. सामविधान ब्राह्मण 1.3.7.
5. तां० ब्रा० 24.13.2-4
6. वही 18.9.8–10
7. वही 17.1.14

'वारासी' शब्द एक विशेष प्रकार की साड़ी के लिए व्यवहृत हुआ है, जो प्राकृतिक उपादानों से तैयार की जाती थी।[1]

आमोद-प्रमोद :

जन-जीवन में मनोरंजन का विशेष स्थान प्रतीत होता है। गान, वाद्य और नृत्य कलाओं का प्रचलन याग में ही नहीं, सामान्य जीवन में भी था।

संगीत :

ओबगीसा ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'दि ओल्डेस्ट म्यूजिक आफ दि वर्ल्ड' में तत्कालीन संगीत के विषय में लिखा है—'वैदिक काल के संगीत में हम जो स्वर्गिक आनन्द, आत्मा को आलोकित करने वाला प्रकाश और नवीन विश्व में प्रविष्ट कराने वाली प्रेरणा पाते हैं तथा मानव जीवन में उससे जिस दिव्य शान्ति का संचार दिखलाई देता है, वह विश्व के अन्य संगीत में अलभ्य है।' स्वामी प्रज्ञानानन्द ने भी वैदिक काल में जनसामान्य में संगीत के प्रचार का प्रबल समर्थन किया है।[2] याग से लेकर अभिचार तक के कृत्यों में साम-गान का अनिवार्य अस्तित्व इस तथ्य को अभिप्रमाणित करता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण-कालीन भारत में अभिजात वर्गों से लेकर समाज के निम्नतमवर्ग तक सांगीतिक सुरुचि विद्यमान थी—क्योंकि अभिचार का सम्बन्ध निश्चित रूप से बहुत विकसित मनो-मस्तिष्क युक्त उच्चवर्ग से नहीं रहा होगा। इस पर विस्तृत विचार गान-प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है।

वाद्य :

वाद्यों में तत और घन श्रेणी के वाद्य प्रमुखता से प्रचलित थे। ततवाद्यों में वीणा का प्राधान्य दिखलाई देता है जिसके अनेक रूपों का उल्लेख ताण्ड्य ब्राह्मण में है। इनमें से 'अपघाटिला' और 'वाण' संज्ञक वीणाएँ विशेष लोकप्रिय थीं।[3] शत और इससे भी अधिक तन्त्रियों वाली वीणाओं का उस युग में अस्तित्व था। अन्य वाद्यों में दुन्दुभि उल्लेखनीय है।[4]

नृत्य :

ताण्ड्य में सजल घट लिये हुई स्त्रियों के नृत्य के उल्लेख से[5] सिद्ध है कि उस युग में यह कला अत्यन्त विकसित रूप में थी।

---

1. तां० ब्रा० 18.9.16
2. Historical Development of Indian Music, Calcutta, 1960.
3. तां० ब्रा० 5.6.8 तथा 12
4. वही 5.5.18-19
5. वही—'परिकुम्भिन्यो यन्ति' (5.6.15) पर सायण-भाष्य –धिष्ण्यं परियन्ति नृत्यन्ति इत्यर्थः।

व्रात्य-मीमांसा :

उत्तर वैदिक युग के सामाजिक और धार्मिक जीवन में व्रात्य-समूह की भूमिका के विषय में सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

तां० ब्रा० के 17वें अध्याय के प्रथम चार खण्डों में चार व्रात्यस्तोम यज्ञों का विधान है। इन यागों का प्रयोजन आचारहीन व्यक्तियों की शुद्धि (व्रात्यता-निर्हरण) है।[1] प्रकृत ब्राह्मण में प्राप्त बिवरण के विश्लेषण से निम्नांकित तथ्य निकलते हैं :—

1. एक आख्यायिका[2] के अनुसार देवों के स्वर्ग-गमन करने पर उनके अनुचर आचारहीन हो गये और वे पृथ्वी पर इधर-उधर घूमने लगे।

2. ब्राह्मणकार ने इन्हें चार श्रेणियों में विभक्त किया है—निन्दित, कनीयान् (ऐसे आचाररहित व्यक्ति, जिनकी अवस्था अधिक नहीं है), ज्यायान् (वयोवृद्ध आचारहीन जन) तथा हीनाचार। निदानसूत्र में[3] केवल दो ही कोटियाँ हैं—शीर्षादिस तथा ऐशीकयाविस।

इनमें से निन्दित वे हैं, जो किसी पाप के अध्यारोप के कारण गर्हित होकर व्रात्य बन गये।[4] स्थविर व्रात्य वे कहे गये हैं जो नपुंसकता अथवा वार्धक्यवश नीच जनों में सम्मिलित हो गये।[5]

3. वस्तुतः ये सभी अपने कुलक्रमागत तथा सामाजिक आचार-व्यवहार से भ्रष्ट व्यक्ति प्रतीत होते हैं जो बिहित आचरण नहीं करते थे और निन्दित-निषिद्ध कर्मों में लिप्त रहते थे। ब्राह्मणोचित कोई कृत्य ये नहीं करते थे।[6]

4. तां० ब्रा० के अनुसार न तो ये कृषि करते थे और न वाणिज्य।[7]

5. ब्राह्मणों के द्वारा भोज्यान्न बलपूर्वक खा लेने के कारण इन्हें विषभक्षक (गरगिरः) कहा गया है।[8]

6. शोभनार्थ प्रतिपादक वाक्य में दोष निकालते थे; निरपराधियों को मारते-पीटते थे और अदीक्षित रहकर दीक्षितों के समान बोलते थे।[9]

---

1. तां० ब्रा० 17.1.16 की सायण कृत अवतरणिका।
2. तां० ब्रा० 17.1.1
3. निदानसूत्र 6.2
4. तां० ब्रा० 17 2.1
5. वही 17.4 1
6. वही 17.1.2
7. वही
8. वही 17.1,9
9. वही

व्रात्यस्तोमयागों में दक्षिणा-स्वरूप प्रदेय दो प्रकार की वस्तुएँ हैं—गृहपति के द्वारा संपादनीय तथा व्रात्यों के द्वारा आहार्य। गृहपति के द्वारा सम्पाद्य वस्तुएँ ये हैं—उष्णीष, प्रतोद (बैलों को हांकने के लिए लोहनिर्मित अग्रशलाका वाला दण्ड), ज्याह्लोड (इषु रहित केवल धनुर्दण्ड), विपथ (काष्ठफलकों से आस्तीर्ण रथ जो टेढ़े-मेढ़े मार्गों पर भी चला जाता था), कृष्ण शवास (काली किनारी वाली धोती); कृष्णवलक्ष अजिन (काला और सफेद भेड़-चर्म) तथा रजतनिर्मित निष्क संज्ञक आभूषण। इनके अतिरिक्त व्रात्यों के ही द्वारा आहार्य वस्तुएँ ये हैं—वलूकान्त दामतूष (लाल किनारी वाली धोतियाँ), दो-दो जूते तथा शुक्ल और कृष्ण वर्णीय मृग-चर्म।[1] इन वस्तुओं को व्रात्य-धन कहा गया है, जिनका दान व्रात्यता से मुक्त होने के लिए आवश्यक है—'एतद् वै व्रात्यधनम्।'[2]

सूत्रकार लाट्यायन के अनुसार ये वस्तुएँ उन व्रात्यों को ही दे दी जाती थीं, जो व्रात्य-चर्या से अविमुक्त थे। दान-प्रतिग्रहीता के सन्दर्भ में मागधदेशीय ब्रह्मबन्धु का सुझाव भी दिया गया है।[3]

तां० ब्रा० में पुराकाल में व्रात्यों द्वारा अनुष्ठित याग का भी उल्लेख है, जिसमें कुषीतक सामश्रवस और लुशाकपि खागीले की मुख्य भूमिका थी।[4]

ताण्ड्येतर वैदिक साहित्य में व्रात्यविषयक सामग्री :

यजुर्वेद में पुरुषमेध की बलि-सूची में 'व्रात्य' शब्द उल्लिखित है।[5] वहाँ आगे व्रात्यों के लिए एक यज्ञ भी विहित है।[6] अथर्ववेद का 15वाँ काण्ड 'व्रात्यकाण्ड' के रूप में प्रसिद्ध है, जिसमें प्राप्त व्रात्यविषयक मन्त्रों का अर्थ अत्यन्त विवादपूर्ण है। ताण्ड्योक्त व्रात्य की अथर्ववेद-प्रतिपादित व्रात्य से समानता को 'उष्णीष' और 'प्रतोद' शब्द उपलक्षित करते हैं; किन्तु रॉथ दोनों को पृथक्-पृथक् मानने के पक्ष में है। उनके अनुसार अथर्ववैदिक व्रात्य आचारहीन व्यक्ति नहीं, भ्रमणशील साधु है।

अथर्ववेद में सत्य ही व्रात्य को अत्यन्त महिमान्वित रूप में प्रस्तुत किया गया है—यथा :

---

1. तां० ब्रा० 7.1.14
2. वही 17.1.16
3. व्रात्येभ्यो व्रात्यधनानि ये व्रात्यचर्य्याया अविरताः स्युर्ब्रह्मबन्धवे वा मागधदेशीय—ला० श्रौ० सू०।
4. तां० ब्रा० 17.4.3
5. वाजसनेयिसंहिता 30.8 तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.4.5.1
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1.5.1.1

"तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेता श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय नावृश्चते तथा राष्ट्राय नावृश्चते।"[1]

सायण का भाष्य 15 वें काण्ड पर नहीं है; केवल भूमिकास्वरूप उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे उनके तद्विषयक विचार स्पष्ट होते हैं – भूमिका के पूर्वार्द्ध में वे प्रायः ताण्ड्योक्त दृष्टि ही रखते हैं — व्रात्य उपनयनादिसंस्कारहीन और यज्ञ का अनधिकारी है। उत्तरार्द्ध में अथर्ववैदिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं—

"व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलम्, किं बहुना व्रात्यो देवाधिदेव एव इति प्रतिपाद्यते। यत्र व्रात्यो गच्छति, विश्वं जगद् विश्वे च देवास्तत्र तमनुगच्छन्ति तस्मिन् स्थिते तिष्ठन्ति, तस्मिंश्चलति ते चलन्ति यदा स गच्छति स राजवत् गच्छति" इत्यादि।

ताण्ड्यगत और आथर्वण विवरणों के मध्य, जो परस्पर पूर्णतया विरोधी प्रतीत होते हैं, सायण इस रूप में तादात्म्य स्थापित करते हैं कि अथर्ववेदोक्त व्रात्य-महिमा से सम्पूर्ण व्रात्य-समूह सम्पन्न नहीं था। यह आथर्वण श्रुति तो व्रात्यों में से कतिपय वैदुष्ययुक्त, पुण्यात्मा और लोकमान्य व्यक्तियों को ही महत्त्वमण्डित करती है, न कि सबको। व्रात्यत्व तो इनका कर्मकाण्डियों का विरोध करने की दृष्टि से है—'न पुनरेतत्सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम्, अपितु कञ्चिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।'

जैमिनीय ब्राह्मण में 'दिव्या वै व्रात्या' (2.222) के रूप में इनका उल्लेख है।

व्रात्य-समस्या के सन्दर्भ में आधुनिक विद्वानों के मत :

वेबर, विण्टरनित्स, हाउएर (I. H. Hauer)[2]) बॉथलिंक, रॉथ, त्सिमर[3] हिल्लेब्राण्ड्ट्,[4] लनमन[5], ब्लूमफील्ड[6], हॉप्किन्स[7], कार्पेण्टियर, मैक्डॉनेल, कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों और राजाराम रामकृष्ण भागवत[8], आर० पी० चांडा,

1. अथर्ववेदसंहिता 15.10.1-2
1. Der Vratya, 1927
3. State and Law in Vedic Period.
4. Ritual Literature.
5. Introduction to Whitney's translation of Atharvaveda (XV).
6. Hymns of the Atharvaveda.
7. Gods and Saints of the Great Brahmana.
8. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society (19), 359-60.

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय[1], एन० एन० घोष, बी० एल० मुखर्जी, डी० आर० भण्डारकर, ए० पी० करमारकर और डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी[2] प्रभृति भारतीय मनीषियों ने व्रात्य-समस्या के विभिन्न पक्षों पर गम्भीरता से विचार कर अनेक अभिमत प्रकट किये हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अथर्ववेद के व्रात्य काण्ड पर 'श्रुति-प्रभ' संज्ञक भाष्य का प्रणयन किया है। इन विद्वानों के प्रमुख मत इस प्रकार हैं—

1. प्राचीनकाल में आर्यों की कुछ अर्धसभ्य शाखाएँ थीं, जो बस्तियों से बाहर रहती थीं। क्रमशः वे आर्य समाज में मिल गईं, परन्तु उस काल में उनका रहन-सहन अन्य आर्यों से भिन्न था और वे वैदिक संस्कारों तथा कर्मकाण्ड के प्रति आस्था नहीं रखती थीं। उन्हें व्रात्य कहा जाता था।

2. ये अनार्य तत्त्व थे, व्रात्यस्तोमों के माध्यम से जिन्हें आर्य-सभ्यता में प्रवेश प्राप्त हो सकता था।

3. व्रात्य-समूह योगियों के संघ थे, जो वैदिक संस्कारों को नहीं मानते थे। ये पगड़ी आदि अनागरिक वेश-भूषा धारण कर इतस्ततः पर्यटन किया करते थे। रुद्र उनके उपास्य थे। उपासक और उपास्य की स्वरूपगत एकता को ध्यान में रखकर रुद्र को भी व्रात्य कहा गया है और इसी कारण वेद में रुद्र के लिए उष्णीषी, कपर्दी सदृश नाम उल्लिखित हैं।

4. डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने भाष्य में 'व्रात्य' का अर्थ 'परमात्मा' किया है। व्रात्यत्व परमात्मा की गुणातीत स्थिति का लक्षक है—

'भाषायामुपनयनादिक्रियाहीनः पुरुषो व्रात्य इत्याचक्षते। उपनयनादिकं विधि-निषेधबद्धस्योपलक्षणम्। तदधीनोऽधिगतविधिनिषेधः। अत्र त्रिगुणातीतो दिक्काला-नवच्छिन्नः परमात्मा।'

डॉ० अतुलचन्द्र बनर्जी ने व्रात्यों की अनार्यमूलकता और योगिरूपता का दृढ़ता से प्रतिवाद किया है।[3] उनके विचार से व्रात्यों की शुद्धि की आवश्यकता इस कारण अनुभव हुई क्योंकि कर्मकाण्ड की दोहरी पद्धतियों—ब्राह्मण पद्धति और व्रात्य-पद्धति—में संघर्ष की स्थिति आ गई थी। व्रात्यों के कारण ब्राह्मण-कर्मकाण्ड के विकास में अवरोध उत्पन्न हो गया था। डॉ० बनर्जी के अनुसार व्रात्यगण अब्राह्मण थे और वे ऐसे कर्मकाण्ड में संलग्न थे, जो ऊपर से परम्परागत कर्मानुष्ठान-पद्धति के समान दिखने पर भी आन्तरिक दृष्टि से भिन्न था। वे उत्तर-भारत में किसी स्थान के निवासी थे।

1. Calcutta Review, 1924, 287 ff.
2. Studies in the Brahmanas—Chapter V.
3. Banerjee, A. C. : Studies in the Brahmanas, page 169.

डॉ० बनर्जी के उपर्युक्त विवेचन में ताण्ड्य ब्राह्मणोक्त उस आख्यायिका को अव्याख्यात ही छोड़ दिया गया है, जिसमें व्रात्यों को यागानुष्ठान से स्वर्ग चले गये देवों का अनुचर बतलाया गया है । अन्ततः ताण्ड्यकार को व्रात्यों का यह इतिहास क्यों देना पड़ा ? आख्यायिका में प्रकारान्तर से व्रात्यों को उनके पूर्वजों के स्वामियों (देवों) के माध्यम से यागानुष्ठान से सम्बद्ध किया गयाहै—इसका क्या प्रयोजन है?

हमारे विचार से यह आर्यों में से ही निकला ऐसा विद्रोही परिव्राजक जन-समूह था, जो वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था प्रकट करता था, उद्योगशून्य था और रहस्यात्मक तथा प्रतीकात्मक भाषा बोलकर प्रभाव-प्रदर्शन में संलग्न था । इन्हीं में से कुछ की अथर्ववेद में संकेतित उच्च आध्यात्मिक स्थिति भी थी । इनसे निबटने के दो मार्ग थे—सदैव के लिए इन्हें आर्य-समाज से पृथक् कर देना अथवा दोनों की पूर्व परम्परा की अभिन्नता प्रदर्शित कर और पूर्वजों की एकता का स्मरण कराकर शुद्धि-संस्कार के माध्यम से पुनः अपने में सम्मिलित कर लेना । पृथक्-करण का मार्ग समाज में दौर्बल्य-विधायक होता, जैसा कि मध्यकालीन भारत में हुआ । इसके विपरीत समीकरण की प्रक्रिया थी जो प्राचीन भारत में बहुत व्यापक रूप में और दीर्घकाल तक प्रचलित दिखलाई देती है । इस प्रकार बुद्धिमत्ता इनके स्वीकरण में ही थी । इसीलिए प्रतीत होता है कि ताण्ड्य ब्राह्मण के काल में इन्हें परम्परागत कर्मकाण्डी पुनः अपनी पद्धति में यागों के माध्यम से सम्मिलित करने के लिए प्रयत्नशील थे । पूर्वोक्त आख्यायिका के माध्यम से इन्हें इनकी यज्ञानुष्ठान-परक पूर्व परम्परा का स्मरण इसी निमित्त कराया गया है ।

स्मृतियों के काल तक 'व्रात्य' शब्द भ्रष्ट, आचारहीन और पतित सावित्रीक व्यक्तियों के सन्दर्भ में अत्यन्त स्पष्टार्थक हो गया है ।[1]

यति :

व्रात्यों के सदृश ही यतियों का समूह प्रतीत होता है, जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान अब तक कदापि नहीं गया है । ताण्ड्य ब्राह्मण में इनका दो बार उल्लेख है । प्रथम स्थल पर कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों को सालावृकों (भेड़ियों) के सम्मुख डाल दिया । उनमें से तीन बच गये—रायोवाज, बृहद्गिरि और पृथुरश्मि । उन्होंने इन्द्र से कहा—(तुमने हम लोगों को तो मार दिया) अब हमारे पुत्रों का पालन-पोषण कौन करेगा ? तब इन्द्र ने इस दायित्व को स्वीकार किया ।[2]

सायण ने यतियों को वेदविरुद्ध नियमों का अनुयायी माना है ।

तां० ब्रा० में ही दूसरे स्थल पर भी यतियों का इन्द्र के द्वारा वृकों के सम्मुख प्रक्षेप उल्लिखित है—इस बार इन्द्र पर ब्रह्म-हत्या का पाप लगा और समाज में

---

1. मनुस्मृति 10.20 2. ताण्ड्य ब्राह्मण 8 1.4

चतुर्दिक् उनकी निन्दा होने लगी। इस स्थल की व्याख्या के प्रसंग में सायण ने यतियों को ऐसा संन्यासी बतलाया है, जो वस्तुतः विवेक-ज्ञान शून्य, वेदान्त-वाक्यों के उच्चारण से रहित और काषाय वस्त्र तथा दण्ड मात्र धारण किये हुए थे।[1]

लौकिक संस्कृत में 'यति' शब्द स्पष्ट रूप से संन्यासी का वाचक है।

उपर्युक्त अंशों के विश्लेषण से विदित होता है कि यह भी कोई वैदिक कर्म-काण्ड का विरोधी संन्यासि-सम्प्रदाय था, जिससे वैदिक व्यवस्था के पक्षधर समय-समय पर संघर्ष करते रहते थे।

राजनैतिक तत्त्व

तां० ब्रा० में राजनैतिक दृष्टि से जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि सामान्यतः उस युग में राज्य-व्यवस्था राजन्यवर्ग के हाथ में थी। ऐतरेयादि अन्य ब्राह्मणों के समान 'एकराट्' की अवधारणा ताण्ड्य ब्राह्मण में भी प्राप्त होती है। समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर स्वामित्व की आकांक्षा स्वाभाविक रूपसे क्षत्रिय वर्ग में विद्यमान प्रतीत होती है। एतदर्थ तथा सार्वभौम पद की प्राप्ति के निमित्त वाज-पेय, राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञों की लोकप्रियता राजन्यवर्ग में साम्राज्यवादी मनो-वृत्ति को विद्योतित करती है। ताण्ड्यगत चित्ररथ कापेय को द्विरात्र यज्ञ के द्वारा एकक्षत्रपतित्व की उपलब्धि का उल्लेख इसी दिशा में है।[2]

ऋग्वेदकालीन 'समिति' नाम्नी संस्था, जिसकी प्रतीति डा० काशी प्रसाद जाय-सवाल सदृश विद्वानों ने राष्ट्रीय महासभा के रूप में की है[3], ब्राह्मण-युग में अधिक प्रभावी नहीं दिखती। छान्दोग्य उपनिषद् में पांचालों की समिति का उल्लेख अवश्य है, जहां विद्वान् ब्राह्मणों के साथ समुपस्थित राजा प्रवाहण जैवलि आरुणेय श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न पूछते हुए अंकित है।[4] डा० जायसवाल इस स्थल पर भी 'समिति' शब्द से राष्ट्रीय सभा का अर्थ ग्रहण करने के पक्षधर हैं[5], किन्तु यह औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस सन्दर्भ में दो तथ्य उल्लेखनीय हैं :—

(1) इस समिति में वैश्यों और शूद्रों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है;

(2) चर्चा के विषय सामाजिक तथा राजनैतिक महत्त्व के न होकर आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोगी हैं।

---

1. तां० ब्रा० 9.4.7
2. वही 20.12.4
3. हिन्दू पॉलिटी (हिन्दी अनुवाद, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), भाग 1, पृ.12
4. छा० उप० 5.3
5. हिन्दू पालिटी, भाग—1 पृष्ठ 13

अतएव इसे राष्ट्रीय महासभा न मानकर राजसभा मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों के रचना-काल में राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति दृढ़ता से बद्धमूल होती हुई दिखलाई देती है।

ताण्ड्य में एक स्थल पर अपराधी राजा को प्रजा के द्वारा पदच्युत करने का उल्लेख है।[1]

शासन-व्यवस्था में राजा के अतिरिक्त अन्य आठ व्यक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख है—

'अष्टौ वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति—राजभ्राता च राजपुत्रश्च पुरोहितश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षत्ता च संग्रहीता च। एते वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति।'[2]

इनमें से 'क्षत्ता' शब्द यष्टिधारी सैनिकों और 'संग्रहीता' भाण्डागार के पालक के अर्थ में व्यवहृत हैं। इससे ज्ञात होता है कि राज्य का सर्वोच्च अधिकारी यदि राजा था, तो 'ग्रामणी' (ग्राम–प्रधान) प्रशासन की लघुतम इकाई का प्रतिनिधित्व करता था।

हिन्दू राज्य-प्रणाली में, परवर्ती काल में जिस 'अष्टप्रधान' के विचार को बल मिला और जिसके कारण इतिहासकारों ने हिन्दू राज्य-पद्धति के मध्यकालिक पुरोवर्तक शिवाजी की अत्यन्त प्रशंसा की है, उसका मूल ताण्ड्य ब्राह्मण की उपर्युक्त 'अष्टवीर योजना' में निहित प्रतीत होता है।

धार्मिक जीवन

सामवेदीय ब्राह्मणों और उपनिषदों के युग में धर्म के तीन आधारभूत स्तम्भ प्रतीत होते हैं, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है-'त्रयो धर्मस्कन्धाः।'[3]

धर्म के प्रतिष्ठाकारक प्रथम स्कन्ध में यज्ञ, अध्ययन और दान सम्मिलित हैं। द्वितीय स्कन्ध तपोमूलक है और तृतीय स्कन्ध आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारी की साधना से अनुस्यूत। शांकरभाष्य से विदित होता है कि धर्म की प्रस्तुत स्कन्धत्रयी की योजना विभिन्न आश्रमों के अनुरूप हुई है। इस दृष्टि से यज्ञ, अध्ययन और दान गृहस्थ-साध्य हैं तथा तपोऽनुष्ठान सामान्यतः सभी के कल्याण-साधक होने पर भी मुख्यतः वानप्रस्थियों के द्वारा ही विधेय हैं।

इनमें यज्ञ का विस्तृत विवेचन पृथक् परिच्छेद में हो चुका है, जिसके पुनः प्रस्तवन की आवश्यकता यहाँ प्रतीत नहीं होती।

---

1. तां ब्रा० 2.10.4
2. वही 19.1.4
3. छा० उप० 2.23.1

यागेतर धार्मिक अनुष्ठानों का प्रमुख प्रयोजन विश्वात्मभाव की अनुभूति कराना है। याग के समान अन्य धर्मानुष्ठानों की मूल प्रेरणा आनन्द-प्राप्ति है और वह अन्तःकरण की व्यापकता तथा उदारता में निहित है। एतदर्थ छान्दोग्योपनिषद् में 'भूमा' शब्द का प्रयोग है जो स्वयं सुखस्वरूप है–'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति ।[1]

'भूमा' का अभिप्राय है सबको अपना समझना। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, बायें-दायें सर्वत्र आत्मभाव की अनुभूति ही 'भूमा' है।[2]

इसके निमित्त छान्दोग्योपनिषद् में बहुविध उपासनाएँ विहित हैं जिनमें विद्या, श्रद्धा और योग की आवश्यकता होती है – 'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।'[3] इनके साथ ही मनन-चिन्तन (मति), विज्ञान और निष्ठा की अपरिहार्यता भी प्रदर्शित है।[4]

इन सबसे स्पष्ट है कि इस युग में धर्मानुष्ठान का अधिष्ठान बहिरंग न होकर मनुष्य का अपना अन्तर्लोक रहा है। उसी को उन्मिषित, आलोकित और ब्रह्ममय करने के लिए अध्ययन, दान, तीर्थ-स्नान; सन्ध्या, अग्निहोत्र और उपासना की विभिन्न प्रतीकात्मक प्रणालियों का निर्देश किया गया है।

षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार ऋत, सत्य, ब्रह्म, ओंकार और त्रिपदा गायत्री का सेवन आसुरी भाव से बचाता है।[5]

स्वाध्याय की प्रतिष्ठा स्वर्ग-प्राप्ति के साधन रूप में इसलिए ही दिखाई गई लगती है[6] कि उसके द्वारा विकसित अन्तःकरण स्वयं स्वर्गस्वरूप हो जाता है। पवित्रता और कर्मण्यता धार्मिक जीवन के अंग कथित है।[7] ब्राह्मण-वाङ्मय के अन्तर्गत संभवतः ताण्ड्य ब्राह्मण ने ही तीर्थ स्नान को धार्मिक प्रगति की दृष्टि से उपयोगी समझा है।

'या वै पूर्व्वाः प्रस्नान्ति ताः पूर्व्वास्तीर्थं जयन्ति' (9.4.12)।

सामविधान ब्राह्मण का निर्देश है कि अतिथि रूप में प्राप्त आगन्तुकों को आवश्यकतानुसार दान अवश्य करना चाहिए। यदि गृह में कुछ भी न हो, तो केवल जल–दान से ही उन्हें तृप्त करना चाहिए।[8]

---

1. छा० उप० 7.23.1
2. वही 7.25.1
3. वही 1.1.10
4. वही 7.18.1; 7.19.1; 7.20.1; तथा 7.21.1
5. षड्० ब्रा० 5.5.3
6. सामवि० ब्रा० 1.1.17
7. वही 1.2.11
8. वही 1.3.7

उपासनाएँ

'उपासना' का शाब्दिक अर्थ है निकट बैठना। यह लाक्षणिक रूप से ईश्वरीय भाव से सम्पन्न होने और एकाग्रचित्त से अभिमतविशेष के चिन्तन-मनन की क्रिया का द्योतक है।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अभिमत विशेष का प्रमादरहित ध्यान करना उपासना है—'ध्यायान्नप्रमत्तः।'[1]

उपासनाएँ, जिनका विधान विभिन्न प्रतीकात्मक दृष्टियों से किया गया है, उपासकों की अभिरुचियों के अनुरूप हैं। लोक-रुचिगत वैविध्य को ध्यान में रखकर उपासना-विधान में भी वैभिन्न्य है। उपासना में प्रवृत्त होते ही मनुष्य कामनाओं के संसार से सद्यः निवृत्त नहीं हो जाता, अतएव उपनिषद् में अनेक सकाम उपासनाएँ भी विहित हैं।

कुछ प्रमुख उपासनाओं के विश्लेषण से विदित होता है कि उनकी परम्परा छान्दोग्योपनिषद् के प्रणयन से भी अधिक प्राचीन है। उपनिषद् ने मात्र उनको सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर दिया है। मधुविद्या[2] और शाण्डिल्य विद्या[3] प्रभृति ऐसी ही उपासनाएँ हैं।

यहाँ कुछ मुख्य उपासनाओं का संहृत रूप में परिचय प्रदेय है—

साम और उसकी भक्तियों की उपासना :

सामवेदीय होने के कारण छान्दोग्योपनिषद् ने प्रथम दो अध्यायों में उद्गीथ, ओंकार, हिंकार, स्तोमाक्षर, गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, बृहत् साम, वैरूप साम, वैराजसाम, शाक्वर, रेवती, यज्ञायज्ञीय और राजन सामों की आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टि से बहुविध उपासनाओं का वर्णन किया है। आधिदैविक दृष्टि से उद्गीथोपासना का यह विधान द्रष्टव्य है—पृथिवी ऋक् है, अग्नि साम अन्तरिक्ष ऋक् और वायु साम है। आदित्य की शुक्ल ज्योति यदि ऋक् है तो उसमें दृश्यमयी नीलवर्णरूपता साम।[4] आध्यात्मिक दृष्टि से उपासना विधान यों है : वाणी ऋग्रूप और प्राण सामरूप है। चक्षु यदि ऋक् है तो आत्मा साम है—इत्यादि।[5] स्तोभाक्षर सम्बन्धिनी उपासना में साम-गान के अवयवभूत हाउ, हाइ, अथ, इह, ई, ऊ, ए, आर, होयि, हिंकार स्वर तथा हुंकार को क्रमशः भूलोक, वायु, चन्द्रमा, आत्मा, अग्नि, आदित्य, निह्नव (आह्वान), विश्वेदेव, प्रजापति, प्राण,

---

1. छा० उप० 1.3.12
2. छा० उप० 3.1-12
3. वही 3.14
4. वही 1.6
5. वही 1.7

अन्न और विराट् वाक् बतलाया गया है। इनके उपासनाजन्य फल वाणी, अन्न और अन्नभक्षण की सामर्थ्यपरक हैं।[1]

सम्पूर्ण साम की उपासना साधु दृष्टि से विहित है, क्योंकि लोक में साधु (सज्जन) को साम और असाधु को असाम कहा जाता है। इस उपासना का फल साधुसदृश विशिष्ट गुणों और धर्मों की प्राप्ति है।[2]

वृष्टिविषयिणी सामोपासना में पूर्वीय वायु को हिंकार, उत्पन्न मेघ को प्रस्ताव, वर्षणशील मेघ को उद्गीथ, चमकने तथा गर्जने वाले मेघ को प्रतिहार और जल-ग्रहण को निधन कहा गया है।[3] इसी प्रकार ऋतुओं, प्राणादि और वाणीविषयिणी सामोपासनाएँ उल्लिखित हैं। आदित्यविषयिणी सामोपासना के प्रसंग में आदित्य की सामरूपता का आधार उसकी समता की भावना है। सभी यह समझते हैं कि आदित्य मेरे प्रति प्रकाश बिखेर रहा है—'सर्वदा समः तेन साम मां प्रति मां प्रति इति सर्वेण साम।' इसीलिए समस्त प्राणी आदित्य के प्रति अनुगत हैं। मनुष्यों का आनुगत्य प्रस्तुति और प्रशंसा से प्रणोदित है—

> 'तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात् ते प्रस्तुतिकामाः
> प्रशंसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः।'[4]

छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय के 11-20 खण्डों में गायात्रादि-राजनान्त विभिन्न सामों के उपासना-निरूपण के प्रसंग में प्राणवत्ता, पूर्णायु, प्रशस्त जीवन, सन्तान-सुख, पशु-समृद्धि, कीर्त्ति-लाभ, ब्रह्मवर्चस्विता तथा देवों का सालोक्य एवं सार्ष्टित्व (देवतुल्य ऐश्वर्य) आदि आकर्षक फल कथित हैं। इनके साथ ही अनेक विधिनिषेध भी उल्लिखित हैं; यथा—वामदेव्य साम के उपासक को अपनी अनेक पत्नियों में से किसी का भी परित्याग नहीं करना चाहिए।[5] बृहत्साम के उपासक को चाहिए कि वह तपते सूर्य की निन्दा न करे।[6] वैरूप साम के उपासक के लिए वर्षणशील मेघ की निन्दा निषिद्ध है।[7] इसी प्रकार अन्य सामोपासकों के लिए ऋतुओं, लोकों, पशुओं और ब्राह्मणों की निन्दा वर्जित है। यज्ञायज्ञीय साम का उपासक मांस-भक्षण नहीं कर सकता।

छान्दोग्य के ही समान जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में भी साम-विषयक अनेक उपासनाएँ निर्दिष्ट हैं। उदाहरण के लिए चन्द्रमा को हिंकार और अन्नस्वरूप बतलाकर उसकी उपासना से अन्न के द्वारा क्षुधा-शमन होने का उल्लेख है—

---

1. छा० उप० 1.13
2. वही 2.1
3. वही 2.3
4. वही 2.9.3
5. वही 2.13.2
6. वही 2.14.2
7. वही 2.15.2

'चन्द्रमा वै हिंकारः। अन्नम् वै चन्द्रमाः। अन्नेन अशनयां घ्नन्ति।'[1]

मधु-विद्या :

छान्दोग्य के तृतीय अध्याय के 1-12 खण्डों में मधुविद्यास्वरूप सूर्योपासना वर्णित है। आदित्य की कल्पना देव-मधु के रूप में है जो द्युलोक रूप तिरछे बांस पर अवलम्बित है। अन्तरिक्ष उसका छत्ता है और सूर्य की रश्मियाँ मधुमक्खियों के बच्चों के रूप में हैं। चतुर्दिक प्रसारित किरणें मधु-नाडियाँ हैं। ऋक्, यजुष्, साम और आथर्वण श्रुतियाँ मधुकर रूप हैं। ऋगादि वेद पुष्प हैं। सोमस्वरूप अमृत जल है। समाहित दृष्टि वाला पुरुष आदित्य के मध्यवर्ती संचलित से मधु को देख लेता है। आदित्यान्तर्वर्ती लोहित और शुक्लादि रूप रसों के भी रस हैं—अमृतों के भी अमृत हैं—

ते वा एते रसानां रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा
एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि।'[2]

इसके प्रथम अमृत से वसुओं, द्वितीय से रुद्रों, तृतीय से आदित्यों, चतुर्थ से मरुतों और पंचम से साध्यगण के जीवन-धारण का कथन है। इन अमृतों की ज्ञानमयी उपासना स्वाराज्य-प्राप्ति आदि अनेक फलों की हेतु कही गई है। इस मधु-विद्या के वेत्ता के लिए सूर्य सदैव एक समान रहता है।

गायत्री द्वारा ब्रह्मोपासना :

छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त गायत्री-द्वारा ब्रह्मोपासना का विधान गायत्री की सर्वात्मकता का लक्षक है—वह ही सबकी रक्षिका है—

'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री
वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च।'[3]

यहाँ परम्परा से भिन्न रूप में 'गायत्री' की व्युत्पत्ति है। अन्यत्र 'गायत्री' में त्राण और उपासक में गानधर्म का आधान है—'गायन्तं त्रायते।'— किन्तु ऊपर के उद्धरण में दोनों क्रियाएँ गायत्री में ही आश्रित हैं। वह प्राणियों के समस्त भावलोक की गायिका भी है।

शांकर-भाष्य के अनुसार अनेक छन्दों के रहते हुए भी प्रधानता के कारण गायत्री का ही ग्रहण ब्रह्म-ज्ञान के द्वार रूप से किया है। सोमाहरण करने, अन्य छन्दों के अक्षरों के आनयन, इतर छन्दों में व्याप्त रहने और सभी सवनों में व्यापक

---

1. जैमि० उप० ब्रा० 1.1.3.4
2. छा० उप० 3.5.4
3. वही 3.12.1

होने से यज्ञ में गायत्री का प्राधान्य है। इसीलिए ब्रह्म भी माता के सदृश गुरुतरा गायत्री को छोड़कर अन्य किसी आलम्बन का ग्रहण नहीं करता। समस्त प्राणिवर्ग, स्थावर-जङ्गम, वागादि सभी कुछ गायत्रीमय है। वह उनका गान के द्वारा नामोच्चारण और संरक्षण करती है।

इस गायत्री रूप ब्रह्म की स्थिति दहराकाश में है। शांकर भाष्यानुसार वह हृदय मात्र में परिच्छिन्न न होकर सर्वगत है। हृदय में आकाश को सीमित करने का प्रयोजन चित्त की एकाग्रता के स्थान की प्रशंसा है।

गायत्र्याख्य ब्रह्म की उपासना के अंगरूप में प्राणोपासना :

हृदय में पाँच छिद्र (देवसुषि) हैं। इनमें से पूर्वदिग्वर्ती छिद्र का प्राण, चक्षु, आदित्य, तेज और अन्नाधार रूप से उपासक तेजस्वी और अन्नोपभोक्ता होता है।[1] दक्षिण छिद्र व्यान रूप है, श्रोत्र, चन्द्रमा, श्री और यश के रूप में उसका उपासक श्रीमान् और यशस्वी होता है।[2] इसी प्रकार अपानादि की उपासना का निर्देश हैं, जिनसे प्राप्य फल ब्रह्मतेज, ओजस्विता आदि है। प्रणादि को ब्रह्मलोकगत द्वारपाल कहा गया है।

नादोपासना :

पुरुष के अन्तःकरण में नित्य प्रकाशमयी स्वयं प्रकाशरूप ज्योति निहित है। उस चैतन्यमयी ज्योति का अनुमापन स्पर्श संवेदना के द्वारा ऊष्णता के अनुभव से होता है। उसका श्रवण कानों को बन्द करके निनद (रथ के घोष), नदथु (बैल के डकारने) और जलती हुई अग्नि के समान शब्दों को सुनने की चेष्टा से किया जा सकता है।[3]

शाण्डिल्य विद्या :

यह समस्त जगत् ब्रह्म है। यह उसी से उत्पन्न होता, चेष्टा करता है और उसी में विलीन हो जाता है, इस प्रकार शान्त होकर उपासना करनी चाहिए—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'[4]

यह हृदयान्तर्वर्ती आत्मा ही ब्रह्म है, मृत्यु के अनन्तर मैं इसी ब्रह्मभाव को प्राप्त करूँगा—ऐसा निश्चययुक्त व्यक्ति निःसन्देह ईश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है।

शाण्डिल्य ऋषि के द्वारा प्रोक्त होने के कारण ब्रह्मोपासना की यह प्रणाली 'शाण्डिल्य-विद्या' कही गई है।

---

1. छा० उप० 3.13.1
2. वही 3.13.2
3. वही 3.13.7-8
4. वही 3.14.1

विराट् कोशोपासना :

इस विराट् कोश का उदर (अन्तश्छिद्र) अन्तरिक्ष, पृथ्वीमूल, दिशाएँ, कोण और आकाश ऊपर का छिद्र है। इसी में प्राणियों के सम्पूर्णकर्मफलरूप वसु स्थित बतलाये गये हैं। 'जुहू' कोश की पूर्व दिशा है, क्योंकि पूर्वाभिमुख होकर होम किया जाता है। 'सहमाना' नाम्नी दक्षिण दिशा है, क्योंकि इसी दिशा में जीव यमपुरी में अपने पाप-कर्मों के फलरूप दुःख को सहन करते हैं। पश्चिम दिशा का नाम 'राज्ञी' है, क्योंकि उसे राजा वरुण ने अधिष्ठित कर रखा है और सायंकाल वह लालिमा से संयुक्त हो जाती है। उत्तर दिशा कुबेरादिभूतिसम्पन्न देवों से अधिष्ठित होने के कारण 'सुभूता' संज्ञक है। इन दिशाओं में 'वत्स' नामक पवन प्रवाहित होता है, जिसके वेत्ता को पुत्र-दीर्घायुष्यरूप फल प्राप्त होता है।[1]

जीवन की यज्ञरूप में उपासना :

छान्दोग्योपनिषद्[2] और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण[3], दोनों ने जीवन की यज्ञ-रूपता का निरूपण करते हुए प्रारम्भिक 24 वर्षों को प्रातः सवन, अगले 44 वर्षों को माध्यन्दिन सवन और तदनन्तर 48 वर्षों को तृतीय सवन कहा है। इसकी आधार-भूत है छन्दों के अक्षरों की संख्या, जो क्रमशः गायत्री (24) त्रिष्टुप् (44) और जगती (48) की है।

जीवन की यज्ञमयी उपासना में भोजन-पान की इच्छा रहते हुए भी उनमें न रमना दीक्षा है। रमण उपसद् है। हँसना, भोजन करना और मैथुनरत होना शास्त्र-पाठ है। तपस्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य बोलना इस याग की दक्षिणा है। मरण अवभृथस्नान है। इस प्रकार मानव-जीवन-यापन यज्ञानुष्ठान के सदृश है। जीवन-यज्ञ की यह उपासना उपासक को 116 वर्ष की दीर्घायु प्रदान करती है, जैसी कि महिदास ऐतरेय–ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथितयश प्रवचनकार—को प्राप्त हुई थी।

जीवन-यज्ञ के इस दर्शन का प्रतिपादन अङ्गिरा-वंशज ऋषि घोर ने देवकी-पुत्र कृष्ण के सम्मुख किया था और अन्त में जप-योग्य तीन मन्त्र भी बतलाये थे—अक्षितमसि (तुम नष्ट नहीं हो सकते), अच्युतमसि (तुम अविनाशी हो), प्राण-संशितमसि (तुम अतिसूक्ष्म प्राण हो)। यज्ञोपासना को पूर्णता प्रदान करने के लिए अन्त में दो ऋचाएँ भी दी गई हैं—

'आदिप्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि ॥ 1 ॥

---

1. छा॰ उप॰ 3.15
2. छा॰ उप॰ 3.16
3. जैमि॰ उप॰ ब्रा॰ 4 2.1-11

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम् ।
स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तरम् ॥2॥

(—आदिकारणभूत परब्रह्म का तेज सर्वत्र देदीप्यमान है । अज्ञानमय अन्धकार से अतीत उत्कृष्ट ज्योति को देखते हुए हमने सम्पूर्ण देवों के मध्य प्रकाशमय तथा सर्वोत्तम ज्योति रूप सूर्य को प्राप्त कर लिया है) ।

ब्रह्म की मन, आकाश और आदित्य रूप में उपासना[1] :

ब्रह्म की आकाश और मन रूप में उपासना क्रमशः अधिदैवत और अध्यात्म दृष्टियों से है । मनोब्रह्म के चार पाद हैं—वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र । इसी प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य और दिशारूप चार पाद आकाश ब्रह्म के भी हैं । मन और आकाश रूप में ब्रह्म का उपासक कीर्त्ति-लाभ करता है तथा आदित्य रूप में ब्रह्मोपासक को सुन्दर घोष (श्रुतिसुखद ध्वनियाँ) आकर सुखी करते हैं ।

अग्नि[2] और पञ्चाग्नि विद्याएँ[3] :

आदित्यान्तर्गत दृश्यमान् पुरुष को गार्हपत्याग्नि तथा पृथिवी, अन्न, अग्नि और आदित्य को उसकी देह कहा गया है । इसकी उपासना के अनेक फल हैं; यथा पाप-प्रणाश, अग्निलोक और पूर्णायु की प्राप्ति, उज्ज्वल जीवन-यापन तथा सन्तान-परम्परा की अविछिन्नता ।

दक्षिण अथवा अन्वाहार्यपचनाग्नि के भी जल, दिक्, नक्षत्र और चन्द्ररूप चार शरीर हैं । इसका स्वरूप चन्द्रमा में दृश्यमान पुरुष है । आहवनीयाग्नि के प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्—ये चार शरीर हैं । विद्युत् में दृश्यमान पुरुष इसका स्वरूप है । उपासनाजन्य फल पूर्ववत् हैं ।

पञ्चाग्निविद्या के रूप में द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी और पुरुष का सन्दर्भ प्रदत्त है । इन सभी की समिधाएँ, धूम और ज्वाला आदि भी निर्दिष्ट हैं । स्त्रीरूपा अग्नि से ही व्यक्ति की उत्पत्ति होती है । अन्त में मृतक शरीर भी अग्नि को ही समर्पित कर दिया जाता है । पञ्चाग्निविद्या का वेत्ता पतितों से सम्पृक्त होने पर भी पाप में लिप्त नहीं होता और पुण्यलोक का भागी होता है ।

नेत्रस्थ पुरुष की उपासना[4] :

नेत्र मे दृश्यमान पुरुष की अमृत, अभय और ब्रह्मस्वरूप आत्मा के रूप में उपासना करने से देवमार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति विहित है ।

---

1. छा० उप० 3.18 2. वही 4.10-13
3. छा० उप० 5.4-9 4. वही 4.15.1-4

नेत्रस्थ पुरुष में जल वैसे ही नहीं ठहरता, जैसे पद्मपत्र जल से निर्लिप्त रहता है। यह पुरुष सभी ओर से शोभनपदार्थ प्राप्त करने के कारण 'संयद्वाम' तथा सभी प्राणियों के पुण्यफलों को वहन करने के कारण 'वामनी' तथा भासमान होने से 'भामनी' है।

प्राणविद्या की उपासना[1] :

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यदि शुष्क स्थाणु (ठूंठ) के प्रति भी इसका उपदेश कर दिया जाय, तो उसमें शाखाएँ फूट निकलेंगी और नये किसलय प्ररोहित होंगे—जैसा कि सत्यकाम जाबाल का कथन है—

'यद्यपि एतत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मि शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि इति।'

इससे पूर्व विभिन्न इन्द्रियों और प्राण की सामर्थ्य निरूपित करते हुए प्राण का सर्वोपरि वैशिष्ट्य प्रदर्शित है। सभी इन्द्रियों की प्रतिष्ठा प्राण पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त प्राणविद्योपासना के प्रसंग में एक मन्थ-कर्म भी विहित है, जिसमें अमावास्या की रात्रि में दीक्षा लेने तथा पूर्णिमा की रात्रि में समस्त औषधियों के स्वल्पांश को दधि-मधु के साथ मथने का निर्देश है। तदनन्तर अग्नि में घृत से होम कर अवशिष्टांश मन्थ पर डालने की विधि है। पठनीय मन्त्र वसिष्ठ, प्रतिष्ठा, सम्पत् और आयतन के चतुर्थ्यन्त रूप और स्वाहायुक्त हैं। इनके पश्चात् अग्नि से कुछ दूर हटकर मन्थ को अंजलि में ले निम्नोक्त मन्त्र का जप विधेय है—

'अमो नामासि, अमा हि ते सर्वमिदम्, स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयतु अहमेवेदँ सर्वमसानि इति।'

(—हे मन्थ! तू अम नाम वाला है, क्योंकि यह समग्र विश्व अपने प्राणभूत तेरे साथ अवस्थित है। तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और सबका अधिपति है। तू मुझे ज्येष्ठता, श्रेष्ठता और आधिपत्य प्राप्त करा)।

अन्त में मन्थ-भक्षण निर्दिष्ट है।

रात्रि में यज्ञ-भूमि पर सोते समय स्वप्न में यदि स्त्री दिखलाई पड़े, तो कर्म की सफलता असंदिग्ध है।

प्रतीत होता है, यह कोई श्रौत कर्म है, जो प्राणोपासना से सम्बद्ध हो गया है।

वैश्वानर आत्मा की व्यस्त तथा समस्त रूप में उपासना[2] :

राजा अश्वपति ने औपमन्यव आदि के साथ पृथक्-पृथक् संवाद कर पहले वैश्वानर आत्मा के सुतेजा, विश्वरूप, पृथग्वर्त्मा, बहुल, रयि और प्रतिष्ठासंज्ञक

---

1. छा० उप० 5.2

2. वही 5.12-14

व्यस्त रूपों की उपासना विभिन्न फलश्रुतिपूर्वक बतलाई है। तदनन्तर समस्त रूप का निरूपण किया है, जो इस प्रकार है—मस्तक सुतेजा (द्युलोक), चक्षु विश्वरूप (सूर्य), प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु), देह का मध्य भाग बहुल (आकाश), बस्तिभाग (रयि), पृथिवी (दोनों चरण), वेदी वक्षःस्थल, लोम दर्भ, हृदय गार्हपत्याग्नि, मन अन्वाहार्यपचनाग्नि और मुख आहवनीयाग्नि है।

19वें से 24वें खण्डों तक भोजन के समय अग्निहोत्र की सम्पूर्ण कल्पना प्रस्तुत है। अन्न-ग्रास-ग्रहण ही आहुति-दान है, जिसे प्राणादि के स्वाहान्त उच्चारण के साथ सम्पन्न करने से समस्त इन्द्रियों की तृप्ति कथित है।

नामोपासना[1] :

यह उपासना नारद-सनत्कुमार के संवाद-माध्यम से वर्णित है।

नारद ने सनत्कुमार से शोक से पार ले जाने वाले आत्मज्ञानोपदेश की प्रार्थना की, जिसे स्वीकार करके सनत्कुमार ने पहले उनसे उनकी पूर्वाजित ज्ञानराशि के विषय में जानकर तदनन्तर ऋगादि को नामस्वरूप बतलाया है और ब्रह्मबुद्धि से उसकी उपासना करने का निर्देश दिया है।

शांकरभाष्य के अनुसार ब्रह्मबुद्धि से नामोपासना का साम्य प्रतिमा की विष्णु-बुद्धि से क्रियमाण उपासना से है—

'नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि नामैवैतत्। नामोपास्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या। यथा प्रतिमां विष्णुबुद्ध्योपास्ते तद्वत्।'

इस नामोपासक की नाम-गत्यन्त यथेच्छगति हो जाती है।

वाङ्मयी उपासना[2] :

धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य और साधु-असाधु का विवेचन वाणी ही करती है, अतएव ब्रह्मबुद्धि से उसकी उपासना विहित है।

मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान और बलादि की उपासनाएँ[3] :

मन आदि के साथ ही अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा और प्राण को नामादि की अपेक्षा क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतलाकर उनकी ब्रह्मबुद्धि से उपासना का निर्देश है। उदाहरणार्थ मनोविषयक उपासना को उपसंहृत करते हुए कहा गया है -

मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्व इति।'

---

1. छा० उप० 7.1.1-5
2. छा० उप० 7.2.1-2
3. वही 7.3-15

हृदय-कमल में ब्रह्म की उपासना[1] :

उपर्युक्त समस्त उपासनाओं में इसका सर्वोपरि महत्त्व है।

इस शरीर रूप ब्रह्मपुर में सूक्ष्म दहर-पुण्डरीक (—कमलाकार स्थान—) गत अन्तर् आकाश है, जो भौतिक आकाश के अनुरूप ही है। उसमें द्युलोक और पृथ्वी दोनों स्थित है। सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र, आत्मा से सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ, संपूर्ण भूत एवं कामनाएँ भी इसमें प्रतिष्ठित हैं। देह की जरावस्था से यह आकाशाख्य ब्रह्म जीर्ण नहीं होता और न देह के विनाश से वह विनष्ट ही होता है। इसी दहरब्रह्म का साक्षात्कार प्रकृत उपासना का उद्दिष्ट है।

इस उपासक के संकल्प से ही पिता, माता, भाई, बहिन, मित्र-मण्डली तथा गन्धमाल्य, अन्न-पान, गीत-वाद्य और स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं।

सत्यसंज्ञक सेतुरूप ब्रह्म की उपासना[2] :

निष्पाप आत्मा सेतुरूप है, क्योंकि वह लोकों के पारस्परिक संघर्ष को बचाती है। इसको पार करके ब्रह्मचर्य (—शांकरभाष्य के अनुसार स्त्रीविषयिणी तृष्णा के त्याग—) के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही प्रस्तुत उपासना का लक्ष्य है। इसके अनन्तर पुरुष अन्धा होने पर भी आँख पा जाता है, विद्ध होने पर भी अविद्ध रहता है, रोगादि कष्टों से युक्त होकर भी पीड़ित नहीं हो पाता। अन्धकारस्वरूप रात्रि भी दिन हो जाती है क्योंकि ब्रह्मलोक सदा-सर्वदा प्रकाशस्वरूप है।

उपासना की संभवतः यह सर्वोच्च स्थिति है, जिसका निरूपण गीता में 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' इत्यादि रूपों में हुआ है।

इस प्रकार उपासनाओं का यह बहुविध प्रतीकात्मक विधान लोक में प्रचलित तत्कालीन विभिन्न उपासना-पद्धतियों का समन्वयक ही नहीं, उनका पुरोवर्तक भी है। इनका अनुशीलन शिवमहिम्नस्तोत्र की इन पंक्तियों का स्वभावतः स्मरण करा देता है —

'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥'

अन्ततः इन उपासनाओं का मूल प्रयोजन मानवीय अन्तःकरण का समन्ततः परिष्कार तथा उत्तरोत्तर उदात्तीकरणपूर्वक परमतत्त्व की एकतानुभूति की दिशा में उसे अग्रसर करना है।

---

1. छा० उप० 8.1
2. वही 8.4

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से धर्म के तीनों स्कन्धों का प्रायः सर्वाङ्गपूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। इनके विश्लेषण से स्पष्ट है कि सामवेदीय ब्राह्मणों और उपनिषदों में उपलब्ध धर्म की स्थूलतया तीन धारायें हैं जो धर्म के सरस्वती, गंगा और यमुना की अन्तर्वेदी में प्रतिपादित होने के कारण स्वभाविक ही हैं। धर्म का प्रथम स्कन्ध यागात्मक है, जो पूर्णतया 'यागादिरेव धर्मः' को अन्वितार्थ करता है और जिसका मुख्यतः प्रतिपादन ताण्ड्य एवं षड्विंश ब्राह्मणों में है। इसका प्रायोगिक अनुष्ठान किसी कालविशेष में सरस्वती के तट पर अत्यन्त विराट् परिमाण में उच्छल-उत्ताल सारस्वत धाराओं के ही समान सम्पन्न दिखाई देता है। किन्तु सोमयागों के विस्तृत वितत वितान भी कालान्तर में सारस्वत धाराओं के ही समान अन्तर्लीन हो गये और सम्प्रति प्रयाग की त्रिवेणी में मिली सरस्वती की धारा जैसे कभी-कभी तीर्थ-पण्डितों (पण्डों) के द्वारा इंगित-वेद्य है, ठीक उसी प्रकार यदा-कदा काशी, पुणे और कतिपय दक्षिण भारतीय स्थानों पर मीमांसा और याग-प्रक्रिया के मूर्द्धन्य मनीषियों के प्रयत्नों से सोमयागों के सम्पादन का भी वृत्त कर्ण-कुहरों में पड़ जाता है। अन्तर्लीन सरस्वती के समान प्रयाग तो आज प्रायः यागरहित ही हो गया है।

सामवेदीय ब्राह्मणों में प्रतिपादित धर्म का द्वितीय रूप कुछ अंश तक तांत्रिक उपासना एवं विकृत लोक-रुचियों से प्रभावित हो गया प्रतीत होता है। इसका साम्य यमुना की श्याम-नील जलराशि से है। अतीव प्राचीन काल से जैसे यमुना की पवित्र धारायें जनमानस की विषय-वासना के कल्मष को धोती रही हैं, वैसे ही सभ्यता के आदिकाल से मनुष्य के अन्तरतम में निहित लौकिक कामनाओं–स्त्री-वशीकरण, शत्रु-मरण एवं उच्चाटन तथा प्रभविष्णुओं के सम्मोहन आदि विभिन्न प्रशस्त और अप्रशस्त आकांक्षाओं एवं उनकी विकृतियों से अभिभूत लोकमानस के परिष्कार की चेष्टा सामविधानादि में ब्राह्मणकारों ने काम्यकर्मों और अभिचारात्मक कृत्यों के विधान के द्वारा की है। यमुना की कालजयी जलधारा के समान धर्म का यह द्वितीय रूप भी सामान्य जन-जीवन में अद्यावधि व्यापृत दिखलाई देता है।

ताण्ड्य, षड्विंश, संहितोपनिषद्, छान्दोग्य, सामविधान और जैमिनीयोपनिषद् संज्ञक ब्राह्मणों में प्रतिपादित धर्म का तृतीय रूप गंगा की शुभ्र और पावन धारा के समान है जिसकी रूपरेखा का निर्माण सदाचार, सन्ध्या, अग्निहोत्र, ओङ्कार, महाव्यहृतियों, स्वाध्याय, तपस्या, दान, तीर्थ-स्नान और बहुविध उपासनाओं से हुआ है। भगवती भागीरथी की अजस्र जलधारा के समान धर्म के इस तृतीय रूप की उज्ज्वलता और लोकोपयोगिता निरन्तर बनी हुई है। ग्रीष्म की

दुस्सह सन्ताप-वेला में जैसे गाङ्गवारि के सेवन से मन, प्राण उत्स्फूर्त्त और आप्यायित हो उठते हैं, नवचेतना से भर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार युग-युग के दूषित वातावरण में धर्म का तृतीय रूप मानव को अनवरत अजस्र उर्जा से ऊर्जस्वित करता आ रहा है।

जीवन के प्रति सामान्य दृष्टिकोण

सामवेदीय ब्राह्मणों में जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण दिखलाई देता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अन्तःकरण में स्थित आशा-भावना से ही मनुष्य स्मरणीय विषय का स्मरण करता है, प्रिय पत्नी, पुत्र और अन्य समृद्धियों की इच्छा से कर्मानुष्ठान में संलग्न होता है—

'आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्व इति।'[1]

इसीलिए उपनिषद् के ऋषि ने आशावान् बनने का परामर्श दिया है। आशायुक्त व्यक्ति जीवन में जो कुछ चाहता है, अन्ततः प्राप्त कर लेता है—

'अमोघा ह्यस्याशिषः प्रार्थनाः सर्वा भवन्ति, यत्प्रार्थितं सर्वं तदवश्यं भवति।'[2]

आशारूप रज्जु से आबद्ध यह आकाश से लेकर नामपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् प्रत्येक प्राणी में चक्र की भाँति क्रियाशील है।

आशा और आनन्द के प्रति अतिशय आकृष्ट होने पर भी जीवन की कटुताओं, दुःखों और विपरीतताओं को ब्राह्मणयुगीन चिन्तकों ने दृष्टि से ओझल नहीं किया है और उनके निवारण का अपने स्तर पर और अपनी तरह से उन्होंने विपुल प्रयत्न किया है।

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मणों में प्रायः स्वस्थ, सन्तुलित, आशा और आनन्दमयी जीवन-दृष्टि प्रस्तुत की गई है।

---

1. छा० उप० 7.14.1
2. वही 7.14.1 पर शांकरभाष्य

षष्ठ परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों का साहित्यिक अनुशीलन

अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से वेदों में मनोरम काव्य-सौन्दर्य सन्निहित है। मन्त्र-काव्य में यदि ऋषि-कवि की प्रातिभ प्रवर्हता से प्रसूत अप्रतिम भाव-विभूति विद्यमान है तो ब्राह्मण ग्रन्थों में अभिव्यक्ति की रमणीयता सहृदय के हृदय को पुलक-पल्लवित कर देती है।

मैक्समूलर, ह्विटनी प्रभृति कतिपय पाश्चात्य पण्डितों ने ब्राह्मणग्रन्थों में कलात्मक चेतना के अभाव, लम्बे-लम्बे अरुचिकर याग-विवरणों और नीरसतापूर्ण प्रस्तुति का उल्लेख किया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता।

ब्राह्मण ग्रन्थकारों की कलात्मक चेतना :

यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थ पूर्णतया काव्यात्मक रूप में प्रणीत नहीं हुए हैं और उनका प्रमुख प्रतिपाद्य भी काव्य नहीं, याग है, किन्तु इनके रचयिताओं का अन्तःकरण कलात्मक चेतना से निःसन्देह अनुप्राणित रहा है। याग के सुनिश्चित व्यापारों की प्रस्तुति करते समय भी कल्पना-प्रवणता का उन्होंने परिचय दिया है। सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों ने स्तोमों और विष्टुतियों की योजना करते हुए केवल दृष्ट और अदृष्ट पुण्य-लाभ की ही दृष्टि नहीं रखी है; उनके सम्मुख स्तोत्र-क्लृप्ति के सन्दर्भ में यह दृष्टि भी स्पष्ट रूप से रही है कि गानों की प्रस्तुति में कलात्मकता रहे, परिवेश श्रुति-मधुर हो, पुनरुक्ति न हो और किया जाने वाला साम-गान सम्पूर्ण वातावरण को सरस बना दे। इस सन्दर्भ में 'जामि' और 'यातयामता'—सदृश शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनका अभिप्राय है कि एक ही गान की पौनः पुन्येन उसी तारतम्य में, उसी स्वर-मण्डल में आवृत्ति से अप्रिय और अरुचिकर वातावरण हो जाता है, जिसके परिहार के लिए ब्राह्मणग्रन्थकारों ने निरन्तर सजगता और सचेष्टता बनाये रखी है। साम-गान के मध्य में वीणा-वादन की झनकार और नृत्य का विधान भी इसी दृष्टि से है। नाट्य में गीत का ग्रहण भरतमुनि ने भी इसी कारण सामवेद से किया—'सामभ्यो गीतमेव च।' ये तथ्य ब्राह्मणों में निहित कलात्मक दृष्टि को उन्मीलित करते हैं। इसके अतिरिक्त गान-योजना में सामवेदीय ब्राह्मणों ने विधा-वैविध्य का विस्तार से विचार किया है,

जिसका मूल प्रयोजन नीरसता का परिहार ही है—यथा मण्डूक आट् करोति एवं निधनमुपयन्त्ययातयामतायै (तां० ब्रा० 12.4.16)।

मधुमयता की ओर आकर्षण :

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थकारों का लालित्य और माधुर्य के प्रति अनवरत आकर्षण दिखलाई देता है। प्रारम्भ में ही काव्य की अधिष्ठात्री वाग्देवी से प्रार्थना की गई है कि हे देवि ! तुममें जो कुछ मधुमय हो, उसमें मुझे स्थापित करो— 'देवि वाग् ! यत्ते मधुमत् तस्मिन् माधाः।'[1]

ताण्ड्य ब्राह्मण में 'कवि' और 'काव्य' शब्द :

तां० ब्रा० के प्रथम अध्याय में ही एक बार 'कवि' और दो बार 'काव्य' शब्द आया है। ऋत्विग्विशेष को 'उशिक्' (कमनीय) कवि कहा गया है।[2] स्तुति-योग्य विषय के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग है[3] तथा इसी अर्थ में आगे 'काव्य' शब्द व्यवहृत है[4], जिसका अभिप्राय क्रियमाण स्तुति में काव्यात्मक लालित्य का सन्निवेश प्रतीत होता है।

ताण्ड्यादि ब्राह्मणों में सुलभ काव्यात्मक सौन्दर्य की रूपरेखा :

जैसा कि पहले कहा गया है, ब्राह्मणग्रन्थों में रस-निष्पत्ति और भाव-व्यञ्जना के प्रसंग पुष्कल नहीं है, तथापि मानवीय मनोभावों की ब्राह्मण ग्रन्थकारों को गहरी पहचान है। अर्थवादों का वैविध्यपूर्ण वितान वस्तुतः मानवीय मनोविज्ञान की आधार-शिला पर ही आधृत है। मनुष्य के अन्दर निहित वासनाएँ, कामनाएँ और आकांक्षाएँ समझे बिना प्रशस्ति और निन्दा के माध्यम से याग की प्रेरणा ही नहीं उत्पन्न की जा सकती। अतएव चेतना के निगूढ़ स्तरों में सुप्त अथवा अर्द्धसक्रिय संस्कारों से अनुस्यूत विभिन्न कामनाओं--प्रिय पत्नी, वशंवद पुत्र, सामाजिक प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य, अप्रिय शत्रुओं के विनाश, मरणोत्तर सुखद जीवन और अन्त में वासनाओं के उपशम--को ध्यान में रखकर ही अर्थवाद का समानान्तर संसार रचा गया है, जिसके मूल में उपर्युक्त काम्यभाव-संसार है। साहित्य में स्थायी भावों की योजना जिन मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों--राग, क्रोध, भय, विस्मय, घृणा और विराग--के आधार पर की गई है, उनकी ब्राह्मण ग्रन्थकारों को गहरी प्रतीति है। यज्ञानुष्ठान के प्रयोजनों के निरूपण में अर्थवादात्मक स्थल इस प्रतीति के प्रामाणिक आलेख हैं।

---

1. तां० ब्रा० 1.3.1
2. वही 1.4.7
3. वही 1.5.14
4. वही 1.5.9

काव्यात्मक रमणीयता का दूसरा पक्ष अभिव्यक्ति मूलक है--जिसके सन्दर्भ में ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रधानतः निम्नोक्त तत्त्व उपलब्ध होते हैं :—

1. लाक्षणिकता;
2. उपमा और रूपक-विधान;
3. पदावृत्ति और अक्षरावृत्तिजन्य लालित्य;
4. सरस और प्राञ्जल गद्य-बन्ध।
5. संश्लिष्ट प्रस्तुति।

उपर्युक्त काव्यात्मक तत्त्वों के आलोक में ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य को प्रभावोत्पादक सम्प्रेषणीयता प्राप्त हुई है। अतएव मुख्यतया काव्यग्रन्थ न होने पर भी इनकी वर्णन-शैली में साहित्यिक सौष्ठव है जिसकी ओर उपेक्षा नहीं की जा सकती। पाश्चात्य समालोचक मैथियेसेन ने कविता को प्रकरण से पृथक् करके आलोचना का विषय बनाने की प्रवृत्ति को घातक बतलाया है।[1] म० म० काणे ने भी काव्यात्मक मूल्याङ्कन की दृष्टि से न्यूनतम तीन वस्तुओं को ध्यान में रखना आवश्यक माना है—जिनमें विषयवस्तु और उसकी प्रतिपादनात्मकता भी है।[2] कोई कृति गद्य में है या पद्य में, इसका विशेष महत्त्व नहीं है –महत्त्व केवल कथ्य की समर्थ अभिव्यक्ति का है। पृथक्-पृथक् अनुशीलन इस प्रकार है—

लाक्षणिकता :

ब्राह्मणग्रन्थों में विद्यमान लाक्षणिक प्रवृत्ति की ओर सर्वप्रथम हमारा ध्यानाकर्षण निरुक्तकार यास्क ने किया–'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि'।[3] अभिप्राय यह कि ब्राह्मणों ने देवताओं के विषय में भक्ति अथवा गुण कल्पना के माध्यम से बहुविध तात्त्विक अन्वेषण किया है। अर्थवाद के तीन भेद हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। इनमें से गुणवाद लक्षणा के अत्यन्त निकट है। परवर्ती मीमांसकों और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने दोनों को एक मानकर ही विवेचन किया है। गुणवाद के संदर्भ

---

1. Mathiessen : The Achievetment of T. S. Eliot, Page 7,
2. But true poetry (leaving aside the question whether a work clothed in prose is poetry or not) is distinguished at least by three things, viz. by a certain peculiar diction, by its subject-matter and by the spirit in which approaches the handling of its themes.—P. V. Kaṇe : History of Sanskrit Poetics (part II) page 326, Early Poetic Efforts.
3. निरुक्त, 7.24

में प्राप्य वैदिक उदाहरण इस प्रकार है- 'स्तेनं मनः', 'आदित्यो यूपः' 'शृणोत ग्रावाणः', इत्यादि। इनकी सीधे-सीधे अभिधा शक्ति के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। 'पत्थर सुने'–यह कथन आपाततः उन्मत्त-प्रलाप सदृश लगता है–यदि केवल अभिधा पर निर्भर रहा जाये तो; इसी कारण इस प्रकार के वाक्यों में मीमांसकों ने लक्षणा का आश्रय लिया है जिसका अभिप्राय प्रातरनुवाक की मार्मिकता का द्योतन है, जिसे प्रस्तर भी तन्मयता से सुनते हैं, फिर विद्वानों और सहृदयों की बात ही क्या ? नदी की स्तुति के सन्दर्भ में प्राप्त विशेषणों--चक्रवाकस्तनी, हस-दन्तावली, काशवस्त्रा और शैवाल-केशिनी-की व्याख्या शाबरभाष्य में भी लाक्षणिक दृष्टि से की गई है। उनका कथन है-'असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या।[1]

साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में, लक्षणा-निरूपण के प्रसंग में आचार्यों ने इसलिए सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः प्रभृति लौकिक उदाहरणों के साथ ही 'यजमानः प्रस्तरः', 'आदित्यो यूपः' आदि वैदिक उदाहरण उन्मुक्तता से दिये हैं। भोजराज ने तो एक पग आगे बढ़कर अर्थवादात्मक लाक्षणिक प्रयोगों में निहित काव्यात्मक चारुता को भी वचन-वक्रता के रूप में पहचानने की चेष्टा की है-'वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति श्रुतिः।'[2]

इस प्रकार अर्थवादात्मक स्थलों में काव्य-तत्त्व की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।[3]

ताण्ड्य एवं षड्विंश ब्राह्मणों में भी, अन्य ब्राह्मणों के समान पुष्कल लाक्षणिक प्रयोग प्राप्त हुए हैं। उनमें से कतिपय ये हैं—'मनुष्यदेवा.'[4] 'यजमानो वै प्रस्तरः'[5] 'पशवो वै बृहद्रथन्तरे'[6], 'अन्नं वा अर्कः[7] इत्यादि। एक उदाहरण विपरीत लक्षणा का है, जहाँ सुष्टुतम्'[8] (यदतिष्टुवन्ति तत्) के 'सु' की व्याख्या निन्दार्थक रूप में की गई है-'तदत्र सुशब्दो निन्दार्थः' (-सायण)। इस सन्दर्भ में काव्यप्रकाशगत 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्'[9] उदाहरण का स्मरण हो आता है, जहाँ किसी अत्यन्त अपकारी मित्र के अपकारों और दौर्जन्यपरक कृत्यों के लिए उपालम्भ इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—'आपने बड़ा उपकार किया,

---

1. ऋग्भाष्यभूमिका में सायण के द्वारा उद्धृत, पृष्ठ 21
2. शृङ्गारप्रकाश
3. डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी : अथर्ववेद—एक साहित्यिक अध्ययन, पृष्ठ 16
4. षड्० ब्रा० 1.1.29
5. तां० ब्रा० 6.7.17
6. वही 7.7.1
7. वही 14.11.9
8. वही 9.3.7
9. काव्यप्रकाश 4.24

हम क्या कहें, आपकी 'सज्जनता' तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह कि आपसे अधिक दुष्ट व्यक्ति दूसरा नहीं है। आपने मेरा बहुत अपकार किया है।

ब्राह्मणों में लाक्षणिक प्रयोगों का प्रयोजन सम्प्रेषण में स्वाभाविकता और तीव्रता लाना है।

उपमा और रूपकादि अलंकारों का प्रयोग :

वैदिक वाङ्मय में उपमा और रूपक प्रभृति अलङ्कारों का प्रचुर प्रयोग दिखलाई देता है। वेद से लेकर आज तक इतने व्यापक रूप और परिमाण में उपमा का व्यवहार हुआ है कि राजशेखर ने उसे अलंकारशिरोरत्न, काव्य-निधि की प्राण और कवि-वंश की माता की गरिमा से सम्पन्न बतलाया है—

'अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥[1]

ऋ० सं० के अनन्तर यास्क ने 'उपमा' शब्द का सर्वप्रथम निपातों के अर्थ बतलाते हुए प्रयोग किया है। तदनुसार 'इव, न, चित्' और 'नु'—ये चार निपात उपमार्थक हैं।[2] उपमा को परिभाषित करते हुए यास्क ने पहले गार्ग्य का मत दिया है, जिनका कथन है कि उपमा का विषय ऊपर से भिन्न होने पर भी उसके सदृश होता है—'यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः।[3] इसके अनन्तर यास्क का अपना अभिमत है—उपमा में अधिक गुण वाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात 'उपमान के साथ न्यून गुण वाले अथवा अल्प प्रसिद्ध उपमेय का सादृश्य प्रदर्शित किया जाता है—

'ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते।'[4]

निरुक्तकार ने उपमा के कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा संज्ञक भेदों का उल्लेख किया है। भूतोपमा का अर्थ है रूप परिवर्तन; यथा 'तुम भेड़ का रूप बनाकर आये हो।' कर्मोपमा में वाचक शब्द 'यथा होता है—यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।' लुप्तोपमा वस्तुतः रूपक है, जिसका नामान्तर अर्थोपमा भी है।

ताण्ड्य, षड्विंश और छान्दोग्य ब्राह्मणों में उपमा के याग, गान और आध्यात्मिक सन्दर्भों में व्यापक दृष्टि से किए गए प्रयोग आलंकारिक अप्पय दीक्षित के

---

1. अलंकारशेखर में पृष्ठ 32 पर उद्धृत
2. तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति।—निरुक्त, 1.2.4
3. निरुक्त 3.3.13
4. वही

इस कथन को समग्रतया अन्वर्थ कर देते हैं, जिसके अनुसार उपमा एक नर्तकी के समान है, जो काव्य के रंग-मंच पर अवतीर्ण होकर अपने चित्र-विचित्र रूपों के द्वारा काव्य-रसिकों के हृदय को विमुग्ध कर देती है–

'उपमैका शैलूषी सम्प्राप्य चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्य-रंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।।[1]'

प्रकृत ब्राह्मणों के उपमान-विधान का वैविध्य तथा राग, विराग और याग के प्रसंगों में समान भाव से उपमा-साहचर्य को देखकर उपर्युक्त भूमिकाएँ अपने आप भास्वर हो उठती हैं ।

याग और उसके कृत्यों को स्पष्ट करने वाली उपमाएँ :

छान्दोग्य ब्राह्मण में यज्ञ के दो मार्गों की उपमा पुरुष के दो पैरों और रथ के दो चक्रों से देते हुए कहा गया है कि जैसे एक चरण से चलने वाला पुरुष अथवा एक चक्र से गतिमान रथ नष्ट हो जाता है,[2] वैसे ही ब्रह्मा के द्वारा मात्र एक मार्ग के संस्कार से यज्ञ नष्ट हो जाता है, आगे इसी को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है—जैसे दोनों चक्रों से गतिशील रथ और दोनों चरणों से चलने वाला पुरुष स्थित रहता है, वैसे ही दोनों मार्गों के संस्कार से यज्ञ भी सुरक्षित रहता है ।[3]

षड्विंश में दोनों चक्रों से युक्त रथ की ही उपमा याग के एक अन्य सन्दर्भ में भी दी गई है । तदनुसार जैसे दोनों चक्रों से युक्त रथ से अभीष्ट दिशा में गमन किया जा सकता है, उसी प्रकार वाणी और मनोयुक्त यज्ञ से समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ।[4]

विधि-विधान से परिचय प्राप्त किए बिना होम करना वैसे ही है, जैसे अंगारों को हटाकर राख में आहुति डालना—

'स य इदमविद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत् स्यात् ।'[5]

अग्निहोत्रसाध्य उपासना में लोक-प्रवृत्ति को उपमित करते हुए कहा गया है कि जैसे क्षुधित बालक माता के पास जाते हैं, वैसे (कष्ट में पड़े हुए) प्राणी अग्निहोत्र करते हैं ।[6]

---

1. चित्रमीमांसा-उपमानिरूपणम् ।
2. छा० उप० 4.16.3
3. वही 4.16.5
4. षड्० ब्रा० 1.5.4
5. वही 5.24.1
6. वही 5.24.5

होम से समस्त पापों के दग्ध होने के विषय में भी एक समीचीन उपमा दी गई है—वह है अग्नि में प्रवेश कराने पर तत्काल जल जाने वाली इषीका[1] अर्थात् सींक का अग्रभाग।

यज्ञ में अध्वर्यु प्रमुख ऋत्विक् वैसे ही बहिष्पवमान में प्रसर्पण करते हैं, जैसे अहेरी मृग को पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है—मन्द-मन्द गति से, बिना आहट किए।[2]

ताण्ड्य में प्रस्तर-खण्डों पर द्रोणकलश को रखने की उपमा प्रजा के मध्य अन्न-समृद्ध राज्य की स्थापना करने से दी गई है।[3]

इसी प्रकार विश्वजित् याग में सर्वस्वदान के अनन्तर किसी से कुछ याचना करना वैसा ही है, जैसे कच्चे फल खाना (आमाद्य)।[4]

सामगान अथवा स्तोत्रादि के सन्दर्भ में व्यवहृत उपमाएँ :

ताण्ड्य में कहा गया है कि विष्टुति-परिवर्तन से उद्गाता यज्ञ वाहक स्तोमों को वैसे ही सन्तृप्त कर देता है, जैसे गाड़ी ढोने से थके बैलों अथवा अश्वों को बदलकर उन्हें तुष्टि दी जाती है।[5]

विष्टुतिविशेष से स्तोमविशेष तक पहुँचने की प्रक्रिया बतलाते हुए ब्राह्मणकार का कथन है कि जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ते समय पहले समीपस्थ टहनी को पकड़ता है, फिर उसके निकट की, इस प्रकार क्रम से ऊपर चढ़ जाता है, ठीक उसी प्रकार उद्गाता विष्टुतिविशेष से स्तोमविशेष तक पहुँच जाता है।[6] आगे अवरोहणक्रम दिया गया है—जैसे कोई वृक्षारूढ़ व्यक्ति क्रमशः निचली शाखाओं के अवलम्ब से भूतल पर उतर आता है, वैसे ही पहले त्रिवृत्स्तोम से त्रयस्त्रिंशस्तोम तक जाकर पुनः त्रिवृत्स्तोमगत विष्टुतिविशेष का आधार ग्राह्य है।[7]

उद्गीथ भक्ति की व्यापकता के विषय में छान्दोग्यगत वचन है कि ओङ्कार से सम्पूर्ण वाणी इसी प्रकार परिव्याप्त है, जैसे शङ्कुओं (नसों) से पत्ते व्याप्त रहते हैं।[8]

---

1. षड्० ब्रा० 5.24.3
2. तां० ब्रा० 6.7.10
3. वही 6.6.1
4. वही 16.6.11
5. वही 2.16.3
6. वही 3.4.2
7. वही 3 6.2
8. छा० उप० 2.23.3

आध्यात्मिक प्रसंगों में उदाहृत उपमाएँ :

ऐसी अधिकांश उपमाएँ छान्दोग्य ब्राह्मण के उपनिषद्-भाग में आई हैं। ब्रह्मवेत्ता के निष्पाप होने के सम्बन्ध में कहा गया है कि पापकर्म से वह वैसे ही असम्पृक्त रहता है, जैसे कमल-पत्र जल से आश्लिष्ट नहीं होता—

'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।'[1]

कमल-पत्र वाली यह उपमा यहीं से परवर्ती साहित्य में गई है जहाँ से विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में संक्रमण करती हुई युग-युगान्तर से आध्यात्मिक निर्लिप्तता को यथावत् सम्प्रेषित कर रही है।

छान्दोग्य में ही आगे कहा गया है कि प्राणोपासक के प्रति पाप करने की कामना वाला वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे मृत्तिका-खण्ड पाषाण-खण्ड से टकराकर चूर-चूर हो जाता है।[2] जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में भी यह उपमा आई है।[3]

सब कुछ प्राण में कैसे अनुस्यूत है, इसे स्पष्ट करने के लिए रथ-चक्र में अनुबद्ध अरों की उपमा दी गई है—

'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्।'[4]

भटकते हुए मन को प्राण में प्राप्त होने वाले आश्रय का साम्य ब्राह्मणकार को उड़ते हुए पक्षी में दिखा। तदनुसार जैसे सूत्र में निबद्ध पक्षी प्रत्येक दिशा में उड़ता है और अन्यत्र आश्रय न पाकर पुनः बन्धन को ही स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार हमारा मन भी विभिन्न दिशाओं में भटक कर अन्त में अपने प्राणों में ही आश्रय खोजता है—

'यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव सोम्य! तन्मनो दिशं-दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते।'[4]

प्राण की सर्वोपरि स्थिति को निरूपित करते हुए कहा गया है कि जैसे अच्छा अश्व पैर में बँधी कीलों को उखाड़ डालता है, वैसे ही प्राण वागादि इन्द्रियों की सामर्थ्य को पार कर जाता है—

'यथा सुहयः षड्वीशशङ्कून्संखिदेत् एवमितरान्प्राणान् समखिदत्।'[5]

---

1. छा० उप० 4.14.3
2. वही 1.2.8
3. जैमि० ब्राह्मण 1.1.7.5
4. छा० उप० 7.15.1
4. छा० उप० 6.8.2
5. वही 5.1.12

नित्यप्रति ब्रह्मलोक-गमन करते हुए भी लोक उससे कैसे अपरिचित रह जाता है, इसे उपमित करते हुए उपनिषद् के ऋषि-कवि का कथन है—जैसे पृथिवी में गड़ी हुई सुवर्ण-शेवधि को अनभिज्ञ व्यक्ति ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी नहीं जान पाता, उसी प्रकार प्रतिदिन ब्रह्म का सालोक्य-लाभ करते हुए भी व्यक्ति अमृत से आच्छन्न होने के कारण उसका प्रत्यभिज्ञान नहीं कर पाता—

'यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञाः उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवेमाः सर्वाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढा ।'[1]

आगे एक अत्यन्त आकर्षक उपमा दी गई है मछेरे की। वह (मछेरा) जैसे जल में मछलियों को सरलता से देख लेता है, वैसे ही मृत्यु ने पूर्वकाल मे देवों को देख लिया था—

'तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यत् ।'[2]

उपमाओं का वैशिष्ट्य :

ऊपर सामवेदीय ब्राह्मणों से जो उपमायें उदाहृत हैं, उनके विश्लेषण से प्रतीत होता है कि उपमानों का चयन ब्राह्मणग्रन्थकारों ने लोक-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से किया है। प्रायः सभी उपमान अनुभूति और लोकावेक्षण के निकषग्राव पर परीक्षित हैं। उपमेय को प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त करने की क्षमता से वे पूर्णतया सम्पन्न हैं।

इन उपमानों के प्रयोग से प्रतिपाद्य सरलता से स्पष्ट ही नहीं हो जाता, वह मन में गहराई से बैठ भी जाता है, क्योंकि प्रायः सभी उपमान मानवीय-हृदय के साथ सामरस्य स्थापित करने वाले हैं। उपमानों की पृष्ठभूमि में ब्राह्मणग्रन्थकारों के मस्तिष्क में कहीं वर्ण्यविषय को चारुत्व प्रदान करने की भावना भी निहित प्रतीत होती है।

उपमान-चयन की दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थकार का यह वैशिष्ट्य है कि उसके द्वारा प्रयुक्त उपमान परवर्ती साहित्यिकों के द्वारा पौनः पुन्येन अनुवर्तित होते हुए जनमानस के अविच्छिन्न अंग बन गये। रथ-चक्र, कमल-पत्र और भटके हुए पक्षी वाले उपमान इसी श्रेणी के हैं, जिन्हें भारत की प्रायः सभी क्षेत्रीय भाषाओं के कवि-कलाकारों और सन्त-साधकों ने बहुत प्रकार से समय-समय पर दोहराया है। वैदिक उपमाओं की इस समीचीनता, रमणीयता और प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर ही म० म० काणे, हरि राम दिवेकर, कान्तिचन्द्र पाण्डेय और वी० राघवन

---

1. वही 8.3.2
2. वही 1.4.3

सदृश मनीषियों ने इनकी समवेत स्वर से श्लाघा की है और विशिष्टता का उद्घाटन किया है।[1]

रूपक-विधान :

उपमा के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपकों का भी अत्यन्त आवर्जक और आकर्षक रीति से प्रयोग हुआ है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में रूपक-विधान की क्या उपादेयता है, इस पर प्रकाश डाला है शबरस्वामी ने। मीमांसा-सूत्र 'अभिधानेऽर्थवादः'[2] की व्याख्या के प्रसंग में कुमारिल भट्ट का कथन है कि रूपक के द्वारा यज्ञ की स्तुति अनुष्ठान-काल में ऋत्विकों और यजमानों तथा अन्य समवेत जनों में भी उत्साह भाव का संचार करती है—

'रूपकद्वारेण याग-स्तुतिः कर्मकाले उत्साहं करोति।'

उपमाओं के सदृश रूपक-विधान के क्षेत्र भी वहीं हैं-यज्ञ, साम-गान और आध्यात्मिक तत्त्व।

ऊपर तन्त्रवार्तिक के कथन से रूपक की याग के सन्दर्भ में ही उपयोगिता विदित होती है, किन्तु अभिव्यक्ति-सौष्ठव की दृष्टि से भी रूपक-विधान का कवि-हृदय में युग-युग से आकर्षण रहा है। मनोविश्लेषणशास्त्री सिगमंड फ्रायड के अनुसार भावों की निबिडता और संकुलता की सहज, स्वाभाविक और प्राणवान अभिव्यक्ति के निमित्त रूपक का ही आश्रय-ग्रहण रचनाकारों को सौविध्यपूर्ण प्रतीत होता है।

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में दीर्घ और लघु उभयविध रूपकों के विधान दृष्टि-गोचर होते हैं। प्रमुख रूपक मानव-शरीर, नर-नारी सम्बन्ध, संवत्सर पक्षि-देह, देव-मधु और विश्वसृष्टि के उपादानमूलक तत्त्वों के आधार पर निबद्ध है।

सर्वाधिक दीर्घ रूपक :

तपस्या, सत्य, ओज, यश, प्राणशक्ति, आशा, बल; वाक् आदि की इस विश्व-सृष्टि में क्या भूमिका है- इसे विश्वस्रष्टा देवों के द्वारा अनुष्ठीयमान यागात्मक

1. P. V. Kane : History of Sans. Poetics, Part II, Early Poetic Efforts;

H. R. Divekar : Les Fleurs de Rhetorique del'Inde (Chapter II), 1930, Paris.

डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र, प्रथम भाग, पृष्ठ 11

Dr. V. Raghavan : Sanskrit Literature, Page 13

2. (जैमिनीय) मीमांसा सूत्र 1.2.46—तन्त्रवार्तिक

रूपक के माध्यम से अत्यन्त रुचिर रूप से प्रकट किया गया है-तदनुसार विश्वसृष्टि एक महायज्ञ हैं, जिसमें तपस्या गृहपति, ब्रह्म (वैदिक ज्ञानराशि) ब्रह्मा, इरा गृहपत्नी, अमृत उद्गाता, भूतकाल प्रस्तोता, भविष्यकाल प्रतिहर्त्ता, ऋतुएँ उपगाता, आर्त्तव सदस्य, सत्य होता, ऋत मैत्रावरुण, ओज ब्राह्मणाच्छंसी, त्विषि और अपचिति क्रमशः नेष्ठा और पोता, यश अच्छावाक, अग्नि अग्नीत्, भग ग्रावस्तुत, अर्क उन्नेता, वाक् सुब्रह्मण्य, प्राण अध्वर्यु, अपान प्रतिप्रस्थाता, दिष्टि विशास्ता, बल ध्रुवगोप, आशा हविष्य, अहोरात्र इध्मवाह और मृत्यु शमितास्वरूप हैं।[1] आशा रूप हविष्य के बल पर अहोरात्र चलने वाले जीवन-यज्ञ की इतनी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। अकेला यही एक रूपक ताण्ड्यब्राह्मण के रचयिता की प्रकृष्ट साहित्यिक प्रतिभा के प्रति हमें विश्वस्त करने के लिए पर्याप्त है।

नर-नारी-सम्बन्ध पर आधृत रूपक :

लौकिक जीवन में मिथुन भाव के प्रति मानव-मन में सहज और स्वाभाविक आकर्षण देखा जाता है। इसको अत्यन्त प्रीतिमयी और आनन्दकारिणी क्रिया समझकर जन सामान्य इसके प्रति सर्वाधिक उत्कण्ठित रहता है—इसी कारण मानवीय अभिरुचि को ध्यान में रखकर स्थान-स्थान पर ताण्ड्यकार ने मिथुनभाव के विभिन्न रूपक प्रस्तुत किये हैं; यथा- 'मिथुनमिव वा एषा व्याहृतिः पवस्वेति पुंसो रूपं वाच इति स्त्रियाः सोमेति पुंसो रूपम् चित्राभिग्ति मिथुनमेवैभ्यो यज्ञमुखे दधाति प्रजननाय।'[2]

अभिप्राय यह कि मन्त्र विशेषगत अंश 'पवस्व' पुरुषरूप है, 'वाचः' स्त्रीरूप है—इस मन्त्र के प्रयोग से पुरुष और स्त्री का मिथुनभाव सम्पन्न हो जाता है जो प्रजनन हेतु से युक्त है।

इसी मिथुनभाव पर आधृत दो रूपक छान्दोग्य ब्राह्मण में साङ्गोपाङ्गरूपेण प्रस्तुत किये गये हैं—पहले रूपक में वामदेव्यसाम और उसकी विभिन्नभक्तियों के सन्दर्भ में कहा गया है कि पुरुष के द्वारा नारी को किया गया संकेत हिङ्कार है, उसे प्रसन्न करने के लिए मीठी-मीठी बातें कहना प्रस्ताव है, सहशयन उद्गीथ है, प्रत्येक प्रिया से अनुकूल व्यवहार प्रतिहार और मैथुन करना निधन स्वरूप है—

"उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधननेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्।"[3]

---

1. तां० ब्रा० 25.18-4
2. तां० ब्रा० 4.2.11
3. छा० ब्रा० 2.13.1

दूसरे रूपक में नारी-सम्बन्ध का निरूपण अग्नि रूप में है।[1] तदनुसार स्त्री की उपस्थेन्द्रिय समिध है, क्योंकि उससे वह पुत्रादि उत्पन्न करने के लिए समिद्ध होती है, सहवास-हेतु पुरुष के द्वारा स्त्री का उपमन्त्रण (मनाना) धूम है, उपस्थेन्द्रिय ज्वाला है, सहवास की विभिन्न स्थितियाँ अंगाररूप तथा आनन्द स्फुलिङ्ग स्वरूप है—

"योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समित् यत् उपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः।"

संवत्सर का रूपक :

ताण्ड्य ब्राह्मण में पक्षीस्वरूप महाव्रत को संवत्सररूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि वसन्त ऋतु उसका मुख, ग्रीष्म और वर्षा दो पक्ष, शरदृतु मध्यभाग और हेमन्त पुच्छ है।[2]

आदित्य की देव मधुरूपता :

छान्दोग्य ब्राह्मण में आदित्य का निरूपण देवमधु के रूप में है। द्युलोक उसका तिरछा बांस है, अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें मधुमक्षिका-शिशु हैं।[3]

इस प्रकार रूपकों की यह विराट् सृष्टि, जिसके कतिपय अंश ही निदर्शन स्वरूप ऊपर प्रस्तुत किये गये, ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिताओं के जीवन और जगत् के सूक्ष्म निरीक्षण, प्रभूत कल्पना-शक्ति तथा गहरी अन्तर्दृष्टि की परिचायिका है।

पदावृत्ति और अक्षरावृत्तिजन्य लालित्य :

ब्राह्मण ग्रन्थों में यद्यपि कृत्रिम रूप से किसी प्रकार की चारुता प्रकट करने की चेष्टा परिलक्षित नहीं होती, तथापि वे पदावृत्ति और अक्षरावृत्तिजन्य लालित्य से सुपरिचित प्रतीत होते हैं।

निम्नलिखित अंशों को पदावृत्तिजन्य सौन्दर्य के सन्दर्भ में उदाहृत किया जा सकता है—

"त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते
त्वाऽनुवृदस्यनुवृते त्वा सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत।"[4]

---

1. छा० ब्रा० 5 8.1
2. तां० ब्रा० 21.15.2
3. छा० उप० 3.1.1
4. तां० ब्रा० 1.10.9-10

"निरोहोऽसि निरोहाय त्वा सऽरोहोऽसि सऽरोहाय त्वा प्ररोहोऽसि प्ररोहाय त्वाऽनुरोहोऽस्यनुरोहाय त्वा सवितृ-प्रसूता बृहस्पतये स्तुत ।"[1]

+ + + +

"आक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरसि उत्क्रान्त्यै त्वा सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में त्रिवृत्, सवृत्, प्रवृत् और अनुवृत् पदों की आवृत्ति से लालित्य उत्पन्न करने की चेष्टा दिखलाई देती है। द्वितीय में निरोह, सरोह, प्ररोह तथा अनुरोह और तृतीय में आक्रम, संक्रम, उत्क्रम तथा उत्क्रान्ति पदों की आवृत्ति से नाद-सौन्दर्य लाने का प्रयत्न ब्राह्मणकार ने किया है।

अक्षरावृत्तिजन्य वह चारुत्व, जिसे परवर्ती आलंकारिकों ने अनुप्रास नाम दिया ब्राह्मणग्रन्थों में भी प्राचुर्येण समुपलब्ध है। ऐसा ही एक अंश निदर्शनस्वरूप प्रस्तुत है—

"पाङ्क्तः पुरुषः पांक्ताः पशवस्तया पुरुषश्च पशूंश्चाप्नोति ।"[3]

अक्षरावृत्ति और पदावृत्तिजन्य यह लालित्य ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना-सौष्ठव को अनायास अभिवृद्ध कर देता है।

प्राञ्जल गद्य :

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों का गद्य सहज प्रसन्न, मधुर और मनोहर है। दीर्घ समासों और श्रुतिकटुसन्धियों का इसमें अभाव है। वाक्य रचना प्रसादगुण सम्पन्न है। प्रवाह में कहीं भी अवरोध नहीं आने पाया है। इनमें भी ताण्ड्य ब्राह्मण का गद्य संभवतः गद्यात्मक आलेखन की पराकाष्ठा है। परवर्ती काल में, जब काव्यात्मक दृष्टि प्रमुख हो गई, तब भी इतना सुन्दर गद्य-लेखन सम्भव नहीं हो पाया। सायण ने अपने भाष्यों की गद्य-योजना सम्भवतः ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के गद्य को आदर्श मानकर ही की। सरलता और स्वाभाविकता इस गद्य-रचना के सर्वोपरि गुण हैं। इस गद्य के उदाहरण स्वरूप दो अनुच्छेदांश प्रस्तुत हैं—

"कुले-कुलेऽन्नं क्रियते, तद् यत् पृच्छेयुः—किमिदं कुर्वन्ति इति, इमे यजमाना अन्नम् अत्स्यन्ति—इति ब्रूयुः ।"[3]

तथा—

"वाणं वितन्वन्ति, अन्तो वै वाणोऽन्तो महाव्रतम् तेनैव तदन्तमभिवादयते ।"[4]

---

1. तां॰ ब्रा॰ 1.10.9-10
2. वही 1.10.12
3. वही 2 4 2
4. तां॰ ब्रा॰ 5.6.9
5. तां॰ ब्रा॰ 5.6.12

इस कमनीय गद्य का ही चमत्कार है कि वे पाश्चात्त्य विद्वान् भी, जिन्होंने ब्राह्मणग्रन्थों की घोर आलोचना की है, ब्राह्मणों के गद्य-बन्ध के प्रबल प्रशंसक हैं। एगलिङ्ग का यह कथन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि वैदिक गद्य ही संस्कृत-गद्य की श्रेष्ठ सर्जना है—

"......the only genuine prose works which the Sanskrit, as a popular language has produced "[1]

प्रो० बटकृष्ण घोष ने भी ब्राह्मणग्रन्थकारों के द्वारा वर्ण्यविषय के अनावश्यक विस्तार की जहाँ आलोचना की है, वहीं इनकी भाषा के लयात्मक सौन्दर्य की उन्मुक्तकण्ठ से प्ररोचना भी की है। उन्होंने इसकी तुलना पालि भाषा के धर्मग्रन्थों से की है। उनके कथनानुसार बिना किसी सुविचार्य साहित्यिक संस्कृति के गद्य-रचना की इतनी प्रौढ़ काव्यात्मक शैली का विकास असंभव है।[2]

संश्लिष्ट प्रस्तुति :

ताण्ड्य महाब्राह्मण की रचना अत्यन्त संश्लिष्ट रूप में हुई है। श्रोदर प्रभृति पाश्चात्त्य पंडितों ने[3] ब्राह्मणों पर जिस अरुचिकर विस्तार का आरोप लगाकर उन्हें असामान्य मस्तिष्क और विकृत मनोविज्ञान वाले लोगों की रुचि का विषय बतलाया है, उसका ताण्ड्य ब्राह्मण में पूर्णतया अभाव है। इसके विपरीत कालन्द ने जैमिनीय ब्राह्मण से इसकी तुलना करते हुए ताण्ड्य के वर्णनों को रूपरेखा (Sketchy) मात्र कहा है।[4] सत्य इन दोनों के परे है। वस्तुतः ताण्ड्य ब्राह्मण में

1. Eggling : Sacred Books of East, XII; Page XXV.
2. The prolixity of the Brāhmana-authors is sickening, and yet the texts are not at all perspicuous, in spite of their huge bulk in some cases. But the language with its even rhythm is not without a beauty of its own, strangely like that of the early cononical texts in Pali. They show a fully developed literary style. This is important, for it is much more difficult to develope a literary style in free prose than inverse, and is possible only after considerable literary culture·

   —B. K. Ghosh : The Vedic Age, Page 420.
3. Jeopold Von Schroder ; Indiens Literature and Culture, Page. 114.
4. Caland : The Brāhmana of Twenty Five Chapters, Introduction.

न अनावश्यक विस्तार है और न अधिक संक्षिप्तता। उसमें विषय का सन्तुलित, व्यवस्थित और संश्लिष्ट रूप में प्रस्तवन है जो उसका विशिष्ट गुण है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से सुव्यक्त है कि ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मण आकर्षक काव्य-गुणों से मण्डित हैं। इनमें जहाँ लक्षणाजन्य वचन-विदग्धता है, वहीं उपमा और रूपकों की मनोरम सृष्टि भी; जो निरन्तर नवीनता से हमें आप्यायित करती रहती है। अक्षरों और पदों की आवृत्ति से उत्पन्न लालित्य, संश्लिष्ट प्रस्तुति तथा प्राञ्जल गद्य-बन्ध, ब्राह्मणों की अभिव्यक्ति को नितान्त आकर्षक बना देते हैं। अतएव यह निर्विवाद है कि इसके रचयिता साहित्यिक रुचि से सुसम्पन्न थे।[1]

ब्राह्मण में निहित साहित्यिक सौष्ठव का अभी तक समीचीन रूप से उद्घाटन नहीं हो सका है। राजशेखर ने इसकी आवश्यकता बहुत पहले अनुभव की थी। संभवतः इसीलिए उन्होंने एक नये वेदाङ्ग (अलंकार) का प्रस्ताव भी रखा था—

"उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गम् – इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः (काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय)

किन्तु राजशेखर का प्रस्ताव किन्हीं कारणों से कार्यान्वित न हो पाया और इसीलिए वेद-काव्य का सौन्दर्य अपने सम्पूर्ण सन्दर्भों में हम अब तक न पहचान सके।

संभव है, भविष्य में काव्यात्मक दृष्टि से ब्राह्मणों का विस्तार से अनुशीलन करने पर कतिपय नयी विशेषताएँ सामने आयें, जिनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जा सका क्योंकि वैदिक वाङ्मय कलेवर ही नहीं, गुणात्मक दृष्टि से भी अनन्त है—

अनन्ता वै वेदाः।

---

1. इस सन्दर्भ में श्री ए० शंकरन का यह मत उल्लेखनीय है :—

And the rich poetry, the wealthy illustrations, the high imagination and the elevated thought of the Rgveda and the Upanisads fully testify to the possibility of the exhibition of the literary sense by the Vedic bards.

—A. Sankaran : Some Aspects of Literary Criticism in Sans., Page 5 (Ch. I). Munshiram Manohar Lal, New Delhi.

सप्तम परिच्छेद

सामवेदीय ब्राह्मणों का भाषाशास्त्रीय एवं निर्वचनात्मक अध्ययन

(क) भाषाशास्त्रीय अध्ययन

ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा की उपादेयता :

विषय-वस्तु की जटिलता के कारण और यज्ञतत्त्व के प्रति औदासीन्यवश जो पाश्चात्त्य विपश्चिन्मण्डली ब्राह्मणों की ओर अधिक उन्मुख न हो सकी, उसने भी भाषा की दृष्टि से इन्हें अत्यन्त उपादेय माना है।[1] अधिकांश भाषाशास्त्रियों की अवधारणा है कि ये बहुत अंशों में श्रेण्य संस्कृत तथा वैदिकी की मध्यवर्ती भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें बृहत् परिमाण में एक ऐसी गद्य-शैली का आदर्श उपस्थित किया गया है जो स्वाभाविक और सहज रूप से विकसित है। ब्राह्मणों का गद्य सर्वाधिक प्राचीन और भारतयूरोपीय गद्य का निदर्शन है।[2] इस सन्दर्भ में मैक्डॉनेल का यह कथन उल्लेखनीय है—'भाषा की दृष्टि से प्राचीनतम ब्राह्मण भी संहिताओं के अनेक अर्वाचीन भागों के पश्चाद्वर्ती हैं, तथापि इनमें अद्यावधि लेट् लकार एवं बहुसंख्यक तुमर्थक प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है, जबकि लौकिक संस्कृत में लेट् का सर्वथा लोप हो चुका है तथा तुमर्थक प्रत्ययों में भी केवल 'तुमुन्' ही शेष रह गया है। कुछ सीमा तक ब्राह्मणों का गद्य वैदिक वाक्य-विन्यास की सामान्य विशेषताओं को अधिक अपनाये हुए है, जिनका मन्त्रों में छन्दोऽनुरोधवश पालन नहीं हो सका।'[3]

उपर्युक्त दृष्टि के आलोक में सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा का अनुशीलन विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अपनी संख्या और स्वरूप के कारण ये मन्त्र-संहिताओं तथा श्रेण्य संस्कृत के मध्य, मात्र काल की दृष्टि से ही नहीं, विकास के विभिन्न विन्दुओं के स्थिरीकरण के सन्दर्भ में भी एक सुदीर्घ अन्तराल को समेटे हुए हैं।

1-2. W. D. Whitney : Sanskrit Grammer, Introduction.

3. A. A. Macdonell : A Vedic Grammer for Students, First Chapter.

शतपथ ब्राह्मण के अनन्तर सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों में ही भाषा-सम्बन्धी विकास के विविध चरणों का एकत्र प्रस्तवन है।

सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा का विहंगमावलोकन :

सामान्यतः दृष्टि-निक्षेप करने पर सामवेदीय ब्राह्मणों में भाषा के त्रिविध रूप दिखलाई देते हैं। इनमें से पहला रूप जैमिनिशाखीय ब्राह्मणों में है, जो सर्वप्राचीन है और प्रायः मन्त्र-संहिताओं के निकट है। अपने प्राचीन रूपों और दुरुह वाक्य-रचना के कारण साधारणतया यह समझ में नहीं आती। इसमें अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका सम्प्रति प्रचलन नहीं है। 'वाव, वै, नु, न्वै, न्वाव' और 'हो' निपातों का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। सन्धि में 'ऐ' और 'औ' के पश्चात् स्वर आने पर यकार और वकार छोड़ दिये गये हैं। अनेक प्राचीन तिङन्त-कृदन्त रूप (यथा—'अभियङ्क्तोः', 'भवितोः') व्यवहृत हैं। षष्ठी के स्थान पर बहुधा चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। कतिपय ऐसी ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं, जो सम्प्रति ऋक्-संहिता में ही हैं। इन सभी कारणों से विद्वानों ने प्रायः एक स्वर से जैमिनीय ब्राह्मणों की भाषा को अत्यन्त प्राचीन माना है।[1]

कौथुमशाखीय ब्राह्मणों की भाषा भाषिक विकास के द्वितीय महत्त्वपूर्ण सोपान को समङ्कित करती है। इस भाषा में पंचविंश और षड्विंश ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् निबद्ध हैं। वर्ण्यविषय की अत्यन्त स्पष्ट अभिव्यक्ति, सधी और सुसन्तुलित वाक्य-रचना, प्रायः व्याकरणसम्मत रूपों के प्रयोग एवं अधिकांशतया प्रचलित शब्दावली से युक्त होने पर भी यह भाषा सूत्र-शैली से पृथक् है और वैदिकी के उत्तर रूप की प्रस्ताविका है। लेट् लकार का इसमें भी विपुल प्रयोग है, किन्तु अप्रचलित तिङन्त रूप कम हैं। तुमर्थक कृदन्त प्रत्यय एकाधिक हैं, सन्धियाँ नियमसम्मत होने पर भी यत्र-तत्र प्राचीन अभाव की द्योतक हैं। षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का बहुधा इसमें भी प्रयोग हुआ है।

भाषा के तृतीय रूप के सन्दर्शन, सामविधान, संहितोपनिषद्, देवताध्याय, आर्षेय और वंशाख्य ब्राह्मणों में, जिन्हें अनुब्राह्मण भी प्रायः कह दिया जाता है, होते हैं। इनकी भाषा सूत्र-ग्रन्थों की भाषा के प्रारूप को प्रस्तुत करती है। इनमें व्याकरण से असम्मत प्रयोग स्वल्प हैं, वाक्यों में लाघव और आर्जव की उपलब्धि होती है। यही वह विन्दु है, जहाँ से सूत्र-शैली का सूत्रपात हुआ। उदाहरण के लिए संहितोपनिषद् ब्राह्मण का प्रारम्भ 'अथातः संहितोपनिषदो व्याख्यास्यामः' से

1. W. Caland : The Brāhmana of Twenty Five Chapters; Introduction.
2. B. R. Sharma, Introduction (Jaiminiya Upanisad Brāhmana).

से हुआ है, जो स्पष्ट रूप से सूत्रग्रन्थों की शैली का द्योतक है, क्योंकि अधिकांश सूत्रों के आरम्भ में भी 'अथातः' पद प्राप्त होता है; यथा—मीमांसासूत्र में 'अथातो धर्मजिज्ञासा', ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि। ग्रन्थ के मध्य में भी, जहाँ नवीन विषय का आरम्भ है, 'अथातः' प्रयुक्त है; उदाहरणार्थं देवताध्याय ब्राह्मण के द्वितीय खण्ड के आदि में छन्दों का विवरण देने से पूर्व उल्लेख है—'अथातश्छन्दसां वर्णाः।' पंचविंश और षड्विंश ब्राह्मणों में ईदृश प्रयोग प्रायः अप्राप्य हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण का प्रारम्भ, बिना किसी भूमिका के सोमप्रवाक के द्वारा उच्चार्यं मन्त्र 'महन्मे वोचः' से है। यही स्थिति षड्विंश ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् की भी है।

उन मनीषियों से, जिनकी अवधारणा है कि कौथुमशाखीय सभी ब्राह्मणों की रचना सूत्र-शैली में हुई, हमारा वैमत्य है। हमारी दृष्टि से ताण्ड्य, षड्विंश और छान्दोग्योपनिषद् की भाषा तथा शेष ब्राह्मणों की भाषा में स्पष्ट रूप से विभाजक रेखा विद्यमान है, जिसका आगे सन्धान करने की चेष्टा की जायेगी।

जैमिनिशाखीय ब्राह्मणों की भाषा का अन्तरंग विश्लेषण :

ध्वनि, सन्धि और रूप-रचना की दृष्टि से जैमिनीय ब्राह्मणों की सर्वतोमुखी विवेचना अभी सम्भव नहीं हो सकी है। इसके लिए वस्तुतः एक स्वतन्त्र प्रयास की आवश्यकता है। इन परिमित पंक्तियों में मात्र दिग्दर्शन ही सम्भव है।

ध्वनितत्त्व :

ध्वनियों की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होते हुए भी इस शाखा में ऋग्वैदिक 'ळ' ध्वनि निरपवाद रूप से सुरक्षित है; यथा—'पीळयित्वा'[1] और 'क्रीळा।'[2] इसका उच्चारण बहुत कुछ हिन्दी ध्वनि 'ड़' (ड् और ल के मध्य) के समान है। ऋग्वैदिक भाषा की ही एक दूसरी प्रवृत्ति 'र'कार के स्थान पर 'ल' का प्रयोग भी यहाँ प्राप्य है; यथा—'पुरुषः' के स्थान पर 'पुलुषः'[3] 'दार्भ्य' के स्थान पर 'दाल्भ्य'[4] का व्यवहार। यद्यपि 'दार्भ्य'[5] का प्रयोग भी है।

सन्धियाँ :

जैमि० उप० ब्रा० में सन्ध्यभाव का केवल एक उदाहरण है, उसमें पश्चश्रुति 'य' बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है-'त्रियायुषं कश्यपस्य।'[6] इसी ब्राह्मण में

1. जैमि० उप० ब्रा० 1.2.1.5
2. वही 3.5.6.7
3. जैमि० उप० ब्रा० 3.7.3.13
4. वही 1.12.4.1
5. वही 3.6.1.1
6. वही 4.5.3.1

दोहरी सन्धि के प्रयोग भी दिखलाई देते हैं; उनमें से कतिपय ये हैं–

(1) 'सैवालम्'[1] (स + एव > स एव > सैव)–व्याकरण की दृष्टि से 'स एवालम्' साधु है।

(2) प्रत्यूहेति[2]-(प्रत्यूहे + इति प्रत्यूय + इति प्रत्यूह इति प्रत्यूहेति (व्याकरण-दृष्टि से 'प्रत्यूह इति' साधु है।

(3) एषो एव- (एषः + उ > एष उ > एषो), होना 'एष उ' चाहिए। यह परिवर्तन विसर्ग को 'ओ' में परिवर्तित करने के कारण भी हो सकता है।

ऐसे भी उदाहरण हैं, जब यण् सन्धि के बाद में आने पर 'उ' निपात को पूर्व-शब्द से जोड़ दिया गया; यथा-'प्राणम्वेव[3] (प्राणम् + उ + एव)।

नामरूप

(1) 'ता'[4]–'तद्' (नपुं०) के बहुवचन के साथ ही पुल्लिङ्ग के द्विवचन का रूप भी है।

(2) सप्तमी विभक्ति के एक वचन में नकारान्त शब्दों के 'अन्' अन्त वाले रूप प्राप्त होते हैं–यथा-'हेम्नि' के स्थान पर 'हेमन्'[5]; 'अक्षन्'[6] (-अक्ष्णि के स्थान पर); सामन्[7] (साम्नि के स्थान पर)

(3) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के सप्तमी के एकवचन में ही 'आ'-अन्त वाले रूप भी हैं-'दक्षिणा'[8] ('दक्षिणायाम् के स्थान पर)।

(4) सप्तमी विभक्ति के ही अर्थ में प्राङ्, प्रत्यङ् और उदङ् का प्रयोग भी दिखलाई देता है।[9]

(5) सम्बोधन में 'भगवन्' के स्थान पर 'भगवः' प्रयोग है—'सामैव भगव इति होवाच।'[10]

(6) प्रथमा के बहुवचन में ईकारान्त स्त्री० शब्द 'ईः'-अन्त रूप में प्राप्य हैं-यथा-'यावतीः[11], तावतीः[12], विष्णुवतीः।'[13]

---

1. वही 3.6.3.10
2. वही 1.17.1.8
3. वही 3.2.5.9
4. वही 4.8.3.10
5. जैमि० उप० ब्रा० 1.12.1.6
6. यो यमक्षन्—वही 1.13.2.5
7. सेयमृगस्मिन् सामान् मिथुनमैच्छन-वही 1.17.1.4
8. वही 1.9.1.5
9. वही 1.9.1.3-9
10. वही 1.14.1.1
11. जैमिनीय ब्राह्मण 2.377
12. वही
13. वही 3.91

(7) नामरूपों की दृष्टि से जैमिनीय ब्राह्मण में अन्य भिन्नताएँ भी हैं, जिन्हें पंचविंश ब्राह्मण के साथ तुलना करते समय प्रदर्शित किया जायेगा।

तिङन्त रूप

(1) वाच्य-परिवर्तन– आसिच्यात्[1] (आसिच्येत के स्थान पर, अवादि[2] (अवादीत् के स्थान पर); पश्यते [3] (पश्यति के स्थान पर)।

(2) गण-परिवर्तन–स्पृणाति[4] ('स्पृणोति' के स्थान पर)

पुरुष-परिवर्तन :

'शये' (-शेते के स्थान पर-) का प्रयोग–'एदतनु अहिर्भोगान् पर्याहृत्य शये।'[5]

वचन-परिवर्तन :

'भुञ्जते' का ('भुङ्क्ते' के स्थान पर) प्रयोग-'यदिदं मनसा भुञ्जते'।[6]

अनियमित रूप :

'समैतत् ('समैत्' के स्थान पर) तथा 'अन्वैतत्' ('अन्वैत्' के स्थान पर)।

प्राचीन वैदिक रूपों का प्रयोग :

जैमिनीय ब्राह्मण में 'दुहे' और 'दुहरे' (न्यूनत० चार बार) सदृश प्राचीन क्रिया-रूपों का प्रयोग हैं। मैक्डानेल ने 'दुह्' धातु के विषय में संकेत किया है कि अपने प्रत्ययों के विषय में यह बहुत अनियमित है।[7] मैक्डानेल का कथन यहाँ 'दुह्' के प्राचीन प्रयोगों के विषय में ही है, बाद में विकास के उत्तरोत्तर क्रम से इसमें नियमितता आती गई है।

कृदन्त रूप

तुमर्थक :

तवै[8]-परिवेष्टवै[9]- (परिवेष्टुम् के स्थान पर) तोस्[10]-अभिषङ्तोः[11], पराभवितोः[12] (क्रमशः अभिषङ्क्तुम् तथा पराभवितुम् के स्थान पर)।

---

1. जैमि० उप० ब्रा० 1.1.3.8 2. वही 3.2.4.10
3. न कंचन भ्रातृव्यं पश्यते–वही 1.14.4.6
4. वही 4.7.1.9
5. जैमि० उप० ब्रा० 1.12.1.7 6. वही 2.4.1.7
7. A Vedic Grammer for Students, Fourth Chapter.
8. तुमर्थे...तवै...पाणिनीय सूत्र 3.4.9 9. जैमि० उप० ब्रा० 2.5.3.3
10. पाणिनीय सूत्र (अष्टाध्यायी) 3.4.13 11. जैमि० उप० ब्रा० 2.5.3.2
12. वही 1.17.2.3

अन्य :

पर्यात्तम्[1] (पर्यादत्तत् के स्थान पर)।

वाक्य-रचना

(1) अन्य वैदिक वाङ्मय की भाँति जैमिनीय शाखा के ब्राह्मणों में भी उपसर्गों का प्रायः क्रिया से पृथक् प्रयोग हुआ है। कतिपय उदाहरण ये हैं—'नानुचन बुबुधिरे'[2]—(यहाँ 'उपसर्गाः क्रियायोगे' की दृष्टि से 'अनु' को 'बुबुधिरे' से पूर्व आना चाहिए था), 'प्रमा वह'[3]—(-मा प्रावह—), 'समहं भूयासम्'[4] (अहं संभूयासम्)—इत्यादि।

(2) विभक्ति-व्यत्यय— (क) षष्ठी के लिए चतुर्थी का प्रयोग—

'गायत्र्यै मुखम्' (—गायत्र्याः मुखम्), 'अस्यै मर्त्यम्' (—अस्याः मर्त्यम्); देवतायै सर्वंरूपम् (देवतायाः सर्वं रूपम्)।

(ख) कहीं-कहीं विशेष्य षष्ठी में है, किन्तु विशेषण चतुर्थी में; यथा—'अस्यै वाचो बृहत्यैपतिः'[5] (अस्याः वाचो बृहत्याः पतिः); 'विद्युते विद्योतमानायै (-विद्युतः विद्योतमानायै[6])'।

(ग) षष्ठी के अर्थ में पंचमी—'मत्'[7]—(-मम के अर्थ में)।

(घ) सप्तमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग—एतस्य मुहूर्तस्य (-'एतस्मिन् मुहूर्त्ते'- के अर्थ में); वेदानां गुप्त्यैकम् (–वेदानां गुप्त्यर्थम्)

अप्रचलित शब्दावली

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग है, जो श्रेण्य संस्कृत में प्रायः उसी अर्थं में प्रयुक्त नहीं हैं, जिसमें उपर्युक्त ग्रन्थ में उनका व्यवहार हुआ है। ऐसे कतिपय शब्द उदाहृत हैं—

(क) वशाः (रहना)—'यावदा वशा उ हास्ये मे प्राणा अस्मिंल्लोके।'[8]

(ख) उपरम्—(विशेषण, अर्थ-ऊपर)—पृथिव्युपरम्[9]

(ग) अन्नकाशिनी—(अन्न की इच्छुक)—'ता एनं सृष्टा अन्नकाशिनीरभितः समन्तं पर्यविशन्।'[10]

---

1. जैमि० उप० ब्रा० 2.2.1.7
2. वही 4.8.4.5
3. वही 3.5.1.9
4. वही 3.5.1.3
5. वही 2.1.2.5
6. वही 1.8.2.5
7. वही 1.12.5.1
8. वही 2.4.3.9
6. जैमि० उप० ब्रा० 1.2.3.1
10. वही 1.3.1.1

(घ) इत्यात्—(यहाँ से)—'अथेत्याद् वाति इति ।[1]

(ङ) 'न्वै' तथा 'न्वाव' (निपात)—प्रयोजन है अर्थ पर बल देना ।

(च) अम :—(वह)

(छ) सजातवनस्या[2]—स्वजनों के मध्य श्रेष्ठ होने के लिए की गई प्रार्थना।

कौथुम शाखीय (ताण्ड्य एवं षड्विंश) ब्राह्मणों की भाषा का अन्तरंग विश्लेषण

सामान्यतः कौथुम शाखीय ताण्ड्य एवं षड्विंश ब्राह्मणों की भाषा सरल और स्वाभाविक है, किन्तु कहीं-कहीं वैदिक भाषा के पुरातन रूपों का अस्तित्व उसे इस शाखा के अन्य ब्राह्मणों की भाषा से पृथक् कर देता है ।

सन्धियाँ :

(1) सन्धि-नियमों का दृढ़ता से पालन किया गया है । (2) षड्० ब्रा० में कुछ स्थल ऐसे हैं, जहाँ 'अयादि चतुष्टय' ('य्' अथवा 'व्' की सन्धि—'एचोऽयवायावः' सूत्रजन्य) सन्धि नहीं की गई है; उदाहरणार्थ 'तावु'[3] (तौ+उ) के स्थान पर 'ता उ' तथा 'सन्तिष्ठातायिति' (सन्तिष्ठातै+इति) के स्थान पर 'संतिष्ठाता इति'[4] के प्रयोग उल्लेख्य हैं । (3) ताण्ड्य ब्राह्मण में कतिपय ऋग्वैदिक सन्धियाँ सुरक्षित हैं; यथा—'विचिच्छिदिवाँ अमन्यत्'[5]—(विचिच्छिदिवान्+अमन्यत्)—यहाँ 'आ' के पश्चात् आने वाले पदान्तीय 'न्' से परे पदादिस्वर आने पर 'न' का लोप होकर उपधागत 'आ' अनुनासिक हो गया है ।[6] ऐसी ही एक दूसरी सन्धि है—'अभ्युत्षुण्वन्ति'[7] (—अभि+उत्+सुन्वन्ति)— यहाँ दन्त्य सकार का मूर्धन्यीकरण हुआ है, जिसके लिए 'उपसर्गाद् धातोर्नानापदेऽपि'[8] (—उपसर्ग के वर्ण के निमित्त से कतिपय धातुओं के दन्त्यवर्ण का मूर्धन्य भाव हो जाता है—) का सन्दर्भ ग्राह्य है ।

---

1. वही 1.1.2.6 2. वही 4.5.4
3. ता उ अयातयामानो—षड्० ब्रा० 4.1.18
4. यज्ञः संतिष्ठाता इति—वही 3.4.26 5. तां० ब्रा० 8.9.21
6. Macdonell : Vedic Grammer, Page 68—आ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय 'न्' का अनुनासिक हो जाता है; किन्तु मैक्डॉनेल को कतिपय उदाहरण अनुस्वार होने के भी मिले (—Vedic Grammer for Students, Page 31.)
7. तां० ब्रा० 5.10.6
8. अथर्व प्रातिशाख्य, 3.79 (संपादक—डॉ० सूर्यकान्त) ।

ना म-रूप :

नाम-रूप सामान्यतः नियमित हैं, किन्तु कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार है—

(1) विभक्ति-व्यत्यय--आकारान्त, ईकारान्त और उकारान्त शब्दों के षष्ठी के स्थान पर प्रायः चतुर्थ्यन्त रूप प्रयुक्त हुए हैं। 'अस्याः' के स्थान पर 'अस्यै' का प्रयोग उल्लेख्य है—'त्रयोऽस्यै वर्णाः'[1]; 'चत्वारोऽस्यै वेदाः'[2]; 'अहल्यायै जार':[3]; दीक्षायै वर्णेन तपसो रूपेण'[4]--इत्यादि। इन सभी को क्रमशः 'त्रयोऽस्याः वर्णाः', 'चत्वारोऽस्याः वेदाः', अहल्यायाः जार':, 'दीक्षायाः वर्णेन' होना चाहिए। यों यह वैदिक भाषा की एक अतिसामान्य प्रवृत्ति है। गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि जैमिनीय शाखा के ब्राह्मणों में भी यह पुष्कल-रूपेण प्राप्त होती है। तां० ब्रा० में एक स्थान पर सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग भी इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है—'यां समां महादेवः पशून् हन्ति' (6.9.7) – इसका अभिप्राय है – यस्मिन् संवत्सरे महादेवः पशून् हन्ति।

(2) 'ति' कारान्त शब्दों के चतुर्थी विभक्तिगत रूप 'तये'—से नहीं, 'त्यै' से समाप्य हैं; तथा--'धृत्यै'[5]; 'अरिष्ट्यै'[6]; 'अवरुद्ध्यै'[7]; 'समष्ट्यै'[8]; 'अस्तृत्यै'[9] इत्यादि।

(3) तां० ब्रा० में एक स्थान पर 'ज्योति' का सप्तमी के एकवचन में 'ज्योतौ' रूप (--'ज्योतिषि' के स्थान पर प्राप्त होता है—'ज्योतौ पशुषु प्रतितिष्ठति।'[10] यह आश्चर्यकारक है।

(4) तां० ब्रा० में 'अहन्' शब्द के तृतीया बहुवचन का रूप कहीं भी 'अहोभिः' अथवा 'अहभिः' नहीं है, सर्वत्र 'अर्हभिः' ही है।

(5) ताण्ड्य में ही एक स्थल[11] पर 'रात्रयः' का विशेषण 'विलोमानः' दिया गया है, जिसका व्याकरण सम्बन्धी औचित्य सन्दिग्ध है, यद्यपि सायण ने 'अस्य स्त्रीलिङ्गेऽपि एवं रूपम्' कहकर उसका औचित्य-समर्थन किया है।

(6) षड्विंश ब्राह्मण में प्राचीन वैदिक रूपों की सत्ता प्रायेण नहीं है। यदि कहीं इस प्रकार के रूप हैं भी तो वे वस्तुतः मन्त्र-संहिताओं से उद्धृत अंश हैं;

---

1. षड्० ब्रा० 5.7.2
2. वही 5.7.2
3. वही 1.1.20
4. तां० ब्रा० 1.5.10
5. तां० ब्रा० 11.5.12
6. वही 16.10.10
7. वही 2.5.4
8. वही 2.6.2
9. वही 2.10.5
10. तां० ब्रा० 16.10.2
11. वही 23.19.11

यथा—शविष्ठा या—(–लौकिक—'शविष्ठौ यौ'), वरुणा (–लौकिक 'वरुणौ'); स्कभिता (—स्कभितानि), विश्वा (विश्वानि) ।[1]

(7) 'अक्षिषु' के स्थान पर 'अक्षसु'[2] का प्रयोग है, जो वस्तुतः 'अक्षन्' से निष्पन्न प्राचीन रूप है ।

(8) 'भिषक्' का (—भिषजम् के स्थान पर) प्रयोग है—'भिषक् कृत्वा ।[3]

समास

समस्त पद के मध्य में भी क्रिया रख दी गई है; यथा 'विष्णु अगन्वरुणा'[4] (—'विष्णुवरुणा' होना चाहिए) । इस देवता द्वन्द्व समास के दोनों पद सविभक्तिक हैं और इनके मध्य में धातु-रूप 'अगन्' रख दिया गया है ।

विशुद्ध वैदिक शब्दों का प्रयोग

षड्० ब्रा० में कतिपय विशुद्ध वैदिक शब्दों का प्रयोग दिखलाई देता है, जो लौकिक संस्कृत में इस रूप में अप्रयुक्त हैं । ये हैं—

(क) ऊर्क[5] (ओज, बल);

(ख) अमुर्हि[6] (परे)

(ग) यज्ञ के 'जज्ञ'[7] रूप में होने वाले उच्चारण का उल्लेख किया गया है । यह उच्चारण उत्तरी भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है ।

तिङन्तरूप

(1) अन्य वैदिक ग्रन्थों की भाँति कौथुमशाखीय ताण्ड्यादि ब्राह्मणों में भी उपसर्गों का क्रिया से अयुक्त रूप में पृथक् से बहुधा प्रयोग है ।[8]

(2) ताण्ड्य में लेट् लकार का प्रचुर प्रयोग है[9], किन्तु षड्विंश में केवल एक बार

---

1. षड्० ब्रा० 1.5.15
2. वही 1.7.2
3. वही 1.6.4
4. वही 1.5.15
5. षड्० ब्रा० 5.3.6
6. वही 3.4.9
7. यज्ञो वा अथ जज्ञ इत्याहु—वही 1.3.16
8. षड्० ब्रा० के ऐसे कतिपय स्थल ये हैं - व्येव…सृजते (विसृजते एव के स्थान पर)—5.5.3; व्येवोहन्ति (व्यूहन्ति एव, 4.1.9; समत्रिणं दह (अत्रिणं सन्दह के स्थान पर)—3 4.13; उप माह्वयस्व—2.5 2 इत्यादि ।
9. तां० ब्रा० से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—
धिनवत (4.10.1); वृश्चान् (6.5.12); जयात् (7.2.2); स्तवातै (8.9 21); उच्यातै (9.1.16); व्यवान् (7.1.9); ऋच्छाद् (7.5.6) इत्यादि ।

ही है—'सन्तिष्ठातै ।'[1]

(3) 'हन्ति' के स्थान पर 'हर्ते'[2] प्रयोग उल्लेखनीय है ।

(4) 'वव्रे'[3] का एकवचन में प्रयोग हुआ है ।

(5) 'इच्छति' अथवा 'इच्छेत्' के स्थान पर 'इच्छते'[4] का व्यवहार है ।

(6) 'पा' धातु के लट् लकार (बहुवचन) में परस्मैपदी रूप 'पिबन्ति' के स्थान पर आत्मनेपदी 'पिबन्ते'[5] का प्रयोग है ।

(7) 'नयति' के स्थान पर 'नेति' तथा 'अवैक्षन्त' के स्थान पर 'अवेक्षन्त'[6] प्रयोग भी उल्लेख्य हैं ।

(8) 'नावयन्ति'[7] तथा 'प्रवोचत'[8] प्रयोग भी सामान्य परम्परा से हटकर हैं ।

कृदन्त रूप

(1) जैमिनीय ब्राह्मण की भाँति ताण्ड्य में भी बहुसंख्यक तुमर्थक कृदन्त प्रत्यय है । उदाहरण के लिए कतिपय तुमर्थक कृदन्त रूप ये हैं–अस प्रत्ययान्त–' निर्मृजः[9], निर्दहः'[10]–इत्यादि ।

तोस् प्रत्ययान्त–अप्रतिष्ठातोः ।[11]

अम् प्रत्यान्त—प्रैषम् ।[12]

(2) षड्०ब्रा० में 'स्वरित वाचयित्वा' के स्थान पर 'स्वस्ति वाच्य' का प्रयोग है ।[13]

वाक्य रचना

जैसा कि पहले कहा गया है, कौथुमशाखीय ताण्ड्यादि ब्राह्मणों की वाक्य–रचना सामान्यतः अत्यन्त व्यवस्थित और नियम-सम्मत है, तथापि कतिपय विशेष प्रयोग उल्लेखनीय हैं:—

(1) ताण्ड्य ब्राह्मण में एक स्थल पर 'अलम्' का चतुर्थ्यन्त पद के स्थान पर षष्ठ्यन्त पद के साथ प्रयोग है-'योऽलं प्रजायाः सन् प्रजां न विन्दते ।'[14] इसी ब्राह्मण में चतुर्थ्यन्त पद के साथ भी 'अलम्' प्रयुक्त है-'योऽलं ग्रामाय ।'[15]

1. षड्० ब्रा० 3.4.26
2. वही 3.4.9
3. वही 1.4.16
4. वही 2.5.1; 2.6.1; 2.7.1
5. वही 3.4.6
6. षड्० ब्रा० 1.7.2
7. वही 4.2.24
8. वही 3.4.6
9. तां० ब्रा० 2.2.3
10. वही 2.17.3
11. वही 19.9.5
12. वही 14.4.7
13. षड्० ब्रा० 6.10.5
14. तां० ब्रा० 18.5.9
15. वही 18.5.8

(2) 'मीमांसते'–क्रिया-पद के साथ चतुर्थी का प्रयोग भी द्रष्टव्य है-'तस्मै जाताया अमीमांसन्त ।'[1] उपर्युक्त वाक्य 'तस्मिन् जाते अमीमांसन्त' के अर्थ में है। सप्तमी का भी इस सन्दर्भ में ब्राह्मणकार ने प्रयोग किया है-'यांसल्पे वोदके वा विवाहे वा मीमांसेरन् ।'[2]

जैमिनीय और कौथुमीय ब्राह्मणों की भाषा की तुलनात्मक विवेचना

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उभय शाखीय ब्राह्मणों में विभक्ति व्यत्यय (षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग), उपसर्गों की क्रियापदों से पृथक् स्थिति, लेट् लकार के रूपों का प्रयोग और अप्रचलित वैदिक शब्दावली के व्यवहार आदि की दृष्टि से अनेक समानताएँ हैं, किन्तु काल-क्रमानुसार भाषा में होने वाले बहुविध परिवर्तनों की दृष्टि से दोनों में विद्यमान अन्तर को भी सरलता से लक्षित किया जा सकता है। तद्विषयक कतिपय प्रमुख बिन्दु ये हैं:—

(1) जैमिनीय ब्राह्मण और ताण्ड्य महाब्राह्मण की विषयवस्तु यद्यपि एक है, तथापि प्रथम ग्रन्थ की भाषा जहाँ बहु-आयामी और विस्तार से विवेचन करने वाली है, वहीं ताण्ड्य में सुसंगठित और सुसम्बद्ध भाषा का प्रयोग सामासिक प्रतिपादन-शैली की प्रतीतिकारक है।

(2) ताण्ड्य में नकारान्त शब्दों के सप्तमी एकवचन में 'इ'-अन्त वाले रूप ही प्रायः व्यवहृत हुए हैं—यथा-आत्मनि, चर्मणि, अहनि, सामनि इत्यादि। केवल एक बार 'आत्मन् धत्ते' जैसा 'अन-अन्त' रूप है। इसके विपरीत जैमि० ब्रा० में 'अन्' से समाप्य सप्तम्यन्त रूपों का बाहुल्य है। यत्र-तत्र ही 'राजनि'[3], 'चर्मणि'[4], 'वर्ष्मणि'[5] सदृश इ-अन्त वाले रूप दिखते हैं।

(3) ताण्ड्य में प्रायः निरपवाद रूप से ईकारान्त शब्दों के प्रथमा बहुवचन में 'यः' से अन्त होने वाले रूप हैं, जबकि जैमि० ब्रा० में 'ईः' से अन्त वाले रूप हैं। दोनों के ईदृश रूपों की तालिका यों हैं—

---

1. तां० ब्रा० 12.10.15
2. वही 23.4.2
3. जैमि० ब्रा० 2.25
4. वही 2.405
5. वही 2.376

जैमिनीय ब्राह्मण	ताण्ड्य ब्राह्मण
यावती:[1]	यावत्य:[8]
तावती।[2]	तावत्य:[9]
विष्णुवती:[3]	विष्णुवत्य:[10]
प्रत्नवती:[4]	प्रत्नवत्य:[11]
पुरोडाशिनी:[5]	पुरोडाशिन्य:[12]
आप्री:[6]	आप्रिय:[13]
प्रवती:[7]	प्रवत्य:[14]

(4) उकारान्त शब्द 'तनु' का द्वितीया में जैमिनीय ब्राह्मण में 'तन्वम्'[15] प्रयोग प्राप्य है, जबकि ताण्ड्य में 'तनूम्[16] है।

(5) 'अस्थि' शब्द के प्रथमा-द्वितीया के बहुवचन में जैमिनीय ब्राह्मण में 'अस्थानि'[17] रूप में प्रयोग है, जबकि ताण्ड्य में 'अस्थीनि'[18] रूप में।

(6) युष्मद् शब्द के प्रथमा द्विवचन में जैमिनीय ब्राह्मण में 'युवम्'[19] रूप का प्रयोग है, जबकि ताण्ड्य में 'युवाम्'[20] का।

(7) वैदिक सर्वनाम 'त्व' का जैमिनीय ब्राह्मण में अनेकधा व्यवहार हुआ है, जबकि ताण्ड्य में केवल एक बार है।[21] यहाँ भी सायण के अनुसार 'त्व' नहीं प्रयुक्त है-'तासाम् तु एव=तासान्त्वेव।'

(8) क्रियापदों की दृष्टि से भी जैमिनीय ब्राह्मण में प्राचीन वैदिक रूप अधिक सुरक्षित हैं, जबकि ताण्ड्य में अपेक्षाकृत लौकिक संस्कृत-नियमों से युक्त रूप अधिक हैं। 'दुह' धातु के जैमिनीय ब्राह्मण में जहाँ 'दुहे' तथ 'दुहरे' (न्यूनतम

---

1. जैमि० ब्रा० 2.377
2. वही
3. वही 3.91
4. वही 2.12
5. वही 2.287
6. वही
7. वही 2.16
8. तां० ब्रा० 4.2.7
9. वही
10. वही 13.3.1
11. वही 11.1.2
12. वही 21,10.10
13. वही 15.8.1
14. वही 11.5.1
15. जैमि० ब्रा० 3.82; 178
16. तां० ब्रा० 12.12.3
17. जैमि० ब्रा० 1.252; 345; 347
18. तां० ब्रा० 9.8.1; 13
19. जैमिनीय ब्राह्मण
20. तां० ब्रा० 21.1.1
21. वही 4.1.2

चार बार) सदृश रूप व्यवहृत हैं, वहीं ताण्ड्य में 'दुग्धे' और 'दुहते' जैसे नियमित रूप हैं।

(9) केवल ऋक्संहिता में प्राप्त 'ओषम्' (अर्थ-शीघ्रतापूर्वक) क्रियाविशेषण का जैमिनीय ब्राह्मण में न्यूनतम तीन बार प्रयोग है, जबकि ताण्ड्यकार ने 'ओषम्' के स्थान पर 'क्षिप्रम्' का प्रयोग किया है—दोनों ही ब्राह्मणों के तद्विषयक अंश क्रमशः इस प्रकार है :—

जैमिनीय ब्राह्मण–'एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमहन् ओषम् एवं द्विषन्तम् भ्रातृव्यम् हन्त्य, ओषम् श्रियम् अश्नुते य एवं वेद।'[1]

ताण्ड्य महाब्राह्मण–'एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमहन्; क्षिप्रं वा एताभिः पाप्मानम् हन्ति, क्षिप्रं वसीयान् भवति।'[2]

कौथुमशाखीय शेष ब्राह्मणों की भाषा का अन्तरंग परिचय

ताण्ड्येतर सामविधानादि ब्राह्मणों की भाषा-ध्वनि, पद तथा वाक्य-रचना के सन्दर्भ में पूर्णतया सूत्रग्रन्थों के सदृश है। प्रचीन वैदिक प्रयोगों का पूर्णतया अभाव है। लघुकाय वाक्यों में सरलता से बिषय की प्रस्तुति है। सन्धि आदि व्याकरण सम्मत हैं। आर्षेय ब्राह्मण की रचना शैली तो प्रायः अनुक्रमणिकाओं का स्मरण कराती है। निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि भाषा के इस रूप का लौकिक संस्कृत से प्रायः सर्वतोभावेन तादात्म्य है।

भाषा पर संगीत का प्रभाव

सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा पर विचार करते समय इस प्रश्न की मीमांसा अप्रासङ्गिक नहीं है कि भाषिक विकास की प्रक्रिया में संगीत की क्या भूमिका है?

इस सन्दर्भ में कथ्य यह है कि स्थायी रूप से गान-प्रक्रिया ने केवल गान-ग्रन्थों की भाषा को ही प्रभावित किया है। ऋचा में गान की दृष्टि से स्तोभादि की योजना तथा विभिन्न विकारों का समायोजन करने से गान और तद्गत विभिन्न निश्चित रूप से ऋग्विलक्षण स्वरूप से सम्पन्न हुए हैं किन्तु ब्राह्मणों की भाषा पर गान-प्रक्रिया कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सकी है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से साम-वेदीय संगीत का मात्र इतना अवदान है कि इन ब्राह्मणों में गानविषयक पुष्कल पारिभाषिक शब्दावली संगृहीत हो गई है।

---

1. जैमि० ब्रा० 1.205
2. तॉ० ब्रा० 12.13.23

निष्कर्ष :

सामवेदीय ब्राह्मणों की भाषा के उपर्युक्त परिशीलन से मन्त्र-संहिताओं तथा श्रेण्य संस्कृत के मध्य विद्यमान विकास-क्रम के तीन सोपानों को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। सर्वशाखीय ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा में सामान्यतः एकरूपता होने पर भी कतिपय पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाली विशेषताएँ भी हैं, जिनकी ओर तत्तद् ब्राह्मणविशेष के अनुशीलन से ही निर्देश किया जा सकता है।[1] इस दृष्टि से सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त और ऊपर उल्लिखित विशेषताएँ भाषिक अध्ययन की दिशा में महत्त्वपूर्ण तथ्यों को पुरस्कृत करती है।

(ख) निर्वचन

शाबरभाष्य के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों के 10 प्रतिपाद्य विषयों में द्वितीय स्थान निर्वचन का है।[2] यद्यपि मन्त्र-संहिताओं में भी अनेक निर्वचन उपलब्ध होते हैं, किन्तु इस प्रक्रिया का विधिवत् प्रारम्भ ब्राह्मणों में ही हुआ।[3] यास्क ने भी अपनी निरुक्तियों की प्रामाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए स्थान-स्थान पर 'इति ब्राह्मणम्' तथा 'इति ह विज्ञायते' सदृश कथनों का आश्रय लिया है।[4]

ब्राह्मणों में निर्वचन-परम्परा का विकास अभिव्यक्ति-सौष्ठव और सौकर्य के साथ ही पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाले एक समर्थ साधन के सन्दर्भ में भी दिखलाई देता है।

सामवेदीय कौथुमशाखीय ताण्ड्यादि ब्राह्मणों में कुल 76 निर्वचन हैं, जिनका पृथक्-पृथक् विवरण इस प्रकार है-ताण्ड्य ब्राह्मण-45; षड्विंश-05; सामविधान-01, देवाताध्याय-15; छान्दोग्य ब्राह्मण (केवल उपनिषद् भाग में)-10। ताण्ड्यगत निरुक्तियों में सर्वाधिक हैं सामों के नामों की–इन 32 निर्वचनों के माध्यम से ताण्ड्यकार ने साम-नामों में निहित गौरव को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। अन्य निर्वचनों में आठ याग-नाम उल्लेख्य हैं, शेष सामान्य निरुक्तियाँ हैं। षड्विंश

---

1. Broadly speaking, the language of the Brāhmanas is homogeneous. At the same time, however, everyone of the older Brāhmana texts has its own minute linguistic peculiarities.
—B. K. Ghosh: The Vedic Age, page 420.
2. मीमांसा सूत्र-शाबरभाष्य (2.1.8)
3. 'निर्वचन' तथा 'निरुक्ति' शब्द सर्वप्रथम सामवेदीय ब्राह्मणों में ही आये हैं — देवताध्याय ब्राह्मण 3.1 तथा छा० उ० 8.3.3
4. निरुक्त 1.3.8; 2.5.17; इत्यादि।

में गान सम्बन्धी निरुक्ति केवल एक है—धूर्गान विषयक । सामविधान ब्राह्मण ने केवल 'साम' शब्द का तथा देवताध्याय ब्राह्मण ने छन्द-नामों का निर्वचन किया है । जिसका निरुक्त से बहुत साम्य है ।

इनके अतिरिक्त जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मणों में भी बहुसंख्यक निरुक्तियाँ हैं, जो एक पृथक् और स्वतन्त्र अध्ययन का विषय बन सकती हैं । अकेले जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में ही प्रायः इन तीस शब्दों के निर्वचन प्राप्त होते हैं-आङ्गिरस, अयास्य, अक्षर, अन्तरिक्ष, अवर्य, असु, असुर, आदि, आदित्य, उरस्, ऋच्, गायत्र, देवश्रुत, पतङ्ग, पश्यत, प्रतिहार, प्रसाम, प्रस्ताव, बृहस्पति, भीमल, मधुपुत्र, महीया, रुद्र, वसु, वैश्वामित्र, शतसनि, सजात, समुद्र, साम, सिन्धु, सुवर्ग और हरि ।

निर्वचन के प्रमुख सिद्धान्त :

इन निर्वचनों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि निर्वचन करते समय ब्राह्मणकार के मस्तिष्क में निम्नलिखित तथ्य प्रमुख रूप से निहित रहे हैं—

(1) शब्दार्थ की व्याख्या करते समय यथाशक्य ध्वनि और रूप-रचना को भी स्पष्ट कर देना ।

(2) रूप-रचना में केवल प्रकृति ही नहीं, प्रत्यय, समास और लोकप्रयोगवत्ता की ओर भी संकेत कर देना ।

(3) जहाँ उपर्युक्त प्रक्रिया असम्भव हो, वहाँ केवल अर्थमात्र स्पष्ट कर देना ।

(4) ब्राह्मणकार नामकरण का आधार पदार्थ की किसी क्रिया को मानते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति क्रिया के माध्यम से की गई है ।

(5) अधिकांश निर्वचन इसके ज्ञापक हैं कि त्रिविध शब्द-व्याख्या की जिस परम्परा का उल्लेख यास्क ने किया है, उसका विकास ब्राह्मणों में ही हो गया था । इस दृष्टि से प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति[1] -तीनों प्रकार के निर्वचन प्राप्त होते हैं । अनेक स्पष्ट क्रिया वाले निर्वचन शब्द-व्युत्पत्ति को तत्काल स्पष्ट कर देते है; कतिपय निर्वचन विशेष विवेचना के अपेक्षी दिखलाई देते हैं और अतिपरोक्ष-वृत्ति वाले प्रयोगों में शब्द अपनी प्रकृति से संस्कारादि (विकारादि) के कारण बहुत दूर हटे प्रतीत होते हैं । इन्हें देखने से सामान्य व्यक्ति इनकी व्युत्पत्ति का अनुमान नहीं कर सकता ।[2]

1, निरुक्त 1-1 की टीका में दुर्गाचार्य का कथन है- 'त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था- प्रत्यक्षवृत्तयः, परोक्षवृत्तयः अतिपरोक्षवृत्तयश्च । तत्रोत्कटक्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः, अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः ।

2, निरुक्त 2.1

(6) निर्वचनों में लोक-प्रचलन का विशेष आग्रह है—इस दृष्टि से आख्यायिका और आभाणकों का पूरा-पूरा सन्दर्भ दिया गया है।

निर्वचनों का पृथक्-पृथक् विवेचन निम्नोक्तवत् है—

साम-नामों के निर्वचन

अधोलिखित नामों का केवल अर्थ बतलाया गया है, ध्वन्यंश के स्पष्टीकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया—

अर्कपुष्प—देवगण के द्वारा अन्न को 'अर्क' और रस को पुष्प कहने के कारण नामकरण सम्पन्न हुआ।[1] यास्क ने √'अर्च' से इसकी व्युत्पत्ति की है।[2]

अच्छिद्र—इससे देवों ने दिन अथवा तद्गत अनुष्ठान का छिद्र (न्यूनता) बन्द किया।[3] संभवत: ताण्ड्यकार का संकेत नञ् समास (न छिद्रम् इति अच्छिद्रम्) की ओर है। यों सामान्यत: :छिद्र' 'शब्द' √छिद्' से 'रक्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना जाता है।

पुष्कल—इससे प्रजापति ने पुष्कल (बहुसंख्यक) पशुओं की सृष्टि की।[4] सामान्यत: √पुष् + कलच् से निष्पन्न समझा जाता है।

बृहत्—प्रजापति के मन में यह साम बृहत्काल तक निवास करता रहा।[5]

ध्वन्यंश-व्याख्यापरक निर्वचन—**अभीवर्त**—अभि + '√वृत्' से, देवों ने इसके द्वारा स्वर्ग लोक की प्राप्ति की।[6]

अरिष्ट—√रिष् (हिंसायाम्) धातु से नञ् समासपूर्वक। इस साम-प्रयोग से शत्रु हिंसित नहीं कर सकते।[7] इस प्रकार 'अ + रिष् + क्त' से यह निष्पन्न है।

आज्य—'आजि' शब्द से, जिसका अर्थ है मर्यादा; आजि + √इण् (गतौ) से; प्रतियोगिता के लिए निश्चित सीमा को (दौड़कर) प्राप्त किया।[8] 'पिघले घी' अर्थ के वाचक 'आज्य' शब्द की निरुक्ति (आ + अञ्ज् + क्यप्) से यह भिन्न है।

आज्यदोह—ये तीन साम 'आचीदोह' या 'आच्यादोह' भी कहलाते हैं। कालन्द ने 'आच्या' को विकृत माना है; किन्तु निर्वचन 'आच्य' को आधार मानकर ही

---

1. तां० ब्रा० 15.3.23
2. अर्कमन्नं भवति···—निरुक्त 5.4
3. तां० ब्रा० 14.9.36
4. वही 8.5.6
5. वही 7.6.5
6. वही 4.3.2
7. वही 12.5.23
8. आजिमस्मिन्नितेति त आजिमायन्यदाजिमायंस्तदाज्यानामाज्यत्वम्।—तां० ब्रा० 7.2.1

ब्राह्मणकार ने किया है—'यदाच्या दुग्धे तदाच्यादोहानामाच्यादोहत्वम्'।[1] इसका अभिप्राय है कि घुटने मोड़कर दूध दुहने की क्रिया से यह नामकरण सम्पन्न हुआ। जैमिनीय ब्राह्मण में 'आज्य' नाम से ही इसकी व्युत्पत्ति दी गई है—वहाँ 'आजि' का अभिप्राय है लोक, उन्हीं के दोहन से ये साम सम्बद्ध हैं—'इमे वै लोका आजयो नाम, तेषामेते दोहा, दुह इमान् लोकान् य एवं वेद।'[2]

आमहीयव—आङ्+√मह् (पूजायाम्) से; सृष्ट प्रजा ने इससे महत्त्व प्राप्त किया।[3]

आशुभार्गव—खोये हुए दिन को देवों ने इस साम से शीघ्र प्राप्त किया।[4]

आप्री[5]—आ+√प्री से; प्रजापति ने इनसे अपने को संतुष्ट किया।

औशन—'√उशनस्' से 'अण्' प्रत्यय लगकर यह निष्पन्न हुआ है। उशना यहाँ वायु का नाम बतलाया गया है।[6]

कालेय—√कल (क्षेपे) से 'ढक्' प्रत्यय के योग से; असुरों को इस साम से निकाल फेंका गया।[7]

गौङ्गव—√गुङ् (अव्यक्ते शब्दे) से[8]; जैमिनीय ब्राह्मण में 'गंगणि' से निष्पन्न माना गया है।[9] तां०ब्रा० ने इसका एक वैकल्पिक निर्वचन '√गर्द' से भी माना है[10]—जो स्वरूपतः परोक्ष ही नहीं, अतिपरोक्षवृत्ति हो गया है।

च्यावन—'√च्यु' (गतौ) से, णिजन्त, ल्युट् और उसके स्थान पर अन होकर निष्पन्न हुआ है। प्रजापति ने इसके द्वारा वृष्टि कराई।[11]

तैरश्च्य—तिरश्च्य से; तिर्यक् रूप से वर्तमान साम के द्वारा सर्वत्र गमन के कारण यह नाम पड़ा।[12] यह भी अतिपरोक्षवृत्ति न सही, परोक्षवृत्ति तो है ही।

---

1. तां० ब्रा० 21.2.5
2. जैमि० ब्रा० 2.255
3. यदमहीयन्त तस्मादामहीयवम्—तां० ब्रा० 7.5.1
4. तां० ब्रा० 14.9.10
5. तां० ब्रा० 15.8.2 ऋ० सं० के ये 10 आप्री सूक्त पशुयाग में प्रयाज आहुतियों से सम्बद्ध किए गये हैं।
6. तां० ब्रा० 7.6.19
7. तेन एनान् एभ्यो लोकेभ्योऽकालयन्त यदकालयन्त· तस्मात्कालेयम्—तां० ब्रा० 8.3.1
8. यदगङ्गूयत् तत् गौङ्गवस्य गौङ्गवत्त्वम्—तां० ब्रा० 14.3.19
9. जैमि० ब्रा० 3.185
10. तां० ब्रा० 14.3.19
11. यदाच्यावयत् तत् च्यावनस्य च्यावनत्वम्—तां० ब्रा० 13.5.13
12. तिर्यङ्पर्यवैत् तस्मात् तैरश्च्यम्—तां० ब्रा० 12.6.12

त्रैककुभ —त्रिककुप् से ।[1]

धूर्गान—'√धूर्' (हिंसागत्योः से; (धू+क्विप्) ।[2]

नानद—√नद् (अव्यक्ते शब्दे) से; इन्द्र जब किसी अन्य उपाय से वृत्र को न मार सके, तब उनके द्वारा किया गया शब्द ही नानद हो गया ।[3]

पर—'√पृ' से; इन्हीं से देवों ने आदित्य को स्वर्ग में पहुँचाया ।[4]

पराक् —पराक् से, जिसका अर्थ है न्यग्भूत । इससे पुरुष का दुःख कम हो जाता है ।[5]

जैमिनीय ब्राह्मण में इसका निर्वचन अधिक स्पष्ट रूप से किया गया है—"पराञ्च्येव स्तोत्राणि भवन्ति, पराञ्चि शस्त्राणि, पराञ्चि पृष्ठानि, पराचीर्विष्टुतयः, परानेव सर्वो भवति ।' इस प्रकार 'पराक्' में विपरीत क्रम का अभिप्राय है । 'पराञ्च्' अव्यय का अर्थ ही मुड़ना है ।

भरद्वाज का अदारसृत —दार को 'दर' से और 'सृत' को 'सृ' से नञ्प्रक्रिया से व्युत्पन्न माना गया है—हम दर अर्थात् गर्त में न गिरें—'अनेन दारे (दरे श्वभ्रे-सायण) नासृन्मेति तददारसृतोऽदारसृत्त्वम्'—(तां०ब्रा० 15.3.7) । कालन्द ने 'सृ' से निष्पन्न 'असारिष्म' मानने का सुझाव दिया है, 'असृन्म' को वे अशुद्ध रूप मानते हैं ।

भास- √भा (दीप्तौ) से[6];

योधाजय- युधाजित् से; युधाजय+अण् । युधाजित् इन्द्र का नाम है । युद्ध से शत्रुओं को जीतने से सम्बद्ध व्युत्पत्ति भी दी गई है ।[7]

रथन्तर-रथम् तरति इति (रथ+√तृ से) । देवों की (रथ) वाहनभूत वाणी के समीप यह साम शीघ्रता से गया ।[8] सायण के अनुसार वाणी अक्षितभाव से

---

1. तां० ब्रा० 8.1.4
2. यदधूर्वन्, तत् धुरां धूस्त्वम्—षड्० ब्रा० 2.3.4
3. यदस्तृता व्यनदत् तत् नानदस्य नानदत्वम्—तां० ब्रा० 12.13.4
4. तां० ब्रा० 4.5.3
5. पराङ् एव एतेन स्वर्गं लोकमाक्रमते, यद्वा एतस्याकं तदस्यपराक्, तत्पराकस्य पराकत्वम्—तां० ब्रा० 21.8.2-3
6. स व्यरोचत यद्वै तद्भा अभवत् तद्भासस्य भासत्वम् —तां०ब्रा० 14.11.14
7. वही 7.5.14 तथा 15
8. रथमर्त्र्याः क्षेप्लातारीदिति तद् रथन्तरस्य रथन्तरत्वम्—तां० ब्रा० 7.6.4 ताण्ड्य में ही आगे रथन्तर को देवरथ कहा गया है —'देवरथो वै रथन्तरम्'—तां० ब्रा० 7.7.13

गई। कालन्द का 'क्षेप्ला' के स्थान पर 'क्षेप्णा' पाठ मानने का आग्रह है।

रौरव– रु (शब्दे) से अथवा '√रुर' (+अण्) से। तां० ब्रा० में 'रुर' अग्नि का पर्याय बतलाया गया है।[1]

वामदेव्य– इसकी व्युत्पत्ति 'वाम' और 'देव्य' को पृथक्-पृथक् मान करके की गई है। 'वाम' का अर्थ है वननीय–सुन्दर धन (सायण के अनुसार)। 'देवों के मध्य रमणीय धन उत्पन्न हुआ है साम के रूप में'—मित्रावरुण के इस कथन के आधार पर नामकरण सम्पन्न हुआ।[2] कालन्द के अनुसार 'देवीषु' के स्थान पर 'देवेषु' को केवल व्युत्पत्ति के आग्रह से ही ब्राह्मणकार ने रखा है।[3]

शाक्वर साम और तद्गत चार अवान्तर नाम—ये सभी निर्वचन अतिपरोक्ष-वृत्ति से किये गये हैं। शक्वरी–√शक्';[4] 'सिमा'–√सि(+मनिन्, से[5], शिरोमध्य में प्रहार करने के कारण। महन्या–शिर फूटने के अनन्तर होने वाला तीव्र घोष जो शब्द-रचना का आधार है।[6] ताण्ड्यकार ने 'महन्या' से ही 'महानाम्नी' की निरुक्ति की है। कालन्द ने 'महन्या' को विस्मयसूचक अव्यय माना है।[7] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र ने 'महानाम्नी' संज्ञक मन्त्रों से महान् आत्मा की सृष्टि की–अभिप्राय यह कि 'आम्नी' पद आत्मा का उपलक्षक है।[8]

संहित—सम्+√धा से; देवों ने सम्यक् रूप से स्थापित किया।[9]

संकृति—तां० ब्रा० ने 'देवस्थान' और 'संकृति' संज्ञक सामों का निर्वचन एक साथ किया है। देवस्थान में रहकर देवों ने संस्कृति से संस्कार किया।[10] इस प्रकार 'संकृति' शब्द ब्राह्मणकार के अनुसार सम्+√कृ से निष्पन्न हुआ है।

सफ—सम्+'√आप्' में इसका निर्वचन किया गया है, जो अतिपरोक्षवृत्ति का परिचायक है—देवों ने इससे लोकों को सम्यक्रीत्या प्राप्त किया।[11]

---

1. तां० ब्रा० 7.5.10-11
2. तां० ब्रा० 7.8.1
3. 'in the waters, instead of 'देवीषु' etymologiae causa !-Caland, Eng. Trans. page 153.
4. एतेन शक्नुहि इति तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्।
5. सीमानमभिनत् तत् सिमा।
6. महन्यमकरोत् तन्महन्या महान् घोष आसीत् तन्महानाम्न्यः-तां० ब्रा० 13.4.1
7. तां० ब्रा० का आंग्लानुवाद, पृष्ठ 317
8. इन्द्रो वा एताभिर्महानात्मानं निरमिमीत। तस्मान्महानाम्न्यः। सिमा-ता ऊर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजन। यदूर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत तत्सिमा अभवन्। तत्सिमानां सिमात्वम्।—ऐत० ब्रा० 22.2
9. तां० ब्रा० 8.4.9
10. वही 15.3.29
11. वही 15.11.5

सत्रासाहीय—इसका निर्वचन सत्रा+असाहीय रूप में किया गया है। 'सत्रा' का अर्थ है अन्तिम रूप से। दूसरा पद '√षह्' (अभिभवे) से निष्पन्न है। सम्पूर्ण अर्थ है—इस साम की सहायता से असुरों को अन्तिम रूप से जीत लिया।[1]

साम—सामवेदीय ब्राह्मणों में इसकी तीन व्युत्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'सा' (ऋचा) और 'अम' (गान) वाली निरुक्ति बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध है क्योंकि यह जैमिनीय ब्राह्मणों में भी है। अन्य निरुक्तियों में समता का सन्दर्भ उल्लेखनीय है—छा० उप० और सामविधान ब्राह्मण दोनों में ही समता पर बल दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का अभिप्राय सम् (परिणाम) से निष्पन्न मानने का प्रतीत होता है। लौकिक संस्कृत में प्रसन्न करने के अर्थ में 'साम' शब्द '√साम्' (सान्त्वप्रयोगे) से निष्पन्न माना जाता है; किन्तु ब्राह्मणों का उस पर बल नहीं है।

साकमश्व —इसका निर्वचन 'अश्वेन साकम् साकमश्वम्' रूप में किया गया है।[3]

सौभर—सु+√भृ (भरणे)+अण् से।[4]

अन्य निर्वचन

साम-नामों से भिन्न अन्य निर्वचनों में याग सम्बन्धी और लोकविषयक शब्दों का प्राचुर्य है।

अप्तोर्याम —√आप् से; देवों ने जिसकी कामना की, उसी को इससे प्राप्त किया—

'यं यं काममकामयन्त तम् तमाप्नुवन्, तदप्तोर्य्यामत्वम्' (तां० ब्रा० 20.4.5)। लौकिक संस्कृत में सामान्यतः इसका विग्रह यों किया जाता है—'अप्तोः (शरीरस्य पावकत्वात्) याम (नियम) इव'—शरीर को शोधित करने वाले नियम के समान। 'याम' शब्द 'यम' से 'घ' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न माना जाता है।

अश्व—यह अश्वत्रिरात्रगत अंश है। इसकी निरुक्ति √श्वि (गतिवृद्धयोः) से अभिप्रेत है, क्योंकि प्रजापति की फैली हुई आँख ही अश्व हो गई।[5] तैत्तिरीय-

---

1. यद्वा असुराणामसोढमासीत् तद्देवाः सत्रासाहीयेनाऽसहन्त सत्रैनानसक्ष्महीति तत्सत्रासाहीयस्य सत्रासाहीयत्वम्।—वही 12.9.21
2. सर्वदा समः, तेन साम मां प्रति मां प्रति इति सर्वेण समस्तेन साम —छा० उप० 2.9.1, तथा—'समा उ ह वा अस्मिन् छन्दांसि साम्यादिति तत्साम्नः सामत्वम्'– सामवि० ब्रा० 1.1.13
3. तां० ब्रा० 8.8.4
4. वही 8.8.16
5. प्रजापतेर्वा अक्षि अश्वयत् तत् परापतत् तत् अश्वोऽभवत्। तत् अश्वस्य अश्वत्वम्—तां० ब्रा० 21.4.2

संहिता में भी 'अश्वमेध' गत 'अश्व' शब्द की प्रायः इसी शब्दावली और मिथक में व्युत्पत्ति की गई है।[1] प्रतीत होता है, तां० ब्रा० में इसे वहीं से लिया गया।

असुर—'असुर' शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ प्रायः प्रचलित हैं—(1) 'असून् राति इति' अर्थात् प्राणप्रदः; इसमें 'असु' शब्द 'अस्' से निष्पन्न माना जाता है।

(2) नञ् समासवाली व्युत्पत्ति—'न सुर' इति। किन्तु ब्राह्मणकार ने इन दोनों से भिन्न व्युत्पत्ति दी है—'यदसूर्यं तदसुराणाम् असुरत्वम्।'[5] 'असूर्यम्' अर्थात् सूर्य जिसमें न हो—रात्रि। सामान्यतः 'सूर्य' शब्द '√षूञ्' (प्रसवे) अथवा '√सृ' (सरणार्थक) से निष्पन्न माना जाता है।

आङ्गिरस—छा० उ० में प्राण को आङ्गिरस कहा गया है, क्योंकि वह सम्पूर्ण अंगों का रस अर्थात् सारभूत तत्त्व है।[2]

आयास्य—यह भी प्राण की ही संज्ञा है, जो आस्य (मुख) + '√अद् (भक्षणे) से निष्पन्न है।[3] निरुक्त में 'आस्य' की निरुक्ति '√अस्' से प्रदर्शित है—'आस्यम् अस्यतेः आस्यन्दते एतत् अन्नम्।'[4] लौकिक संस्कृत में 'आस्य' पद 'अस्यते ग्रासोऽत्र' विग्रह पूर्वक √'अस् + ण्यत्' से व्युत्पन्न माना जाता है।

आयु—'आ + यु' से; इस याग से देवों ने असुरों को प्राणों से वियुक्त किया—'आयुषा' वै देवा असुरान् आयुवत'—(तां० ब्रा० 16.3.1)।

ऋत्विक्—'ऋत्व्य' से ताण्ड्यकार ने इसे व्युत्पन्न बतलाया है, जिसका अर्थ है ऋतुकालगत गर्भ का कारणभूत (बीज), उसी बीज से ऋत्विकों की सृष्टि सम्पन्न हुई।[6] जैमिनीय ब्राह्मण (तृतीय प्रपाठक) में 'ऋत्व्य' के स्थान पर 'ऋत-विय' प्राप्त होता है, जो अधिक नियमानुकूल है। लौकिक संस्कृत में 'ऋत्विक्' शब्द 'ऋतु + यज् + क्विन्' से निष्पन्न समझा जाता है।

यागविषयक शेष शब्द—गो—एकाह याग के वाचक इस शब्द की व्युत्पत्ति √'गोवय' धातु से मानी गई है, जो केवल यहीं प्राप्त होती है।[7] सायण ने वैक-ल्पिक रूप से '√गम्' से भी व्युत्पन्न करने की चेष्टा की है। 'गोवय' का अर्थ है तिरोहित करना। देवों ने इस याग से असुरों को तिरोहित कर दिया।

1. तैत्तिरीय संहिता 5.3.12.1   2. षड्० ब्रा० 5.1.1
3. एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः—छा० उप० 1.2.10
4. एतमु एव आयास्यं मन्यन्ते आस्यात् यत् अद्यते—वही 1.2.12
5. निरुक्त 1.3.
6. स (प्रजापतिः) आत्मनि ऋत्व्यमपश्यत् तत ऋत्विजोऽसृजत यत् ऋत्व्यात् असृजत तत ऋत्विजाम् ऋत्विक्त्वम्। —तां० ब्रा० 10.3.1
7. यद्वै देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो गोवयंस्तद् गोर्गोत्वम्—तां० ब्रा० 16.3.1

यज्ञ—सामान्यतः 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से 'नङ्' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न समझा जाता है, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में इसे 'या' (गतौ) से निष्पन्न बतलाया गया है—यज्ञ चलते हुए सभी को पवित्र करता है—'यदेष यज्ञ इदम् सर्वं पुनाति।'[1]

वाजपेय—'√वज्' से (घञ्) के योग से निष्पन्न; ब्राह्मणकार को संभवतः 'वाज' शब्द के अनेक अर्थों में से पंख अर्थ ही अभिप्रेत हैं। 'पेय' शब्द यद्यपि '√पा' (+ण्यत्) से भी व्युत्पन्न हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणकार ने, प्रतीत होता है, पंख तथा स्वर्ग से संगित बनाये रखने के लिए 'आप' (प्रापणे तथा व्याप्तौ) से निरुक्ति की है, जो परोक्षवृत्तिगत हो गई है।[2]

विघन—वि+'हन्' से; इसके अनुष्ठान से सभी शत्रुओं को नष्ट किया।[3]

विश्वजित्—विश्व+'जि' (जयार्थक) से; इन्द्र ने इससे विश्व-विजय की थी।[4]

लोकवाचक शब्द

भूति—'भू' से निष्पन्न; अस्तित्व में आई सी प्रतीत होती है।[5]

अन्तरिक्ष—'अन्तर्+'ईक्ष+घञ्'—यह व्युत्पत्ति लौकिक दृष्टि से की जाती है; किन्तु ब्राह्मणकार ने (पृथ्वी और द्युलोक के) मध्य होने के कारण यह नामकरण सम्पन्न होना माना है।[6]

दिव—'दिव्' (द्युतौ) से निष्पन्न।[7]

क्रिया में क्रिया का सन्धान–'स्वपिति'—शब्द का निर्वचन छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार 'स्वम् अपीतः' (अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है) है।[8] 'स्वप्' (शयनार्थक) स्वयं धातु है और 'स्वपिति' उसके लट् लकार के एकवचन का रूप है, किन्तु यहाँ उसमें भी तीन अंश-स्वम्, अपि, इतः (गत्यर्थक 'इ' धातु)—मानकर

1. छा० उप० 4.16.1
2. तां० ब्रा० 18.7.1
3. वही 19.19.1
4. वही 16.4.5
5. अभूत् इव वा इदमिति तद्भूमेर्भूमित्वम्। —वही 20.14.2
6. अन्तरेव वा इदमिति तदन्तरिक्षस्य अन्तरिक्षत्वम्। — वही
7. अद्युतद् इव वा अद इति तद्दिवो दिवत्वम्। —वही
8. यत्र एतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनम् स्वपिति इत्याचक्षते स्वं हि अपीतो भवति।'
   —छा० उप० 6.8.1

निर्वचन किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मणकार ने धातु के भी मूल तक पहुँचने की चेष्टा की है।

छन्द-नामों के निर्वचन

देवताध्याय ब्राह्मण के तृतीय खण्ड में छन्द-नामों के जो निर्वचन प्राप्त होते हैं, वे निरुक्त (7.3.12.13) में यथावत् उद्धृत हैं। उन निर्वचनों में कहीं कहीं यास्क ने कतिपय मतान्तरों को भी सम्मिलित कर दिया है, जो देवताध्याय ब्राह्मण में प्राप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ ब्राह्मण में गायत्री का मात्र इतना ही निर्वचन है— 'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः। गायतो मुखादुदपतत् इति हि ब्राह्मणम्' किन्तु यास्क ने इसके साथ ही 'त्रिगमना वा विपरीता' और जोड़ दिया है। सभी निरुक्तियाँ इस प्रकार हैं—

गायत्री—स्तुत्यर्थक 'गै' अथवा 'गै' और 'पत्' से क्योंकि गाते हुए मुख से गिर पड़ी।

उष्णिक्—उत्+'स्ना' (स्नान करना) अथवा उत्+'स्निह' (कान्त्यर्थक) से; या उष्णीष (पगड़ी) युक्त गायत्री की अपेक्षा चार अक्षर अधिक हैं–इसके कारण।

ककुप्—ककुद् (शिखर या शृङ्ग) रूप से, ककुप् और कुब्ज दोनों 'कुज्' (वक्र) या 'उब्ज' (दबना) से। इसी प्रकार अनुष्टुप् (अनु+'स्तुभ्'), पिपीलिका (गत्यर्थक 'पेल' से अथवा पिपीलिकमध्या होने से) बृहती ('बृह' से) विराट् (वि+'रम्' अथवा वि+ 'राज' से) पंक्ति (पाँच पद होने के कारण), त्रिष्टुप् (त्रि+ 'स्तुभ्') से अथवा तेज छन्द होने के कारण), जगती ('गम' से) और निचृत् (नि+'चृत' से) के निर्वचन हैं। भुरिक् की व्युत्पति 'भृ' (भरण) से बतलाई गई है।

इनमें से 'निचृत्' और 'भुरिक्' के निर्वचन इसी क्रम में निरुक्त में नहीं प्राप्त होते।

देवताध्याय ब्राह्मण और निरुक्त दोनों में ही 'इति हि ब्राह्मणम्'-के उल्लेख से यह सम्भावना भी प्रशस्त होती है कि दोनों ने ही इन निरुक्तियों को किसी अन्य समान स्रोत से लिया है।

कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण निर्वचन

पितृ—सामान्यतः रक्षार्थक 'पा' से (तृच प्रत्यय के योग से) लोक में 'पितृ' की व्युत्पत्ति की जाती है, किन्तु ब्राह्मणकार ने उसे 'पीतत्व' से सम्बद्ध किया है। सायण के अनुसार 'पीतत्व' पीत वर्ण का द्योतक नहीं है,-वह वस्तुतः 'पा' (पाने) से (क्विप् के योग से निष्पन्न है, क्योंकि पितृगण अमृत-पान करते हैं।[1]

1. यत् पीतत्वं तत् पितृणा पितृत्वम्।-षड्० ब्रा० 5.1.1

सत्य—छान्दोग्य उपनिषद् में 'सत्य' शब्द का निर्वचन करते हुए तीन अक्षरों-सकार, तकार और यम् का सम्बन्ध क्रमशः अमृत, मर्त्य और दोनों के नियामक से प्रदर्शित है।[1] निरुक्त में भी शाकटायन के मत[2] को उद्धृत करते हुए 'सत्य' में तीन वर्णों का अस्तित्व माना गया है—'इ' (जाना) का प्रेरणार्थक रूप 'य' अन्त में और 'अस्' के मूल-रूप 'स' को आदि में रखा गया है।[3]

हृदयम्—इसे मध्य स्वर-लोप का उदाहरण समझाकर छान्दोग्य में 'हृदि अयम्' रूप में व्युत्पन्न बतलाया गया है।[5] लौकिक संस्कृत में 'हृदय' को ही 'हृद्' आदेश हो जाता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त निरुक्तियों के विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्यों की स्थापना होती है—

(1) सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्वचन का प्रयोजन मुख्यतः सोमयागगत शब्दों एवं गान-नामों की व्याख्या करना है।

(2) पद को भाषा की आधारभूत इकाई मानकर उसका प्रकृति और प्रत्ययगत वैयुत्पत्तिक विश्लेषण ही नहीं, अपितु समास, तद्धित रूप में भी प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, समासार्थ और तद्धितार्थ तक को इंगित करने की चेष्टा की गई है।

(3) वर्ण के आगम, लोप और विकारादि का नाम्ना उल्लेख न करते हुए भी ब्राह्मणकार उनसे परिचित प्रतीत होते हैं।

(4) अनेक निर्वचन इस तथ्य को दृढ़ता से रेखाङ्कित करते हैं कि कभी-कभी ब्राह्मणकार शब्द (-परिभाषिक शब्द के सन्दर्भ में विशेष रूप से-) के मूल अर्थ की चिन्ता न करके अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल अर्थ में निर्वचन कर लेते हैं। उदाहरण के लिए गो, अश्व, असुर, यज्ञ और स्वपिति के निर्वचन प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें निर्वचन को विशिष्ट बनाने का स्पष्ट प्रयत्न है।

(5) 'स्वपिति' का निर्वचन आख्यात के भी आख्यात के सन्धान की प्रक्रिया का द्योतक तो है ही, प्रत्ययांश में भी आख्यातत्व को निगूढ़ समझने का परिचायक है।

(6) छन्दों के निर्वचनों में लालित्यमयी दृष्टि की पहचान स्वतः हो जाती है।

(7) प्रायः सभी निर्वचन इस सन्दर्भ में आश्वस्त करते हैं कि निर्वचन-प्रक्रिया में ब्राह्मणकारों ने वैयाकरण की नहीं, नैरुक्त की दृष्टि से कार्य किया है और प्रक्रिया एवं परम्परा के बन्धन में बँधकर नहीं, पर्याप्त स्वतन्त्रता से निर्वचन प्रस्तुत किये हैं।

---

1. तानि ह वा एतानि त्रीणि अक्षराणि सतीयमिति तद् यत् सत् तत् अमृतम्, अथ यत् ति तन्मर्त्यम्, अथ यत् यम् तेन उभे यच्छति।—छा० उप० 8.3.5

2-3. यथ अनन्वितेऽर्थे अप्रादेशिके विकारे पदेभ्य. पदेतरार्द्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं च अन्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं च सकारादिं च। —निरुक्त 1.4.13

अष्टम परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्त आख्यायिकाएँ और उनका औचित्य

ब्राह्मण ग्रन्थ आख्यायिकाओं के अनन्त आकर हैं।[1] प्राचीन काल से ही वैदिक व्याख्यान एवं विचार की दृष्टि से इनकी उपादेयता असन्दिग्ध रही है। बृहद्देवताकार शौनक एवं निरुक्तकार यास्क प्रभृति ने ऐतिहासिकों और आख्यानविदों को वेदार्थ-मीमांसकों के आठ सम्प्रदायों के मध्य स्थान दिया है। मीमांसाकार जैमिनि और उनके भाष्यकार शबरस्वामी ने भी वेद-विचार-प्रसंग में इनकी उपयोगिता का उपपादन किया है।

प्राचीन भाष्यकारों के अनुसार आख्यायिका का प्रयोजन :

शंकराचार्य के अनुसार आख्यायिका का मूल प्रयोजन प्रतिपाद्य विषय की सरल प्रस्तुति तथा विद्या-दान की समुचित विधि का प्रदर्शन है—

आख्यायिका तु सुखावबोधार्था विद्यासम्प्रदानन्यायप्रदर्शनार्था च।'[2]

मीमांसा सूत्र 'गुणवादस्तु' पर भाष्य करते समय शबरस्वामी ने अर्थवादगत प्ररोचना अथवा निन्दा को ध्यान में रखकर वैदिक विधियों की वर्णना की दृष्टि से इन्हें उपयोगी समझा है—यद्यपि वे इन्हें कल्पित अथवा असत्य मानने के पक्ष में हैं—

'असद्वृत्तान्तान्वाख्यानम्, स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्। इहान्वाख्याने वर्तमाने द्वयं निष्पद्यते—यच्च वृत्तान्तज्ञानम्, यच्च कस्मिश्चित् प्ररोचना द्वेषो वा। तत्र वृत्तान्तान्वाख्यानं न प्रवर्त्तकं चेति प्रयोजनाभावादनर्थकमित्यविवक्षितम्; प्ररोचनया तु प्रवर्ततेद्वेषान्निवर्तते-इति तयोर्विवक्षा।'[3]

---

1. Macdonell, A.A.—The chief human interest of these Brāhmanas lies in the numerous myths and legends, which they contain.—A History of Sanskrit Literature, Page 175.
2. छा• उप० 5.11 पर शांकरभाष्य (अवतरणिका)।
3. मीमांसा सूत्र 1.2.10 पर शाबर भाष्य।

आख्यायिका के विभिन्न नाम :

पाश्चात्य विद्वानों ने यद्यपि इन्हें 'मिथ' (Myth) और 'लीजेण्ड्स' (Legends), जिन्हें हिन्दी में क्रमशः दैवत कथा और पुराण कथा के रूप में प्रायः अनूदित किया गया है, के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया है, किन्तु निरुक्त, बृहद्देवता और स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही इन अर्थवादमयी कथाओं के सन्दर्भ में आख्यान, अन्वाख्यान, पवित्राख्यान, आचिख्यासा, इतिहास आदि शब्दों का बहुधा प्रयोग हुआ है।[1] जहाँ तक 'आख्यायिका' शब्द है, उसका प्रयोग वैदिक वाङ्मय में केवल तैत्तिरीयारण्यक[2] में है। सायण ने अपने भाष्यों में प्रायः इन आख्यानों के लिए आख्यायिका शब्द का ही प्रयोग किया है, यथा—

'अथैतस्य साम्नो विश्वमनसस्सम्बन्धं पापहननहेतुताञ्च प्रतिपिपायिषुराख्यायिकामाह।'[3]

कालान्तर से 'आख्यायिका' शब्द वैदिक आख्यानों की वाचकता से कुछ दूर हट गया और लौकिक संस्कृत में साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने कवि-वंश कीर्तनयुक्त लौकिक कथा के अर्थ में उसे रूढ़ कर दिया। पाणिनीय सूत्र 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (4.3.87) पर प्राप्त वार्तिक 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' से ज्ञात होता है कि यह शब्द नायिकाओं के नाम पर रचे गये लौकिक कथाग्रन्थों-यथा 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' आदि— के सन्दर्भ में प्रचलित हो गया।

'आचिख्यासा' का निरुक्त के अनुसार अर्थ है— कहने की इच्छा—'आख्यातुमिच्छा।'[4] शौनक ने इसके उदाहरणस्वरूप एक सृष्टिविषयिणी कथा दी है। षड्विंशगत यह वृत्त कि सृष्टि से पहले केवल ब्रह्म और सुब्रह्म थे, आचिख्यासा के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों में प्राप्त समस्त सृष्टि-कथाओं का सन्निवेश 'आचिख्यासा' के अन्तर्गत किया जा सकता है। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य में सृष्टि-कथाओं को 'पुराण कथा' के अन्तर्गत स्थान दिया है, जो उपयुक्त भी है, क्योंकि परवर्ती काल में पुराणों में सृष्टि अथवा सर्गपरक आख्यानों को प्राथम्य प्राप्त हुआ।

दैवत एवं पुरातनकथा (MYTHS AND LEGENDS) :

चैम्बर के विश्वकोश के अनुसार 'मिथ' (Myth) में आदि मानव की अमानवीय घटना विषयक धारणा की मानवीय रूप में प्रस्तुति रहती है।[5] वैदिक सन्दर्भ

1. बृहद्देवता 1.58, निरुक्त 6.9
2. तैत्तिरीयारण्यक 1.6.3
3. तां० ब्रा० 15.5.20–भाष्य
4. निरुक्त 7.3
5. A myth embodies in human form primitive man's conception of a non-human action—Chamber's Encyclopaedia, Page 170, 1904.

में 'Myth' की व्याख्या करते हुए मैक्डॉनेल का कथन है कि यह धर्मप्रेरित कथा है, जिसमें कल्पना-बल से मूल प्राकृतिक घटना का मानवीकरण की प्रक्रिया के अनुसार एक ऐसा रूप हमारे सम्मुख उपन्यस्त किया जाता है कि हम उस कथा के पात्रों, प्रसंगों एवं सिद्धान्तों में विश्वास करने लगें।[1] इस परिभाषा को ध्यान में रखने पर 'Myth' में ये तत्त्व प्रतीत होते हैं— (1) प्राकृतिक घटना (2) कल्पना तत्त्व (3) धार्मिक प्रेरणा (4) मानवीकरण और (5) विश्वसनीय प्रस्तुति।

भारतीय पुराणकथाओं के अर्थ में पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा व्यवहृत 'Legend' शब्द मूलतः लैटिन भाषा के 'Legenda' शब्द से निष्पन्न है, जिसका अभिप्राय है पढ़ने योग्य। आरम्भ में 'Legend' शब्द किसी साधु अथवा सन्त की जीवन-कथा से सम्बद्ध रहा है तथा इसके गर्भ में इतिहास की परम्परा के निर्वाह की भावना भी निहित रही है।[2] समय के प्रवाह में दैवत एवं पुराणकथाएँ जनसामान्य की ऐसी विश्वसनीय निधि बन जाती हैं कि उनके मूल तथ्य-कथ्य का लोप हो जाता है और वे मात्र पुराणकथाएँ रह जाती हैं। धर्मानुरागी जन-मानस के लिए यह निधि अत्यन्त परिपोषकारिणी सिद्ध होती हैं।

वैदिक आख्यानों की प्रकृतिमूलकतावादी व्याख्या की अपूर्णता :

19 वीं शती में पाश्चात्त्य विद्वानों ने 'मिथ' और 'लीजेण्ड' के उपर्युक्त पश्चिमी साँचे में वैदिक आख्यानों को ढालने की यद्यपि प्रभूत चेष्टा की; आर्य-द्राविड़-संघर्ष तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक निराधार कल्पनाओं के आश्रय से वैदिक वाङ्मय के 'पवित्राख्यानों' की व्याख्या कर यह सिद्ध करने का विपुल प्रयत्न किया कि ये आख्यान एक असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य जाति के प्रारम्भिक इतिहास मात्र के प्रस्तावक हैं; किन्तु आज इनके निष्कर्षों के प्रति सामान्यतः विद्वानों में आस्था नहीं है और वेद के कतिपय व्याख्याता वेद व्याख्या के प्रसंग में सर्वथा नवीन सरणि और भिन्न दृष्टिकोण अपनाकर अपेक्षाकृत अधिक स्वीकार्य निष्कर्ष प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। वेद के इन नवविचारकों में योगी श्रीअरविन्द का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने वैदिक आख्यानों की प्रतीकवादी व्याख्यापद्धति का पुरोवर्तन कर इस दिशा में नवीन सम्भावनाओं का संकेत दिया है—उदाहरण के लिए वृत्रविषयक आख्यान की प्रतीकगम्यता का प्रतिपादन करते हुए उनका कथन है-'यदि वृत्र जल, मेघ और वर्षा के प्रतीक हैं तो वेद प्राकृतिक घटनाओं का एक प्रतीकवाद है जिसमें इन प्राकृतिक घटनाओं को देवों और ऋषियों तथा उपद्रवी

---

1. Macdonell, A.A. : Vedic Mythology, Introduction, Page 1-8.
2. Cassell's Encyclopaedia of Literature (ed. by S.H. Steinburg, Vol. I Part I, London, 1953), Page 339.

दैत्यों का सजीव रूप देकर वर्णित किया गया है; और यदि 'वृत्र' द्राविड़ देवता हैं तथा 'पणि' मानवीय शत्रु हैं तो वेद द्राविड़ भारत पर प्रकृतिपूजक जंगलियों द्वारा किये गये आक्रमण का एक कवितामय तथा कथात्मक उपाख्यान है। किन्तु इस सबके विपरीत यदि वेद प्रकाश और अन्धकार, सत्य और अनृत, ज्ञान और अज्ञान, मृत्यु और अमरता की आध्यात्मिक शक्तियों के मध्य होने वाले संघर्ष का एक प्रतीकवाद है तो यही वास्तविक वेद हैं और यही सम्पूर्ण वेद का यथार्थ आशय है।'[1]

इस सन्दर्भ में हमारा दृष्टिकोण न तो पूर्णतया मैक्डानेल आदि के निष्कर्षों के गतानुगतिक अनुगमन का आग्रही है और न ही वेद के आध्यात्मिक विचारकों के अतिवाद का, जो वैदिक वाङ्मय में ऐतिहासिक तथ्यों के अस्तित्व को पूरी तरह अस्वीकार करने का पक्षधर है। श्री अरविन्द और स्वामी दयानन्द की इतिहास-रहित वेद-व्याख्याएँ मंत्र-संहिताओं के सन्दर्भ में निःसन्देह किसी अंश तक प्रासंगिक हो सकती है, किन्तु जहाँ तक ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्य आख्यानों की ऐतिहासिक संरचना के विवेचन का प्रश्न है, उसमें इतिहास ही नहीं, लोक-परम्परा अथवा लोकतत्त्व के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। सम्भवतः उपर्युक्त आध्यात्मिक महापुरुष भी ब्राह्मणों में इतिहास मानते रहे होंगे, अन्यथा वे वेद की सीमा से ब्राह्मणों को बाहर न रखते।[2]

ब्राह्मणोक्त आख्यानों की संरचना के प्रमुख तत्त्व :

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन आख्यानों का मूलाधार किसी परम्परा अथवा इतिहास पर ही प्रतिष्ठित है। निरुक्त के अनुसार बिना किसी सुदृढ़ आधार के आख्यान को (जन-) समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता।[3] परम्परा का कोई आधार उनके लिए आवश्यक है। आख्यानों में प्रयुक्त 'ह', 'वै', 'नु', 'वा', 'वै' - प्रभृति निपात भी इसके द्योतक हैं कि आख्यानों के रचयिता भी उन्हें प्राचीन मानते थे।

इतिहास के साथ ही लोक-तत्त्वों की भी इनमें सत्ता है, यद्यपि आज उनको पहचानने के लिए गम्भीर और प्रमाणिक विश्लेषण की आवश्यकता है। लोक-साहित्य के गॉम, लैग, क्रैप आदि विशेषज्ञों ने मानवशास्त्रीय (Anthropological)

1. वेदरहस्य, पूर्वार्द्ध, 23वाँ अध्याय, पृष्ठ 320; पाण्डिचेरी, 1971
2. श्री अरविन्द ने अपनी व्याख्या-पद्धति के लिए ब्राह्मणों को अधिक उपयोगी नहीं समझा है (द्रष्टव्य-वेदरहस्य, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ 47, पाण्डिचेरी, 1971)। स्वामी दयानन्द ने केवल संहिताओं को ही वेद माना है (द्रष्टव्य-ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)
3. निरुक्त 6.7

आधार पर यह अभिमत प्रकट किया है कि प्राचीन प्रथा एवं कथा दोनों की ही जीवनाधार परम्परा होती है और उन्हीं के अवशिष्टांश दैवत कथा में सुरक्षित रहते हैं।[1] सर जेम्स फ्रेजर[2] ने इससे भी एक पग आगे बढ़कर लोक साहित्य का मूलाधार खोजने की चेष्टा की है और उनके अनुसार मानव-मन के प्राचीन अवशेष[3] लोक साहित्य में निहित और सुरक्षित होते हैं।

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थ आज आख्यानों के साहित्यिक रूप को ही उपस्थित करते हैं और वह भी एक विशिष्ट सन्दर्भ में, तथापि उनके लोकाधार के सुदृढ़ होने के कारण उनमें लोकतथ्यों के सन्निविष्ट होने की सम्भावना स्वाभाविक है। प्रो० एफ० एन० राबिन्सन का यह मत आंशिक रूप में यहाँ ग्राह्य प्रतीत होता है कि सरल लोकप्रिय परम्परा से ही साहित्य के अंग अपना रूप ग्रहण करते हैं।[4]

आख्यानों की संरचना के उद्देश्य पर विचार करते समय मुख्य रूप से अर्थवाद को ही हम आख्यान के मूल में निहित पाते हैं। किसी विधि अथवा वस्तु की सार्थकता के प्रतिपादन या स्पष्टीकरण के लिए कथात्मक शैली को स्वीकार करना उस भारतीय मन के लिए अत्यन्त सुविधापूर्ण है जो स्वभाव से ही कथाप्रिय हैं। ब्राह्मण ग्रन्थकारों के द्वारा अपनाई गई यह कथात्मक शैली परवर्ती काल में भी अत्यन्त आग्रह से अनुवर्तित हुई। इसकी लोकप्रियता का आकलन मात्र इस तथ्य से किया जा सकता है कि जिन बौद्ध धर्मावलम्बी आचार्यों ने ब्राह्मणग्रन्थोक्त कर्मकाण्ड का प्रबल विरोध कर याग का बहिष्कार किया; उन्होंने ही अपनी उपदेश-शैली में बिना किसी संकोच के ब्राह्मणग्रन्थों में प्रवर्तित आख्यान-प्रणाली को अपना लिया। बौद्ध जातकों के साथ उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अट्ठकथाओं' की वही भूमिका है, जो ब्राह्मणोक्त विधियों के सन्दर्भ में अर्थवादात्मक आख्यान-आख्यायिकाओं की।

---

1. G. L. Gomme: Ethnology in Folk-lore, 1892
   Andrew Lang: Custom and myth; 1884,
   A. H. Krappe: The Science of Folk-lore, 1930.
2. Sir James Frazer: The Golden Bough (1911-1919).
3. 'अवशेष' पुरावनस्पतिविज्ञान के पारिभाषिक शब्द 'Fossils' का अनुवाद है जिसके लिए 'जीवाश्म' अथवा 'जीवावशेष' शब्द भी कोषकारों के द्वारा निर्दिष्ट हैं।
4. Robinson. F.N. : The highest products of literary art are derived from simple elements of Popular tradition.
   —Popular prose-Fiction, page 222 (collected in Harward Classics, ed. by Charles W. Eliot).

याग-विधियों के प्ररोचनापरक अपने उद्देश्य के प्रति ब्राह्मण इतने सतर्क रहते हैं कि कभी-कभी कथा अधूरी रह गई प्रतीत होती है। कथा-प्रस्तुति के समय उनका मुख्य मन्तव्य विधि-विधानों की सम्पुष्टि अथवा किसी अनुष्ठान या उससे सम्बद्ध शस्त्र, स्तोत्र अथवा द्रव्य की आवश्यकता तथा औचित्य का प्रतिपादन ही दिखलाई देता है। कथा के माध्यम से अपने प्रतिपाद्य (Theme) की सिद्धि कर लेने का तत्त्व सर्वप्रथम ब्राह्मण ग्रन्थों में ही प्राप्य है। इस दृष्टि से इन आख्यानों को दृष्टान्तकथा (Parable) भी कहा जा सकता है जिसका प्रयोजन धर्मसिद्धान्त की पुष्टि माना जाता है।

आख्यानों को 'दृष्टान्त कथा' के रूप में परिणत करने की दिशा में ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा उन कथाओं को, जिनका अनेक ब्राह्मणों में अस्तित्व है और गहराई में जाने पर जिनका मूल अभिप्राय एक ही प्रतीत होता है, मतविशेष के सन्दर्भ में निकटतम विन्दु तक ढाल देने की प्रवृत्ति दिखाई दे जाती है। एक ही आख्यान को शाखान्तरीय ब्राह्मणों में ही नहीं, एक ही वेद के दो ब्राह्मणों में भी कुछ संक्षिप्त, विस्तृत अथवा परिवर्तित होते हुए देखा जा सकता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण के आख्यानों की तुलनात्मक विवेचना से यह तथ्य अत्यन्त उभर-कर सामने आ जाता है। कथाशैली का प्रमुख गुण रंजकता अथवा रोचकता है, जो ब्राह्मणग्रन्थगत आख्यानों में भी न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है, यद्यपि याग और साम के गौरव से सामान्यतः यह कुछ अभिभूत-सा प्रतीत होता है।

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में प्राप्य आख्यायिकाओं का प्रमुख प्रतिपाद्य और उनका संख्यागत आकलन :

अन्य ब्राह्मणों के समान ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में भी आख्यान-आख्या-यिकाओं की पृष्ठभूमि याग, यागाङ्ग, याग-द्रव्य, याग-नाम, याग-देवता तथा स्तोत्र और शस्त्रादि की प्रशंसा से अनुस्यूत है। वैशिष्ट्य केवल यह है कि इनमें सामों, स्तोमों, स्तोत्रिय ऋचाओं और तद्गत छन्दों के साथ ही साम-भक्तियों, विशेष रूप से निधन-भाग की प्ररोचना मुख्यतया की गई है। आख्यायिकाओं की ब्राह्मणक्रम से पृथक्-पृथक् विवेचना इस प्रकार है—

ताण्ड्य ब्राह्मणगत आख्यायिकाएँ और उनकी मूल विषयवस्तु (THEME)

सम्पूर्ण ताण्ड्य ब्राह्मण में प्रायः 180 आख्यायिकाएँ समाकलित हैं, जिनका वर्ण्य विषयानुरूप विवरण इस प्रकार है—

1. सामगान से सम्बद्ध आख्यायिकाएँ	...	123
2. यज्ञ और उसके अंगों से सम्बद्ध आख्यायिकाएँ	...	27
3. सामान्य	...	30

इनमें से अनेक आख्यायिकाओं का प्रयोग सामगान और सोमयाग दोनों के सम्बन्ध में हुआ है।

मूलकथ्य की दृष्टि से इनका अवान्तर विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

प्राकृतिक घटनापरक :

असुर स्वर्भानु के द्वारा सूर्य को तिमिरावृत कर लेना (4.5.2; 6 6.8; 14.11.12; 23.16.1)। स्वर्ग से सूर्य की पतनोन्मुखता[1] (4.5.9); सूर्य की उत्पत्ति (5.5.1); अवर्षण (13.5.13); दुर्भिक्ष (9.2.19); इत्यादि।

ऐतिहासिक घटना या व्यक्तिपरक आख्यायिकाएँ :

(क) देवासुर-युद्ध : (आदित्यविषयक स्वामित्व के विषय में देवासुर-विवाद—5.5.15; अन्य—8.2.8; 8 3.1; 12.3.12-14; 12.4.24; 12.9.21; 13.6.7; 14.12.6; 16.2.2; 16.3.2; 18.1.2; 21.13.2)।

(ख) इन्द्र-वृत्र-युद्ध :[2]—(इन्द्र का वृत्र से डरकर पृथ्वी के अन्दर छिपना 12.5.21; अन्य 13.4.1; 13.5.22; 14.4.4-5; 15.11.8; 17.5.1; 18.5.2; 18.9.6, 20.15.6।

(ग) इन्द्र के अन्य पराक्रम—यतियों का भेड़ियों के सम्मुख फेंका जाना और उससे उनका मारा जाना (8.1.4; 14.11.28; 18.1.9) इन्द्र का बन्धन और उससे उनकी मुक्ति—9.2.22; इन्द्र और नमुचि का वध—12.6.8; इन्द्र के द्वारा आसुरी दीर्घजिह्वी का वध—13.6.9; अपने विरोधियों पर इन्द्र की विजय—14.6,7-8; राक्षस-वध करके इन्द्र के द्वारा अपहृत ऋषि का उन्मोचन—15.5 19; इन्द्र के विरोधियों द्वारा इन्द्र की मान्यता – 16.4.1।

(घ) इन्द्र के रचनात्मक कृत्य और उनकी प्रशंसा—इन्द्र की प्रशंसा 5.4.14; स्तुति से इन्द्र की प्रसन्नता – 9.4.10; सामविशेष-साध्य स्तुति से इन्द्र का प्रसादन 9.4.13; इन्द्र के द्वारा बृहत्साम[3] का षोडशिस्तोत्र के रूप में परिवर्तन 12.12.9-10; समुद्र और पर्जन्यगत विवाद के माध्यम से इन्द्र की महिमा का निरूपण—14.5.14; भरतों का पुरोहित-पद पाने की दिशा में वसिष्ठ की इन्द्र के द्वारा सहायता—15.5.22—यह आख्यायिका प्रायः इसी

---

1. यह आख्यायिका तैत्तिरीय ब्राह्मण और काठक संहिता में भी आई है।
2. अन्य ब्राह्मणों में भी इस तथ्य पर निबद्ध आख्यान विपुल परिमाण में हैं—यथा—तैत्तिरीय संहिता 2.4.12 इत्यादि।
3. यद्यपि इस आख्यायिका की मूल विषयवस्तु षोडशिस्तोत्र की विशिष्टता का प्रतिपादन है।

रूप में तैत्तिरीय संहिता[1] और काठक-संहिता[2] में भी प्राप्य है। इन्द्र के द्वारा ब्राह्मणों और क्षत्रियों के मध्य सहयोगभावना की स्थापना (15.6 2-3)।

(ङ) इन्द्र की अप्रतिष्ठा और ग्लानि—यतियों और वृत्र का वध करने के कारण इन्द्र पर ब्रह्म-हत्या का पाप लगा। काममोहित अवस्था में आसुरी दीर्घजिह्वी की हत्या करने के कारण इन्द्र की अप्रतिष्ठा हुई तथा नमुचि के साथ हुई सन्धि के अनुबन्ध, कि दोनों में से कोई किसी को न दिन में, न रात में, तथा न शुष्क स्थान पर और न आर्द्र स्थान पर मारेगा, को भंग करने के कारण इन्द्र की अलोकप्रियता बढ़ी जिसके सम्बन्ध में अनेक आख्यायिकाओं का प्रणयन हुआ है, जिनके सन्दर्भ ये हैं--(8.1.4; 12.6.8; 13.6.9; 14.11.28; 17.5.1; 18.1.9; 18.9.6; 20,15.6; 22.14.2) इत्यादि। विवाहिता स्त्री रानी उपमा का अनुराग पाने के लिए इन्द्र की चेष्टा—(15.3.6) मरुतों के निमित्त प्रोक्षित पशुओं का इन्द्र के लिए आलम्भन करने से मरुतों का असन्तोष—(21.14.5)।

(च) दाशराज्ञ युद्ध—(15.3.6)

(छ) अन्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधृत आख्यायिकाएँ - असुरों के पुरोहित काव्य उशना का उल्लेख (7.5.19-20); असुरों के द्वारा आङ्गिरसों का उत्पीड़न (12.6.12); राजा त्र्यरुण के द्वारा अपने पुरोहित वृश के पुत्र को रथ से कुचलने की घटना (13.3.11); वेन के यशस्वी पुत्र पृथु का उल्लेख (13.5.20); किरात और कुल्या नाम्नी असुर-स्त्रियों का आतंक (13.12.5); विश्वामित्र और अदन्तियों के मध्य विवाद (14.3.13); दस्यु के हृदय-परिवर्तन की घटना (14.4.6-7); बालखिल्य ऋषियों का उल्लेख (14.5.4), सत्यासत्य के निर्णयार्थ अग्नि-प्रवेश की पद्धति—(16.6.5); ऋषि च्यवन के द्वारा पुनर्यौवन की प्राप्ति (14.6.9-10); ऋषि असित देवल (जिन्हें इतिहास-पुराण काल में अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ) का उल्लेख—(14.11.18); आदित्यों और आङ्गिरसों की पारस्परिक स्पर्धा (16.12.1); व्रात्य-समूहों के शुद्धि-संस्कार से सम्बद्ध प्रयत्नों पर आधृत आख्यायिकाएँ (17.1.1 तथा 17.4.3); बल नामक असुर के द्वारा छिपाई गई गायों का उन्मोचन (19.7.1); विश्वामित्र की राज्य-प्राप्ति (21.12.2); प्रजा के मध्य अस्थिरता और असन्तोष तथा उनके निवारण के लिए प्रजापति के प्रयत्न (24.1.2; 7.5.1; 21.2.1; इत्यादि)।

---

1. तैत्तिरीय संहिता 3.5.2
2. काठक संहिता 4.37.17

सृष्टि के आरम्भ में सबलों द्वारा दुर्बलों का उत्पीड़न (24.11.2); वसिष्ठ का पुत्रशोक (4.7.3; 8.2.4; 21.11.2); यद्यपि वसिष्ठ के पुत्र की मृत्यु एक व्यक्तिगत घटना है किन्तु सम्पूर्ण ताण्ड्य ब्राह्मण में उसका अनेकधा उल्लेख प्राप्त होने से प्रतीत होता है कि यह उस युग अथवा उसके निकटवर्ती पूर्वयुग के समाज में एक अत्यन्त प्रसिद्ध घटना बन गई थी। विदेहराज नमि का उल्लेख (25.10.17)।

सामाजिक तथा नैतिक दोषों और अपराधों की मूल विषयवस्तु पर आधृत आख्यायिकाएँ :

(1) **सोमापहरण** (6 9.22);

(2) **अगम्यागमन** (Incest)—प्रजापति ने अपनी पुत्री उषस् के प्रति अधिगमन किया; उनका वीर्य भूमि पर स्खलित हो गया, जिससे पशुओं की उत्पत्ति हुई—'प्रजापतिरुषसमभ्यैत्स्वा दुहितरं तस्य रेतः परापतत् तदस्यां न्यषिच्यत' (8.2.10)। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इस घटना का उल्लेख है।[1] मैत्रायणी संहिता के अनुसार प्रजापति की अनाचारेच्छा समझकर उषस् हरिणी का रूप धारण करके भागी, तब प्रजापति ने भी मृग का रूप धारण कर लिया। इस पर क्रुद्ध होकर रुद्र ने इन पर शर-सन्धान किया।[2]

प्रतीत होता है, यह कोई प्राकृतिक घटना है, जिसका इस रूप में प्रतीकात्मक दृष्टि से वर्णन किया गया है। यह भी संभव है कि इस घटना के माध्यम से अगम्या-गमन को पशु-प्रवृत्ति बतलाना ही ब्राह्मणकार का उद्दिष्ट रहा हो।

यम-यमी का पति-पत्नी के रूप में सायणभाष्यगत उल्लेख : (11.10.21-23)

याम साम के सन्दर्भ में ताण्ड्य ब्राह्मण ने जो आख्यायिका दी है, तदनुसार इस साम के द्वारा यमी ने यम को स्वर्ग पहुँचा दिया—'एतेन वै यमी यमं स्वर्गं लोकमगमयत्' (वही)। 'यमी' की व्याख्या सायण ने 'यमस्य पत्नी' के रूप में की है, जो उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अन्यत्र इन दोनों का भाई-बहन के रूप में ही उल्लेख है।[3] ताण्ड्य ने चूँकि 'पत्नी' नहीं कहा है; अतएव इस विषय में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

अन्य दोष और अपराधों के मूल कथ्य से युक्त आख्यायिकाओं का विवरण इस प्रकार है—

---

1. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये—ऐत० ब्रा० 3.33
2. मैत्रायणी संहिता 4.2
3. ऋ० सं० 10.10

(3) ऋषि के द्वारा बालकों का अपहरण- (11.8.8)।

(4) अभोज्य-भक्षणजन्य दोष और उसका निराकरण—(11.8.9; 14.3.21-22)।

(5) शत्रु-हत्याजन्य ग्लानि—(13.11.10)।

(6) अतिपरिग्रहजन्य दोष—(18.4.9; 13.7.12)।

(7) मिथ्या-भाषण तथा अन्य व्यक्ति की रचना को अपनी बतलाना—(12.11.10)।

ऊर्णायु गन्धर्व के द्वारा दृष्ट साम को आङ्गिरस कल्याण ने अपनी कृति के रूप में घोषणा की, जिससे उन्हें श्वित्र रोग हो गया। इस प्रकार यह साहित्यिक चौर्य और रचनात्मक अप्रामाणिकता को निन्दनीय बतलाने वाली आख्यायिका है।

सामाजिक संस्थाओं के उद्भव और विकास विषयक आख्यायिकाएँ :

(1) वर्णव्यवस्था (6.1.6; 6.1.11; 16.1.10 इत्यादि)।

(2) पारिवारिक शिष्टाचार—अङ्गिरावंशज ऋषि शिशु उत्कृष्ट मन्त्रद्रष्टा माने जाते थे। उन्होंने विद्याभिमानवश अपने पितरों को 'पुत्र' कहकर आमन्त्रित किया। तब पितरों ने उनसे कहा—'शिशो! पुत्ररूप में हमें सम्बोधित करके तुमने अधर्म का आचरण किया है। इस पर शिशु ने प्रत्युत्तर दिया—'मैं मन्त्रद्रष्टा होने के कारण तुम्हारा पिता ही हूँ, अतएव मैंने कोई अधर्माचरण नहीं किया।'

इस विवाद के निर्णय में देवों ने मन्त्रद्रष्टा को ही पितृरूप में मान्यता देकर शिशु के कृत्य को न्याय्य ठहराया।

अह आख्यान वस्तुतः ज्ञान की गरिमा का द्योतक है। अन्यत्र भी 'योऽनूचानः स नो महान्' के रूप में इसी की पुष्टि होती है।

(3) अभ्युदय और निःश्रेयस् विषयिणी आख्यायिकाएँ :

अनेक आख्यायिकाओं के मूल में वे विभिन्न भौतिक तथा अभौतिक कामनाएँ सन्निहित हैं, जिनको शास्त्रकारों ने एषणाओं और पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तर्गत स्थान दिया है। ये हैं—

(क) पशु-समृद्धि—(7.10.12; 8.5.12; 13.3.17; 13.5.20; 15.5.12; 15.9.10; 15.10.11; 20.3.2 इत्यादि)

(ख) सन्तति सुख—(8.9.21; 11.3.4-5; 14.11.16; 21.1.2; 25.16.2 इत्यादि)।

(ग) रोग तथा शोक-मुक्ति—(9.2.14; 15.5.15; 15.9.8)

(घ) स्वर्ग-दर्शन तथा प्राप्ति—(11.10 21-23; 11.8.13-14; 12.4.22; 12.5.15; 13.9.19; 13.11.15; 15.5.24; 14.9.13 इत्यादि)।

(ङ) भूमात्व-प्राप्ति – (13.3.15; 22.15.1)

(च) राज्याधिपत्य – (13.9.23)

(छ) सर्व-कामनापूर्ति – (10.12)

(ज) महत्त्वकामना—(13.12.8)

(झ) पौरोहित्य-प्राप्ति—(14.9.38; 17.11.4)

(ञ) अन्नाद्य-प्राप्ति—(15.3.24; 20.12.5)

यज्ञसंस्था के उद्भव और विकासमूलक आख्यायिकाएँ :

(1) गायों के द्वारा सत्रानुष्ठान (4.1.1-2);

(2) सामूहिक यागानुष्ठान और सद्भाव तथा सहकारिता की भावना—देवों के द्वारा प्रारम्भ में सहकारिता की भावना से यागानुष्ठान, तदनन्तर पारस्परिक संघर्ष (7.5.6); सत्रियों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा की भावना (8.5.6); ऋत्विकों के मध्य पारस्परिक ईर्ष्या-भावना (8 8.22); सहकारितापूर्वक सत्रियों द्वारा अर्यल को गृहपति और आरुणि को होता बनाकर यागानुष्ठान (23.1.5); आदित्यों और आङ्गिरसों, जिनके मध्य स्पर्धाभाव का उल्लेख इसी ब्राह्मण में अन्यत्र हुआ है (16.12.1), ने भी मिलकर एक सत्र का सामूहिक अनुष्ठान किया था (24.2.2); खाण्डववन में दृति और वातवान के द्वारा मिलकर यागानुष्ठान की आख्यायिका (25.3.6); साध्यगण संज्ञक देवों के द्वारा यागानुष्ठान (25.8.2)। सर्पों के द्वारा सामूहिक रूप से सर्प-सत्र के अनुष्ठान (25.15.2-4) की आख्यायिका। कालन्द के अनुसार यह सर्पसत्र महाभारतगत सर्पयज्ञ का पूर्वरूप प्रतीत होता है—किन्तु हमारी दृष्टि से दोनों में भिन्नता है। ताण्ड्य ब्राह्मणोक्त सर्पसत्र का प्रयोजन सर्पों को शक्ति सम्पन्न करना है, जबकि महाभारतोक्त नाग-यज्ञ का उद्देश्य सर्प-सृष्टि को ही उन्मूलित करना प्रतीत होता है। अतएव दोनों आख्यायिकाओं की एकता का प्रयत्न उचित नहीं है। सूत्रकार बोधायन[1] का इस विषय में मत है कि सर्पों के राजाओं और राजकुमारों ने मानव-रूप में इस सर्पसत्र का अनुष्ठान

1. बौधायन श्रौतसूत्र-17.18; बौधायन गृह्यसूत्र 3.10

विष-प्राप्ति के निमित्त किया था। विश्वसृजामयन के सामूहिक सम्पादन की प्रतिपादिका आख्यायिका में ऋत्विकों और यजमानों की नामावली मात्र है, जिससे यह आख्यायिका की कम और रूपक की अधिक प्रस्ताविका है- (25.18.4)।

(3) याग-द्रव्यों और कृत्यों के सन्निवेश की आख्यायिकाएँ—सवनों और देवों को ध्यान में रखकर छन्दों का निर्धारण एक आख्यायिका में है (5.7.1)। पहले यज्ञ में सरस्वती के भाग का अभाव था– यह आख्यायिका उन स्थितियों को सङ्केतित करती है, जिनके अनुसार यज्ञ के आरम्भिक स्वरूप में सरस्वती का कोई स्थान नहीं था। शनैः शनैः जब सरस्वती नदी रूप से हटकर वाणी के साथ समीकृत होने लगी, तबसे यज्ञ में तदर्थं भाग-निर्धारण आवश्यक समझा जाने लगा (6.7.7)। सोमलता के लोप होने और उसके स्थान पर वैकल्पिक वस्तुओं के निर्धारण का कथन भी एक आख्यायिका के माध्यम से हुआ है। तदनुसार साध्याख्य देवों की प्रेरणा से सोम को लाने के लिए छन्द चले—उनमें से जगती और त्रिष्टुप् असफल हो गये। तदनन्तर गायत्री गई। वह द्युलोक से सोम को ही नहीं लाई, स्वयं भी अष्टाक्षर होकर लौटी। लाते समय सोम के कुछ अंश भूमि पर गिर गये थे, जो पूतीक लता हो गये तथा गिरे हुए फूल अर्जुनतृणों में और अन्य अंग प्रपोथ रूप में परिणत हो गये (8.4.1)। इस आख्यायिका में मूलप्रतिपाद्य में छन्द विशेष के प्रयोग का औचित्य-प्रदर्शन भी सम्मिलित है। एक अन्य आख्यायिका के माध्यम से यह बतलाया गया है कि यज्ञ में सुरापूर्ण दृति (मशक) का अग्नि के समीप संस्थापन कब से प्रचलित हुआ (11.11.26)। सोमक्रयणी गाय के विषय में भी एक रोचक आख्यायिका (21.1.1) प्राप्त होती है। तदनुसार इन्द्र ने राजा सोम को सूचित कर मरुतों से सहस्र गायें ले लीं। यम ने भी इसमें अपना भाग माँगा। उन्होंने उस गो-समूह में से एक ऐसी गाय चुनी, जो सहस्र गायों के समान दुग्ध-दात्री थी। तब इन्द्र और सोम ने उस सहस्रतमी गाय को जल में प्रविष्ट कराया-उसका प्रथम अंश सोम को, द्वितीय इन्द्र को और तृतीय अंश यम को प्राप्त हुआ। उसी तृतीय अंश से गाय अरुणवर्णीया, पिङ्गाक्षी और एक वर्षीया हो गई। यही गाय सोमक्रयण का साधन सिद्ध हुई।

यज्ञ में अञ्जन-लेपन की प्रथा के प्रारम्भ (24.13.2), वरुण-होम (24.18.2) तथा गुग्गुलु-प्रयोग के आरम्भिक इतिहास के सन्दर्भ में भी आख्यायिकाओं की योजना दिखलाई देती है।

विद्या तथा श्रद्धा-भावना की प्रशंसापरक आख्यायिकाएँ :

अनेक आख्यायिकाओं में देवों के अज्ञान से भयभीत होने का कथन है—(5.7.11; 12.12.6; 14.1.12 इत्यादि)।

वात्सप्रीर्भालन्दन की आख्यायिका के माध्यम से श्रद्धा-भावना की आवश्यकता निरूपित है—(12.11.23)।

देवस्वभाव विषयक आख्यायिकाएँ :

उपर्युक्त विभिन्न आख्यायिकाओं में देवताओं के अनेक सन्दर्भ स्वतः सम्मिलित हो गये हैं, कतिपय आख्यायिकाएँ उनके स्वभाव और चरित्र की विविध विशेषताओं को अत्यन्त मनोरंजक रूप से प्रस्तुत करती हैं। देवों के स्वभाव को वास्तविक रूप से सम्मुख लाने वाली कुछ आख्यायिकाओं में प्राप्य विवरण यों हैं—

(1) देवगण प्रायः भयातुर रहते हैं, इसे अनेक आख्यानों में बतलाया गया है। कहीं वे मृत्यु से भयभीत हैं, तो कहीं अपने अज्ञान से—(5.7.11; 23.12.2; 24.19.2) 'देवा वै मृत्योरबिभयुस्ते प्रजापतिमुपाधावन्।'

शत्रुओं से भय—(12.5.21)—आख्यायिकाओं से ज्ञात होता है कि विभिन्न भयों से आक्रान्त ये देवगण अपने भय-निवारण का स्वतः कोई उपाय खोजने का प्रयत्न भी नहीं करते। संकट आने पर ये प्रजापति के पास दौड़ लगाने भर का कार्य करते हैं।

(2) **देवों की लोकैषणा से ग्रस्तता**—आख्यायिकाएँ ज्ञापित करती हैं कि अपनी विभिन्न दुर्बलताओं के रहते हुए भी ये महत्त्व-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। एक ऐसी ही आख्यायिका में प्रजापति की पूज्य होने की लालसा (7.5.1) देखी जा सकती है। इसी प्रकार अग्नि की कामना भी आख्यायिका के माध्यम से प्रदर्शित है (14.11.36)।

कलहकारिणी प्रवृत्ति—यज्ञ-भाग के विभाजन के समय देवों के मध्य परस्पर हुए संघर्षों का चित्र अनेक आख्यायिकाओं में अंकित है; यथा—(7.2.1) एक आख्यायिका में वृत्र से प्राप्त धन के विभाजन के विषय में इन्द्र और विष्णु के मध्य विवाद उत्पन्न होने का उल्लेख है (20.15.6)। सहकारितापूर्वक यागानुष्ठान प्रारम्भ करने पर भी क्षुद्र स्वार्थों वश मध्य में ही परस्पर संघर्षरत हो जाने की प्रवृत्ति का संकेत भी आख्यायिकाओं में है—(यथा- 7.5.6)।

सृष्टिविषयिणी आख्यायिकाएँ

सृष्टि-मीमांसा ब्राह्मणों की सामान्य प्रवृत्ति है, इस कारण तत्सम्बद्ध अनेक आख्यानों की सत्ता भी इनमें दृष्टिगोचर होती है। कतिपय सामों और यागों के

प्रसंग में आख्यायिका के माध्यम से प्रजापति की एक से अनेक होने की कामना को प्रायः व्यक्त किया गया है-यथा- (4.1.4;6.1.1)। एक आख्यायिका में सृष्टि-कार्य से प्रजापति के क्षीण और श्रान्त होने का उल्लेख है— (4.10.1)। 'ज्योति' नामक क्रतु की वर्णना के प्रसंग में प्राप्त आख्यायिका में कहा गया है कि प्रजापति पहले अकेले थे। उस समय न दिन था, न रात्रि। सर्वत्र अन्धकार का आधिराज्य था, जिसमें प्रजापति में प्रकाश की कामना का स्वतः स्फुरण हुआ–

'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाऽहरासीन्न रात्रिरासीत्सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्स इच्छत् स एतमभ्यपद्यत ततो वै तस्मै व्यौच्छत्'–(6.1.1)।

वाणीविषयक आख्यायिकाएँ

वाणीविषयक जो आख्यायिकाएँ ताण्ड्य ब्राह्मण में प्राप्त होती हैं, उनसे प्रायः भाषा की सर्वाधिक अभिव्यंजन सामर्थ्य का निरूपण किया गया है–वह अतिशय वक्त्री तथा चारुतमा कही गई है—

'तस्मादेषा व्वदिष्ठैषा व्वल्गुतमा' (6.5.13)।

वाणी के देवों से दूर चली जाने का भी बहुधा उल्लेख है (6.5.10 तथ 12.5.14)। इसी आख्यायिका से दुन्दुभि, वीणा, रथ-चक्रगत अक्ष तथा धनुष की प्रत्यञ्चा में वाणी के प्रवेश की घटना के माध्यम से विभिन्न ध्वनियों की आन्तरिक एकता और उनकी व्यञ्जनाशक्ति को पहचानने की चेष्टा की गई है।

सृष्टि-प्रक्रिया में भी वाणी की महती भूमिका एक आख्यायिका के माध्यम से निरूपित है (20.14.2)। शब्दार्थरूपात्मक जगत्सृष्टि से पूर्व प्रजापति केवल वाणीयुक्त थे। प्रजापति-प्रेरित वाणी द्वारा ही यह वैविध्यपूर्ण सृष्टि सम्पन्न हुई है। तदनुसार आकार से पृथ्वी, ककार से अन्तरिक्ष और होकार से द्युलोक की सर्जना हुई है—

'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्तस्य वागेव स्वमासीद् वाग् द्वितीया स ऐक्षतेमामेव वाचं विसृजा इयं वा इदं सर्वं विभवन्त्येष्यतीति सा वाचं व्यसृजत सेदं सर्वं विभवन्त्यैत्' (20.14.2)।

एक आख्यायिका में शब्दों की स्त्रीलिङ्गात्मक रूप-रचना के विषय में भी मनोरंजक विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार 'पञ्च' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपसिद्धि न कर पाने के कारण ही देवों से असुर एक बार पराजित हुए (21.1.3.2)। जैमिनीय ब्राह्मण में यह आख्यायिका कुछ विस्तार से प्राप्त होती है। वाग्विषयक कतिपय आख्यायिकाओं में वाणी और सरस्वती को समीकृत रूप में भी प्रस्तुत किया गया है (6 7.7)।

स्निग्ध स्वर में साम-गान की प्रतिपादक आख्यायिका :

इस आख्यायिका (13.10.8) में स्वयं साम के द्वारा स्निग्ध स्वर में साम-गान के औचित्य का उपपादन है। तदनुसार ऋषिवर केशिन् दाल्भ्य के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत साम ने उनसे कहा–"ऋषे ! अकुशल गायक मेरा गान कर रहे हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।"

"भगवन् ! आपका समुचित गान कैसे संभव है ?"—ऋषि ने प्रश्न किया।

"मैं तो अल्पप्रयत्न से ही गेय हूँ"-साम ने उत्तर दिया। आगे उसने कहा- 'जैसे लोक में अल्प प्रयत्न से निष्पाद्य स्निग्ध स्वर से गान किया जाता है, वैसे ही उद्‌गाता को भी गाना चाहिए।"

साम ने ऋषि पारिजानत अलम्म के स्निग्ध स्वर में साम-गान की सराहना की, जो रथचक्र की पृष्ठभूमि में रहकर आगान कर रहे थे।

प्रकृत आख्यायिका में साम-गान की श्रुतिसुखदता, लोक-प्रियता और मनोरमता पर बल दिया गया है।

दस्यु के हृदय-परिवर्तन की आख्यायिका

हत्या-सदृश जघन्य अपराध करने वाले दस्यु का हृदय भी कभी परिवर्तित हो सकता है, वह सदाचार के पथ पर चल सकता है- सद्‌भावना के सुप्त संस्कार उसके अन्तःकरण में पुनः उद्‌बुद्ध हो सकते हैं, इस पर भी एक आख्यायिका प्रतीति कराती है (14.4.6-7)।

तदनुसार इन्द्र के अत्यन्त प्रिय ऋषि-समूह वैखानसों की मुनिमरण नामक स्थान पर रहस्युसंज्ञक देवमलिम्लुच (दस्यु) ने हत्या कर दी। ऋषियों के सन्धान-हेतु निकले इन्द्र की अकस्मात् रहस्यु से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा–"रहस्यु ! तुमने क्या कहीं वैखानस गण को देखा है ?"

"भगवन् ! मैंने ही उनकी हत्या की है"—रहस्यु ने उत्तर दिया।

इन्द्र को रहस्यु की सत्यवादिता पर अविश्वास और आश्चर्य दोनों की अनुभूति हुई। उन्होंने उससे पुनः प्रश्न किया—"रहस्यु। हत्या करके उसे स्वीकार कर लेना अति कठिन कार्य है। तुमने इस दुष्कर कार्य को इतनी सरलता से कैसे कर लिया ?" रहस्यु ने निवेदन किया—"भगवन् ! मैं ब्रह्म-हत्या और मिथ्या-व्यवहार (इन्द्रेतर अन्य व्यक्तियों से इस कृत्य को गुप्त रखना)—दोनों ही पापों को ढो रहा हूँ। तथापि आपके सम्मुख इस पाप-स्वीकृति से मैं मिथ्याचारजन्य पाप से मुक्त हो गया हूँ।"

रहस्यु के इस हृदय-परिवर्तन और सत्य-भाषण से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने उससे वर माँगने के लिए कहा। रहस्यु ने अपने वंश में एक सच्चे और शुभ आचरण-सम्पन्न ब्राह्मण वंशधर के उत्पन्न होने का वर माँगा।

इन्द्र के वर-प्रदान स्वरूप रहस्यु के वंश में तक्षु का जन्म हुआ।

इस आख्यायिका[1] का ताण्ड्य और जैमिनीय दोनों ही ब्राह्मणों में उल्लेख है— ताण्ड्य में संक्षिप्त और जैमिनीय ब्राह्मण में विस्तार से; किन्तु किसी में भी उन कारणों का संकेत नहीं है, न उन परिस्थितियों को ही सामने लाया गया है, जिनसे प्रभावित होकर एक दुर्दान्त दस्यु का हृदय-परिवर्तन हो गया।

गन्धर्व और अप्सराओं की प्रेम-लीला

ताण्ड्य ब्राह्मण (12.11.10) में उर्णायु गन्धर्व और अप्सराओं की प्रेम-लीला की सरस आख्यायिका भी प्राप्त होती है, जिसके अनुसार अन्तरिक्ष-मार्ग में पथ-भ्रान्ति हो जाने पर अङ्गिरावंशज ऋषि देवयान-मार्ग से छिटककर उस स्थान पर पहुँच गये, जहाँ उर्णायु अप्सराओं के साथ दोलायमान हो रहा था। उस समय वह जिस अप्सरा की कामना करता, वही उसकी हो जाती थी।

यह आख्यायिका परी-कथा (Fairy Tale) का स्मरण कराती है जिसके पात्र गन्धर्व, विद्याधर आदि मानवेतर प्राणी होते हैं, पृष्ठभूमि भोगवादी होती है और दैनन्दिन जीवन में अप्राप्य सुख की प्राप्ति होती दिखती है।

असितधाम्न्य की कन्या और ऋषि गौरिवीत की प्रणय-आख्यायिका

जराबोधीय साम के सन्दर्भ में ताण्ड्य ब्राह्मण तो कोई विशेष आख्यायिका प्रस्तुत नहीं करता, किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण[2] में एक अत्यन्त सरस और मनोरम आख्यायिका दी गई है, जो इस प्रकार है—

शाक्त्यगण यज्ञ में समांस पुरोडाश समर्पित करते थे। कदाचित् यज्ञानुष्ठान के निमित्त मांस के प्रयोजन से शाक्त्य गौरिवीत ने किसी मृग को लक्ष्य कर शर-प्रहार किया। उसी समय आकाश में उन्हें तार्क्ष्य सुपर्ण उड़ते हुए दिखलाई पड़े—गौरिवीत ने उन्हें भी लक्षित कर शर-सन्धान किया। यह देखकर सुपर्ण ने ऋषि

---

1. ताण्ड्य ब्राह्मण ने इस आख्यायिका पर याज्ञिक कृत्यों के औचित्य का रंग अधिक चढ़ाया और उसे इन्द्र के द्वारा वैखानस ऋषियों के शवों की 'एकधन' संज्ञक जल की पवित्र धारा के द्वारा पहचान और ऋषियों को पुनर्जीवित करने का उल्लेख करके समाप्त कर दिया है किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण ने विस्तार से विवरण दिया है।—जैमि॰ ब्रा॰ 3.190
2. जैमिनीय ब्राह्मण 3.197

से निवेदन किया—"ऋषे ! तुम मुझ पर बाण मत छोड़ो, मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा।"

"मेरी किस कामना की पूर्ति में तुम सहायक हो सकते हो ?"—गौरिवीत ने पूछा।

सुपर्ण ने उत्तर दिया—"तुम असितधाम्न्य की कन्या से प्रेम करते हो। मैं तुम्हें उसके पास ले जा सकता हूँ।"

असितधाम्न्य ने द्युलोक में एक प्रासाद का निर्माण कर उसमें अपनी कन्या को अत्यन्त सुरक्षापूर्वक रख रखा था।

प्रतिश्रुति के अनुसार सुपर्ण प्रतिदिन ऋषि गौरिवीत को गुप्त रूप से रात्रि में उस कन्या के समीप ले जाने और प्रातःकाल ले आने लगे। रात बीत जाने पर वापस चलने के लिए वे गौरिवीत को जराबोधीय साम के गान से जगाते थे। साम-गान का प्रकट निमित्त चूँकि अग्निदेव-प्रसादन है, अतएव किसी को इस विषय में सन्देह भी नहीं होता था।

अन्ततः ऋषि के संसर्ग से असितधाम्न्य की कन्या गर्भवती हो गई और समय पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। इसका ज्ञान जब असुरों को हुआ तो उन्होंने उसे जामिगर्भ (कानीन-कुल-कन्या की अवैध सन्तान) समझकर मार डाला। इस पर ऋषि गौरिवीत ने जराबोधीय साम के गान से अपने मृत पुत्र को पुनर्जीवित किया, जिसका नामकरण किया गया—संकृति।

यह वस्तुतः एक लोक-कथा है— रम्य प्रेमाख्यान। यह भी परीकथा (Fairy Tale) के निकट है। प्रणय-प्रसंग की अग्रगामिता में पक्षियों की सहायता के भारतीय साहित्य में अनेक प्रसंग हैं। 'नैषधीयचरित' महाकाव्य में, दमयन्ती की प्राप्ति में हंस की जो भूमिका है, गौरिवीत के प्रसंग में सुपर्ण ने उससे अधिक ही सहयोग किया है।

इन्द्र और रानी उपमा की प्रणय-आख्यायिका

अदारसृत साम की प्रशंसा के प्रसंग में ताण्ड्य ब्राह्मण (15.3.6) में दिवोदास और उनके पुरोहित भरद्वाज की आख्यायिका मात्र दी गई है, किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण[1] में यही आख्यायिका किञ्चिद् विस्तृत, परिवर्तित और अत्यन्त रोचक रूप में दी गयी है।

दाशराज्ञ युद्ध में प्रतर्दन के पुत्र क्षत्र युद्ध करते हुए मानुष नामक स्थान पर शत्रुओं से घिर गये। उस समय उन्होंने अपने पुरोहित ऋषि भरद्वाज से विद्यमान

1. जैमिनीय ब्राह्मण—3.244

विपत्ति के निवारण-हेतु उपाय खोजने की प्रार्थना की। भरद्वाज ने युद्ध में उनकी विजय-कामना से इन्द्र का आह्वान कर क्षत्र से कहा कि हम युद्ध में इन्द्र की सहायता से विजयी होंगे।

सुवेदस् की कन्या उपमा क्षत्र की रानी थी, जो अत्यन्त सुन्दरी और रूपवती थी। वह उसी युद्ध में मारे गये अपने भाई के शोक से कातर होकर विचरण कर रही थी कि उस पर इन्द्र की दृष्टि पड़ गई और वे उसकी ओर आकृष्ट हो गये।

उपमा को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए वे पौनःपुन्येन उसके पास आकर नृत्य करने लगे, किन्तु उपमा उन्हें बार-बार लौटाती रही—उनसे उपेक्षा का व्यवहार करके। सन्ध्या हुई और निराश-हताश और श्रान्त-क्लान्त इन्द्र लौट गए। उपमा भी अपने निवास में चली गई।

रात्रि में इन्द्र की सहायता के आकांक्षी राजा क्षत्र ने अपनी रानी उपमा से पूछा—"तुमने आज कोई विशेष घटना देखी ?"

"एक व्यक्ति को अपने समीप नृत्य करते देखा"—उपमा ने उत्तर दिया।

"तुमने जिन्हें देखा है, वे स्वयं इन्द्र हैं। उन्होंने हमारी प्रार्थना सुन ली है। उनकी सहायता से हम युद्ध में विजयी होंगे। अब जब वे तुम्हारे समीप आयें, तुम उन्हें लौटाना नहीं। उनके पास जाकर कहना कि वे युद्ध में हमें सहायता दें"—राजा क्षत्र ने उपमा से कहा।

निशा बीती। प्रभात हुआ। युद्ध-स्थल में इन्द्र पुनः उपमा के समीप आकर नृत्य करने लगे। किन्तु इस बार स्थिति भिन्न थी। रूपवती रानी उपमा इन्द्र का सान्निध्य पाना चाहती थी, परन्तु इन्द्र पीछे हट रहे थे।

अन्ततः उपमा दौड़ते-दौड़ते थक गई। उसने इन्द्र से कहा—"युद्ध में विजय पाने के लिए आप हमारी सहायता कीजिए न !"

उपमा के प्रभाव से इन्द्र ने युद्ध में क्षत्र की सहायता की और वे युद्ध जीत गए।

यह आख्यायिका वस्तुतः लौकिक विषय-वस्तु पर आधृत है और इसी कारण अत्यन्त रोचक है। एक विवाहिता स्त्री को आकृष्ट करने के लिए इन्द्र के प्रयत्न वैदिक साहित्य में अनेकधा परिलक्षित हो जाते हैं और अवैध प्रेम की लालसा उनके सन्दर्भ में कोई नया तथ्य नहीं है किन्तु यह आख्यायिका एक अन्य तथ्य को भी सङ्केतित करती है; वह है सफलता-प्राप्ति के निमित्त पत्नी का प्रयोग करने की प्रवृत्ति, जो कभी-कभी आज भी दिखाई पड़ जाती है।

स्त्री पर अधिकार की प्रतिद्वन्द्विता

मैधातिथ साम के विषय में ताण्ड्य ब्राह्मण (15.10.11) में प्राप्य आख्यायिका के अनुसार मेधातिथि ने विभिन्दुक नामक स्थान से उत्कृष्ट गायों का संग्रह किया था।

जैमिनीय ब्राह्मण[1] में यह आख्यायिका अत्यन्त विस्तार से प्राप्त होती है। तदनुसार विभिन्दुक-निवासियों ने एक यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें मेधातिथि गृहपति, दृढच्युत उद्गाता, गौरीवित प्रस्तोता, अच्युत-च्युत प्रतिहार, वसुक्य होता एवं सनक तथा नभक अध्वर्यु बने थे। यज्ञ में मेधातिथि पशु-कामना से तथा सनक एवं नभक स्त्री-कामना से प्रवृत्त हुए थे। मैधातिथ साम की सहायता से मेधातिथि ने एक ऐसे स्थान का सन्धान कर लिया, जहाँ उत्कृष्ट गायें अवरुद्ध थी। अव-रोधक प्रस्तरखण्ड को विदीर्ण कर उन्होंने गुहा-द्वार को खोल दिया जिससे गायें बाहर निकलने लगीं। स्वर्ण शृंगों वाली दो गायों के निकलने के अनन्तर स्वर्णवस्त्र विभूषित दो सुन्दर अप्सरायें भी कन्दरा से बाहर आईं।

मेधातिथि ने इस पर पशु-कामना छोड़कर अप्सराओं पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, जिससे सनक और नभक उनके विरोधी हो गये। उन्होंने मेधातिथि से कहा—"तुमने गो-कामना से यज्ञानुष्ठान में भाग लिया है, अतएव तुम्हारा उसी पर अधिकार है। हमने यज्ञ में स्त्री-कामना की है, अतएव इन स्त्रियों पर हमारा अधिकार है।"

स्त्रियों पर अधिकार करने की हठपूर्ण प्रतिद्वन्द्विता उनके मध्य रही। अन्ततः संघर्ष की स्थिति आ गई। मेधातिथि ने एक अप्सरा पर बलपूर्वक अधिकार करना चाहा, जिसका उसने विरोध किया। अकस्मात् दोनों स्त्रियाँ गाय और मृगी रूपों में परिणत होकर पुनः कन्दरा में प्रविष्ट हो गईं।

आख्यायिका यह फलश्रुति कर समाप्त हो जाती है कि गृहपति के कपट और मिथ्या आचरण के कारण किसी को यज्ञ से कोई लाभ नहीं हुआ।

उपर्युक्त आख्यायिका मूलतः मनुष्य की लोभ, स्वार्थ और अदम्य लालसा-प्रवृत्ति पर प्रकाश डालती है।

अवैध काम-सम्बन्ध पर आधृत एक आख्यायिका

सौश्रवस् साम के सम्बन्ध में ताण्ड्य ब्राह्मण (14.6.7-8) में प्राप्त आख्यायिका इस प्रकार है—सुश्रवस् के पुत्र उपगु कौत्स औरव के पुरोहित थे। कुत्स ने यज्ञ में इन्द्र की पूजा निषिद्ध कर रखी थी। इस पर इन्द्र ने एक कपट-

---

1. जैमिनीय ब्राह्मण 3.233-234

विधि अपनाई। उन्होंने सुश्रवस् के समीप जाकर कहा—"मैं क्षुधा-पीड़ित हूँ, मुझे यज्ञ-भाग दो।"

इस पर दयावश सुश्रवस् ने इन्द्र को यज्ञ-हविष् प्रदान कर दिया। यज्ञीय पुरोडाश को लेकर इन्द्र कुत्स के पास जाकर बोले—"यह देखो सुश्रवस् ने तुम्हारे निषेध करने पर भी मुझे यज्ञ-भाग दिया है।"

क्रुद्ध औरव कुत्स ने सदोमण्डप में पहुचकर वहाँ साम-गान में निरत उपगु का कण्ठ छिन्न कर दिया। तदनन्तर सुश्रवस् ने सौश्रवस् साम के प्रयोग से अपने पुत्र को संजीवित किया।

औरव कुत्स और इन्द्र के मध्य परस्पर विरोध-भावना का अन्ततः कारण क्या था—इस पर ताण्ड्य ब्राह्मण मौन है। इस जिज्ञासा का शमन होता है जैमिनीय ब्राह्मण[1] में, जहाँ यह आख्यायिका कुछ विस्तार से उपलब्ध है, तदनुसार दोनों में प्रचण्ड विरोध का मूल कारण कुत्स के द्वारा इन्द्र की पत्नी शची से अवैध काम-सम्बन्ध-स्थापना था, जिसका वृत्त इस प्रकार है—

औरव कुत्स इन्द्र की जंघा से उत्पन्न होने के कारण अविकल उन्हीं के सदृश दिखते थे। इन्द्र ने उन्हें अपने रथ का सारथि बना लिया। निकटता पाकर कुत्स ने इन्द्र की पत्नी पुलोमानन्दिनी शची से सम्बन्ध स्थापित कर लिया, जिस पर इन्द्र की कदाचित् दृष्टि पड़ गई। उन्होंने शची से इस कुकृत्य में संलग्न होने का कारण पूछा, जिस पर शची ने उत्तर दिया-"मैं आप दोनों की आकृतियों में अन्तर नहीं कर पाती।"

इस घटना की तीन बार आवृत्ति हुई। अपने से कुत्स की आकृति में भिन्नता लाने के लिए यद्यपि इन्द्र ने शिरस्त्राण, बालुकाच्छादन इत्यादि अनेक उपाय किए तथापि शची समय पर कुत्स और इन्द्र में अन्तर न कर पातीं और कुत्स उनसे सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाते।

अन्ततः इन्द्र ने कुत्स को मल्ल-युद्ध के निमित्त ललकारा, जिस पर कुत्स ने सन्धि प्रस्ताव रखा—"इस प्रकार आपस में लड़कर नष्ट हो जाना हममें से किसी के हित में न होगा। क्यों न हम कोई अन्य व्यवस्था कर लें?"

इन्द्र ने कुत्स को राजन्य वर्ग का अधिपति बना दिया। सौश्रवस् उपगु उनके पुरोहित बने। कुत्स ने अपने राज्य में यज्ञानुष्ठान को निषिद्ध कर दिया, किन्तु स्वर्ग का प्रलोभन देकर इन्द्र के उपगु से यज्ञानुष्ठान करा ही लिया।

शेष आख्यायिका ताण्ड्योक्त अनुसार ही है।

---

1. जैमिनीय ब्राह्मण 3.198-201

निष्कर्ष :

उपर्युक्त आख्यायिकाओं की समीक्षा करने पर निम्नोक्त तथ्य पुरस्कृत होते हैं–

(1) ये आख्यायिकाएँ अत्यन्त बृहत्पटल पर आरचित हैं और सोम याग तथा साम-गान ही नहीं, जीवन के बहु आयामी स्वरूप से सम्बद्ध हैं तथा तद्गत विविध पक्षों को प्रस्तुत करती हैं ।

(2) ताण्ड्य ब्राह्मण आख्यायिकाओं का अत्यन्त संक्षिप्त और आवश्यक विवरण ही प्रस्तुत करता है, जबकि जैमिनीय ब्राह्मण अत्यन्त विस्तार से आख्यायिका को उसके स्वाभाविक रूप में विकसित होने देता है ।

(3) आख्यायिकाओं में लौकिक तत्त्वों की न्यूनता नहीं है। इन तत्त्वों के, जिनका आधार राग-द्वेष की वैचित्र्यात्मक भित्ति है, समावेश से आख्यायिकाओं में सरसता का संचार हुआ है । याग की विरस बिधियों के मध्य से आख्यायिकाएँ पाठक के मन को अल्पकाल के लिए परम आनन्द से उल्लसित कर देती हैं ।

इन ऐहिक और भौतिक विषय-वस्तु से गुम्फित आख्यायिकाओं से ही श्रेण्य संस्कृत-साहित्य में निबद्ध कथाओं के प्रणयन का पथ प्रशस्त हुआ है । प्रणय-भावना से ओतप्रोत उपर्युक्त आख्यायिकाएँ मानव-हृदय का गहराई से स्पर्श करती हैं ।

षड्विंश ब्राह्मणगत आख्यान

षड्विंश ब्राह्मण में मात्र 24 आख्यान प्राप्त होते हैं, जिनकी विषय-वस्तु सृष्टि-प्रक्रिया, यागानुष्ठान, देवतत्त्व आदि है । दो आख्यान इन्द्र के प्रणय प्रसंगों से अनुस्यूत हैं । इन्द्र की प्रेमिका और वृषणश्व मेन की पुत्री मेनका का आख्यान इनमें से प्रथम है । इन्द्र की दूसरी प्रेमाख्यायिका अहल्या के विश्रुत प्रसंग से सम्बद्ध है जो सर्वप्रथम संभवतः इसी ब्राह्मण में उपलब्ध होती है–(1.1.20-23) । इन्द्र को अहल्या का जार कहा गया है । अहल्या मित्रा की पुत्री थी और कुशिक गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण गौतम उनके पति थे । जार होने का अवसर उन्हें गौतम का वेश और रूप धारण करने पर प्राप्त हुआ, जो उन्होंने असुर-भय प्रदर्शित कर गुप्तचर होने के निमित्त गौतम की अनुमति से धारण किया था । तब से लोक में उन्हें भी 'गौतम' कहा जाने लगा ।

अन्य आख्यायिकाओं का विवरण इस प्रकार है—

1. सृष्टि-विषयिणी आख्यायिकाएँ :

सृष्टि से पूर्व केवल ब्रह्म और सुब्रह्म का अस्तित्व—(1.1.1.); प्रजापति के द्वारा तीन वेदों की सृष्टि और उनसे भूः आदि व्याहृतियों का आविर्भाव

(1.5.7), तपोऽनुष्ठान से प्रजापतियों में देव-सृष्टि का विचार उदित हुआ—तदनन्तर उनके द्वारा दिन में देवों और रात्रि में असुरों की सृष्टि--(5.1.1), देवों की स्वर्ग-कामना से की गई तपस्या से लोकत्रयात्मक रस का उद्भव, तदनन्तर लोकों द्वारा की गई तपस्या से वेदत्रयी की उत्पत्ति, वेदों की तपस्या से गार्हपत्यादि अग्नियों की उत्पत्ति, अग्नियों की तपस्या से सहस्र शिर, सहस्र चरण और सहस्र-नेत्रयुक्त पुरुष की उत्पत्ति, मृत्युरहित यह पुरुष ही अग्निहोत्र याग कहलाया—(5.1.2-5)—इत्यादि।

2. याग और सामविषयिणी आख्यायिकाएँ :

देवों के द्वारा अनुष्ठीयमान याग को विनष्ट करने के लिए असुरों और राक्षसों के प्रयत्न और पर्जन्यरूप में इन्द्र के द्वारा उनका विनाश (1.2.1-3) उद्दालकपुत्र कुसुरुबिन्द का उद्गातृ रूप में कार्य करने के लिए चयन (1.4.16); यज्ञ की असफलता और सफलता के विषय में उद्दालक आरुणि का कथन—(1.6.2); मर्कट वेशधारी इन्द्र के द्वारा सोमांशुओं का अपहरण (1.6.9); रेतस्या ऋचाओं के सन्दर्भ में साध्यदेवों की आँखों में सिकतापात; प्रजापति के द्वारा रेतस्या ऋचाओं का सन्ततिप्राप्ति के निमित्त गान (2.1.1); देव-यजन से निर्गत जल तक न पहुँच पाने वाले देवों का मार्ग में राक्षसों के द्वारा उत्पीड़न, अग्नि के द्वारा रक्षोहा साम का साक्षात्कार और उससे राक्षसों का वध (3.4.9-10); चतुर्ऋच पर निष्पन्न साम के विषय में मुञ्जसामश्रवा का यह कथन कि इसे जानने के कारण उनकी पुष्टि बनी रहती है (4.1.15); वसिष्ठगोत्रीय ऋषि चैकितानेय की चतुर्ऋच साम के विषय में यह सम्मति कि चतुर्ऋच साम गीयमान होने पर अवश्य पुष्टि करता है (4.1.16); राजा सोम को गृहपति बनाकर विश्वेदेवों का सत्र-सम्पादन (4.6.2); प्रजापति के द्वारा सहस्रसंवत्सरसाध्य यज्ञ की रचना और उसमें विभिन्न यागों का समावेश, ताकि उसके अनुष्ठान से समस्त इष्टियों, पशुबन्धों और सोमयागों का एक साथ फल प्राप्त हो सके—(5.2.1); प्रजापति के द्वारा औदुम्बरी का उच्छ्रयण (5.3.1-6); दर्शपूर्ण मास के प्रसंग में चन्द्रमा की क्षीणता और वृद्धि की आख्यायिका—(5.6.1); असुरों के उपद्रवों पर विजय पाने के लिए देवों के द्वारा दैवी शान्ति की प्राप्ति (6.2.1)।

3. प्रतीकात्मक आख्यायिकाएँ :

षड्विंश ब्राह्मण में उपर्युक्त आख्यायिकाओं के अतिरिक्त इन्द्र के द्वारा कण्व के युवापुत्र मेधातिथि का हरण कर स्वर्ग ले जाने की प्रतीकात्मक आख्यायिका भी निबद्ध है। इन्द्र का गौरमृग होकर सोमपान करना भी प्रतीकात्मक प्रतीत होता है (1.1.19)।

नैतिक आचारविषयिणी आख्यायिका :

षड्विंश ब्राह्मण में प्राप्त सन्ध्योपासनापरक आख्यान वस्तुतः अनृत-भाषण-परित्याग, वेदानुशीलन, प्रणवोपासना और गायत्री-साधना का ही प्रतिपादक है। इसकी पृष्ठभूमि में यद्यपि देवासुर संग्राम ही विहित है–(5.5.1-4)।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणगत आख्यायिकाएँ

ब्राह्मण ग्रन्थों की सामान्य परम्परा के अनुसार प्रकृत ब्राह्मण में भी, प्रारम्भ में सृष्टिविषयक आख्यायिकाएँ हैं जिनमें प्रजापति के द्वारा वेदत्रयी, व्याहृतियों, देवों और लोकों के रस निकाल लेने तथा ओंकार का रस न निकालने की असामर्थ्य का उल्लेख है (1.1.1-4); गायत्री के आठ अक्षर उसी ओंकार के आठ अंग हैं—(1.1,5-6)। इन्द्र, चन्द्र, रुद्र और समुद्र की श्रेष्ठता ओंकार के ही कारण है तथा वेदत्रयी का भी वही सार है (1.2.1)। ओंकार में प्रवेश के कारण ही देवगण मृत्यु और पाप से बच सके––इसका उपपादन भी एक आख्यायिका से किया गया है—(1.4.4-11)।

कतिपय आख्यायिकाओं में कहा गया है कि प्रारम्भ में आकाश वाग्रूप था–इसके निष्पीडन से निस्सृत रस त्रयीविद्या में परिणत हो गया। आख्यायिकाओं का निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण विश्व और उसकी प्रत्येक वस्तु अन्ततः नित्याक्षरमयी है। यह नित्याक्षर ओम् ही सृष्टि का आदि और अन्त है—(1.7.1; 1.9.1 तथा 1.10.1)।

एक से अनेक होने की कामना से प्रजापति ने अपने को भद्र, समाप्ति, आभूति, संभूति, भूत, सर्व, रूप, अपरिमित, श्री, यश, नाम, अग्र, सजात, पय, महीया और रस रूप 16 भागों में विभक्त किया, जो विराट् पुरुष के विभिन्न अंग माने जाते हैं (1.5.1-3)।

कतिपय आख्यायिकाओं में साम-गान की हिङ्कारादि सात भक्तियों का विभिन्न वस्तुओं के साथ समीकरण किया गया है (1.3.1; 1.10.1; 1.11.1; 1.12.1)।

सृष्टिविषयक इन आख्यायिकाओं में विशेष तथ्य यह निहित है कि इनमें वेदत्रयी का अस्तित्व सृष्टि से पूर्व भी प्रदर्शित है। यहाँ तक कि प्रजापति का अस्तित्व भी वेदत्रयी से परवर्ती है। उन्होंने भी गायत्र साम के माध्यम से निगूढ़ शक्ति सम्पन्न नित्याक्षर ओम् के साक्षात्कार से ही देवत्व प्राप्त किया।

सामों का विभाजन :

सामों के विभाजन पर सहमत होते हुए भी देवगण उसकी प्रक्रिया पर परस्पर

विमत ही रहे। अन्त में प्रजापति के हस्तक्षेप से देवों के मध्य उनकी रुचि के अनुसार साम-विभाजन सम्पन्न हो सका (1.16.2)।

देवासुर-युद्ध :

देवों और असुरों के मध्य पारस्परिक स्पर्धा और विजय की अभिलाषा के मुख्य कथ्य के आधार पर जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में अनेक आख्यायिकाएँ निबद्ध हैं (1.15.4; 1.8.5 इत्यादि)।

ऋग्विहीन साम की शक्तिसम्पन्नता :

ऋग्विहीन और मात्र स्तोभाक्षर पर आश्रित साम के गान से देवगण ने स्वर्ग-प्राप्ति की (—1.4.1-2)। इस गान से उन्हें अपनी खोई हुई श्री भी प्राप्त हुई।

देवों के मध्य पारस्परिक श्रेष्ठता के लिए विवाद :

अग्नि, वायु, आदित्य, प्राण, अन्न और वाक्—इन छः देवों के मध्य पारस्परिक श्रेष्ठता के लिए विवाद हुआ। इनमें से प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ बतला रहा था और उसके लिए युक्तियाँ दे रहा था।

अन्त में उन्होंने यह अनुभव किया कि उनमें से प्रत्येक अन्योन्याश्रित है—

'एता वै किल सर्वा देवताः। एकैकामेवानुस्मः। स यन्नु नः सर्वासां देवतानामेकाचन न स्यात् तत इदं सर्वं पराभवेत्।'

इस प्रकार उन्होंने साथ रहकर श्रेष्ठ बनने का निश्चय किया (4.8.1-3)।

शर्यातमानव का (ऐतिहासिक) आख्यान –(2.3.1-3) :

शर्यात मानव ने प्राचीस्थाली में एक यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें देवों, पितरों, असुरों और मनुष्यों ने उनसे क्रमशः बृहस्पति, बम्ब अजद्विष, काव्यउशना और असास्य आङ्गिरस को यज्ञ के आर्त्विज्य-औदगात्र-का कार्य देने का आग्रह किया। शर्यात ने प्रत्येक से यह जिज्ञासा की कि तथोक्त दायित्व देने पर वे अपनी शक्ति का कैसे प्रयोग करेंगे ? सभी ने शर्यात को स्वर्ग प्राप्त कराने तथा अपने वर्ग के लिए श्री और प्रभुत्व प्राप्त कराने का आश्वासन दिया। इनमें अकेले अयास्य आङ्गिरस ने सभी वर्गों को लाभान्वित कराने का संकल्प व्यक्त किया, जिस पर शर्यात ने उन्हें उद्गीथ-गान के लिए नियुक्त किया। यह आख्यायिका देवत्व पर मनुष्यत्व की विजय की द्योतक है।

सुदक्षिण क्षैमि, प्राचीनशालि और दो जाबालों की आख्यायिका :

ये सभी सहपाठी थे। इनमें से प्राचीनशालि और दो जाबालों के द्वारा बिना अर्थ-ज्ञानपूर्वक वेद-पाठ करते रहने के कारण सुदक्षिण क्षैमि उनसे प्रायः यज्ञ-

विषयक विवाद करता रहता था. जिससे वे चिढ जाते थे। एक दिन तीनों ने सुदक्षिण क्षैमि को 'शूद्र दुरनूचान' कहकर अपमानित किया। सुदक्षिण ने कुरु-पाञ्चालों की समिति के सम्मुख उन्हें शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। उस समिति के मान्य विद्वानों के सम्मुख उसने तीन जटिल प्रश्न रखे, जिनका सम्बन्ध जीवन-मृत्यु से था।

वहाँ उपस्थित विद्वानों में से कोई भी इनके उत्तर न दे सका। अन्त में एक विद्वान् व्यक्ति काण्डविय की खोज की गई, जिन्होंने सभी प्रश्नों के समुचित उत्तर देकर विद्वन्मण्डली को सन्तुष्ट किया (3.2.2-5)।

यह आख्यायिका इस तथ्य की द्योतक है कि उस युग में ब्राह्मणों अथवा द्विजों के साथ अद्विज विद्यार्थी भी विद्या-संस्थानों में हुआ करते थे, यद्यपि अपनी योग्यता के प्रदर्शन के लिए उन्हें कठिन संघर्ष करना पड़ता था।

उच्चैःश्रवा कौपयेय की आख्यायिका—(3,6.1-3) :

इस आख्यायिका में मृत व्यक्ति के प्रकट होने और उपदेश देने का उल्लेख है जो ब्राह्मणों में सामान्यतः अचर्चित है। आख्यायिका संक्षिप्त रूप में यों है—

केशीदार्भ्य कुरुराज उच्चैःश्रवा कौपयेय के घनिष्ठ सम्बन्धी ही नहीं, प्रिय मित्र भी थे। उच्चैःश्रवा की एक दिन मृत्यु हो गई। शोक से कातर केशीदार्भ्य शोकापनयन—हेतु अरण्य को चले गये, जहाँ उन्होंने उच्चैःश्रवा कौपयेय को पुनर्जीवित रूप में देखा—मृत्यु से जिनके बाह्यरूप में कोई अन्तर नहीं आया था। आनन्दातिरेक से केशी दार्भ्य ने अपने प्रिय स्वर्गीय मित्र—जो उनके सम्मुख सशरीर खड़े थे—का आलिङ्गन तो किया, किन्तु उन्हें यह अनुभव हुआ कि जैसे वे वायु अथवा धूम का आलिङ्गन कर रहे हों।

उच्चैःश्रवा कौपयेय ने अपने पुनराविर्भाव के विषय में दार्भ्य को बतलाया कि वह वस्तुतः उस अशरीर (अनृच) साम के विषय में बतलाने के लिए अत्यन्त इच्छुक थे, जिसके कारण वह देवलोक में पहुँच सके। उन्होंने दार्भ्य को अनृच साम (स्तोभाक्षर मात्र पर आधृत) के विषय में उपदेश देकर किसी ऐसे उद्गाता की खोज करने के लिए कहा जो अनृच साम का विशेषज्ञ हो।

केशीदार्भ्य ने कुरु-पाञ्चाल जनपदों में ऐसे उद्गाता की बड़ी खोज की, किन्तु कोई नहीं मिला। अन्त में जब वह इसी चिन्ता में थे, तब उनकी भेंट एक ऐसे निगूढ़ और रहस्यमय व्यक्ति से हुई जो श्मशान के निभृत एकान्त में साधनारत था। अपने को सामवेदी बतलाने वाले इस व्यक्ति का नाम था प्रातृदभल्ल।

केशी ने व्यूढद्वादशाहयाग में इसे ही उद्गाता बनाया, जिस पर कुरु-पांचाल के ब्राह्मणों के अहंकार को ठेस लगी और उन्होंने केशी के इस कार्य के प्रति अपनी

अप्रसन्नता यह कहकर प्रकट की कि हमारे सदृश कुलीन ब्राह्मणों के रहते हुए इसे कैसे उद्गाता बना दिया गया ?—

'एषु ह वा अयं कुल्येषु सत्सूद्गास्यन्ति। कस्मा अयमलम् इति।'

इस आख्याबिका के ये प्रयोजन प्रतीत होते हैं :—

(1) अनूच साम की उच्च सामर्थ्य का निरूपण।

(2) परलोक और पुनर्जन्म ही नहीं, मृत्यु के अनन्तर भी अपने पूर्व शरीरधारण की आध्यात्मिक क्षमता का प्रतिपादन।

(3) श्मशान-साधना करने वाले साधकों की प्रतिष्ठा का निरूपण, जो तान्त्रिक साधना के किसी रूप से सम्बद्ध हो सकते हैं।

भगेरथ ऐक्ष्वाक की आख्यायिका :

राजा भगेरथ ऐक्ष्वाक किसी काम्ययाग के अनुष्ठान के लिए श्रेष्ठ ब्राह्मणों की खोज में थे। उसी अन्तराल में कुरु-पाञ्चाल जनपदों के ब्राह्मण उनके पास गये, जिनसे सामान्य शिष्टाचार के अनन्तर राजा ने पाँच यागविषयक प्रश्न पूछे, जिनके समुचित उत्तर बक दार्भ्य ने दिये। दार्भ्य को कुरु-पाञ्चाल जनपद के तत्कालीन ब्राह्मणों के मध्य श्रेष्ठ अनूचान समझकर राजा भगेरथ ऐक्ष्वाक ने अपने यज्ञ में उद्गातृ पद पर नियुक्त किया—(4.6.1.3)।

निष्कर्ष :

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण की इन आख्यायिकाओं के विवेचन से निम्नोक्त प्रमुख निष्कर्ष निकलते हैं :—

(1) आख्यायिकाओं का प्रमुख प्रतिपाद्य सामगानगत उद्गीथ तथा अन्य भक्तियों के बहुविध गौरव का प्रदर्शन है।

(2) इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण धार्मिक तथा आध्यात्मिक विश्वासों की प्रस्तुति है।

(3) आख्यायिकाओं का अधिष्ठान रहस्यात्मक तथा दार्शनिक है।

छान्दोग्योपनिषद्गत आख्यायिकाएँ

छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम पाँच अध्यायों में ओंकार एवं अन्य साम-भक्तियों तथा सामोपासनाओं का ही अत्यन्त विराट् अधिष्ठान पर विवेचन है, अतएव तद्गत आख्यायिकाओं में भी उद्गीथ एवं विभिन्न सामभक्तियों के अधिदैवत एवं आध्यात्मिक दृष्टि से निरूपण की चेष्टा परिलक्षित होती है।

इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण की भी उत्कृष्टता का प्रदर्शन आख्यायिकाओं में अत्यन्त संरम्भपूर्वक हुआ है (1.2-13)। शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण से

सम्बद्ध आख्यायिका में साम की गति से प्रारम्भकर आकाशसंज्ञक उद्गीथ की परम उत्कृष्टता का निरूपण हुआ है (1.8-9)।

छान्दोग्योपनिषद् की अन्य प्रमुख आख्यायिकाएँ इस प्रकार हैं—

उषस्ति का आख्यान—(1.10-11) :

कुरुजनपद के इभ्यग्रामवासी विद्वान् उषस्ति चाक्रायण को दुर्भिक्ष की अवस्था में महावत के उच्छिष्ट उड़द खाकर प्राण रक्षा करनी पड़ी। आख्यायिका का प्रमुख कथ्य साम-गान की विभिन्न भक्तियों के तात्त्विक ज्ञान की आवश्यकता का निरूपण है। कथा में देश, काल का अच्छा चित्रण है, जिससे सम्पूर्ण कथात्मक परिवेश अच्छा उभरा है और आख्यायिका अत्यन्त सप्राण हो उठी है।

शौवसामविषयक आख्यायिका– (1.12) :

इस आख्यायिका में क्षुधा-निवारण की कामना से शुनक-मण्डली को याग में बहिष्पवमान–हेतु प्रसर्पण की प्रक्रिया से साम-गान में निरत दिखाया गया है।

'ओ 3 मदा 3 ओं 3 पिबा 3 मों 3 देवो वरुण: प्रजापति: सविता 2 न्नमिहा 2 हरदन्नपते 3 ऽन्नमिहा 2 हरा 2 हरोममिति।'

विद्वानों के एक वर्ग का विचार है कि यह पुराकाल में प्रचलित किसी प्रहसन का संक्षिप्त रूप है। द्वितीय वर्ग का मत है कि इसमें भौतिक कामनाओं की पूर्ति–हेतु साम-गाम करने वालों पर व्यंग्य किया गया है। हमें भी यही द्वितीय मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

राजा जानश्रुति और रैक्व की आख्यायिका :

श्रद्धालु एवं उदारदानी राजा जानश्रुति पौत्रायण ने अपने प्रासाद के पटल से मल्लाक्ष नामक हंस के मुख से तत्कालीन प्रमुख तत्वज्ञानी रैक्व की प्रशंसा सुनकर उनकी खोज कराई। विजन में छकड़े के नीचे बैठकर खाज खुजलाते हुए रैक्व को स्वर्णादि भूयसी दक्षिणा के साथ अपनी कन्या को भी समर्पित कर जानश्रुति ने उनसे संवर्ग विद्या का ज्ञान प्राप्त किया।

सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका— (4.4-9) :

छान्दोग्योपनिषद् की यह अत्यन्त प्रसिद्ध आख्यायिका है, जिसका प्रयोजन शांकर भाष्य के अनुसार ब्रह्मोपासना में श्रद्धा और तपस्या की अंगरूपता का प्रदर्शन है—

'श्रद्धातपसोर्ब्रह्मोपासनाङ्गत्वप्रदर्शनायाख्यायिका।'

इस आख्यायिका में जननादिगत श्रेष्ठता की अपेक्षा सत्य-भाषणादि नैतिक गुणों पर आधृत श्रेष्ठता को महत्त्व दिया गया है। सत्यकाम की सत्यनिष्ठा से जहाँ उनके आचार्य प्रसन्न हुए, वहीं उनकी श्रद्धा और तपस्या से प्रसन्न होकर वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु ने उन्हें चतुष्पादसम्पन्न ब्रह्मतत्त्व का उपदेश दिया।

उपकोसल और श्वेतकेतु की आख्यायिकाएँ-(4.10):

शांकरभाष्य के अनुसार उपकोसल की आख्यायिका का प्रयोजन भी पूर्वोक्तवत् अर्थात् ब्रह्मविद्या में श्रद्धा और तप की साधनरूपता का प्रतिपादन है। 15 वर्ष तक निरन्तर आचार्यकुल में रहने पर भी सत्यकाम ने अपने शिष्य उपकोसल को समावर्तन की अनुज्ञा नहीं दी। उनकी पत्नी ने भी उन्हें एतदर्थ प्रेरित किया, तथापि जब आचार्य द्रवीभूत नहीं हुए, तब उपकोसल ने अनशन प्रारम्भ किया। अन्त में उपकोसल की परिचर्या से प्रसन्न होकर अग्नियों ने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु जब पाञ्चाल सभा में गया तो वहाँ वह राजर्षि जैवलि प्रवाहण के द्वारा पृष्ट परलोकविषयक प्रश्नों के उत्तर न दे सका और पिता के पास लौट आया। तदनन्तर पिता और पुत्र दोनों प्रवाहण के पास गये और परलोकविषयक तत्त्वज्ञान प्राप्त किया (5.3)।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत सी लघु आख्यायिकाएँ छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त हैं जिनका मूल प्रयोजन तत्त्वज्ञान का सरलता से प्रतिपादन है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यायिकाओं की राशिराशि निधि उपलब्ध होती है जिसमें इतिहास, पुराण, लोकतत्त्व और तत्त्वज्ञान की अत्यन्त रोचक प्रस्तुति है।

आख्यायिकाओं का यह विविधतापूर्ण संसार किसी भी पहले से बने-बनाये साँचे में निबद्ध नहीं किया जा सकता। इनमें जहाँ पुराणकथाएँ हैं, दैवतकथाएँ हैं; वहीं परी-कथा (Fairy Tale). दृष्टान्त-कथा (Parable) तथा नीति कथा (Fable) के भी अनेक लक्षण सरलता से देखे जा सकते हैं। प्रस्तुति में यदि प्रतीकात्मकता है तो सुग्राह्यता भी।

आख्यायिकाओं में लोकतत्त्वों के सम्मिश्रण ने इसमें रंजकता का संचार किया है ।

कथा-शिल्प की दृष्टि से, एक सभ्य और समुन्नत समाज की जैसी कथासृष्टि होनी चाहिए, विवेच्य आख्यायिकाएँ उससे सर्वथा युक्त हैं । ताण्ड्य में ब्राह्मण की आख्यायिकाओं की अपेक्षा जैमिनीय ब्राह्मण की आख्यायिकाएँ शिल्पगत सौष्ठव और अपेक्षित विस्तार से अधिक सम्पन्न हैं । इसके विपरीत ताण्ड्य ब्राह्मणकार ने आख्यायिकाओं के प्रस्तवन में शालीनता, मर्यादा और सन्तुलित दृष्टि का परिचय दिया है । जैमिनीय ब्राह्मण—सी उन्मुक्तता का इसमें आभास नहीं होता । समस्त रूप में कहा जा सकता है कि आख्यायिकाओं की इस विशाल सृष्टि ने ब्राह्मणग्रन्थ को अत्यन्त रोचक और हृदय-ग्राही बना दिया है । इनके अनुशीलन से उस भारतीय कथाकार-मानस के पूर्वरूप का सरलता से आभास प्राप्त हो जाता है, जिसने कालान्तर में बृहत्कथा, कथासरित्सागर और पञ्चतन्त्र जैसे अनुपम कथा-साहित्य की सृष्टि की ।

नवम परिच्छेद

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में निरूपित दार्शनिक तत्त्व और आचार-दर्शन

ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में दार्शनिक तत्त्व–ज्ञान का निरूपण अधिक नहीं है। इस प्रकार की सम्पूर्ण सामग्री का विश्लेषण करने पर उसे दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(1) सृष्टि-प्रक्रियाविषयक और (2) आचार-दर्शनात्मक विषय-वस्तु।

सृष्टि-प्रक्रिया :

ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के अनुसार सृष्टि से पहले अहोरात्र का अस्तित्व नहीं था। सम्पूर्ण वातावरण अंधकार से आच्छन्न था। अकेले प्रजापति, जिन्हें ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वकारणभूत स्रष्टा के रूप में प्रायः उल्लिखित किया गया है, विद्यमान थे। उनकी कामना ही विश्वसृष्टि की सम्भावनाओं की बीजरूप प्रतीत होती है, जिन्होंने सर्वप्रथम अंधकार में प्रकाश की कामना की।[1]

प्रजापति को तदनन्तर अपना अकेलापन अप्रिय प्रतीत हुआ और उन्होंने एक से अनेक होने की आशंका की। सृष्टिविषयक विचार करते समय उनके मूर्धभाग से आदित्य की उत्पत्ति हुई।[2]

प्रजापति की इस कामना को मूर्त्तरूप प्रदान करने में वाणी की महत्वपूर्ण भूमिका है। वाणी से पृथक्कृत तीन अक्षरों 'अ', 'क' तथा 'ह' से क्रमशः तीनों लोकों–भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक की सृष्टि हुई।[3] प्रारम्भ में ये लोक जीवन–हेतु भोग्य द्रव्यों से रहित थे, जिनकी कालान्तर से शनैः शनैः सृष्टि हुई, जिसका छान्दोग्योपनिषदादि में विस्तृत प्रस्तवन है।

---

1. प्रजापतिर्वा इदमेक आसीन्नाऽहरासीन्न रात्रिरासीत् सोऽस्मिन्नन्धे तमसि प्रासर्पत्।—तां० ब्रा० 16.1.1
2. प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति सोऽशोचत्तस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नोऽसृज्यत।—वही 6.5.1
3. तां० ब्रा० 20.14.2

सामवेदीय ब्राह्मणों में से षड्विंश और सामविधान में सृष्टि से पूर्व सर्वप्रथम प्रजापति का उल्लेख न प्राप्त होकर ब्रह्म की सत्ता का कथन है—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ।'[1]

ब्रह्म से निस्सृत रस से ब्रह्मा हुए, जिन्होंने मौन होकर ध्यान किया। उनका वह मनन स्वरूप ही प्रजापति के रूप में परिणत हो गया।[2] इस प्रकार षड्विंशोक्त सृष्टि-प्रक्रिया में प्रजापति से पूर्व ब्रह्म ही नहीं, ब्रह्मा का भी अस्तित्व बतलाया गया है। इस सन्दर्भ में प्रजापति का स्थान तृतीय है, जिनकी देह के शिर, हृदय, मध्य भाग और पादद्वय ही क्रमशः द्युलोक, अन्तरिक्ष, समुद्र और पृथिवी रूप में परिणत हो गये[3] और इसके अनन्तर अन्य भौतिक सृष्टि की शृङ्खला प्रारम्भ हुई--'स वा इदं विश्वंभूतमसृजत ।'[4]

ताण्ड्य के उपर्युक्त सूत्रभूत सृष्टि-विवरण का ही छान्दोग्योपनिषद् में विस्तार है जिसके अनुसार सृष्टि को पहले असत् अर्थात् अनभिव्यक्तरूपों वाली बतलाकर तदनन्तर उसकी कार्याभिमुखता का उल्लेख है। इसके पश्चात् एक अण्ड की कल्पना की गई है, जिसमें विभिन्न लोकों; समुद्र और आदित्य की उत्पत्ति का वर्णन है। आदित्य-सृष्टि के साथ जोर से शब्द होने और उसी से सम्पूर्ण प्राणियों और भोगों के उद्भव का निरूपण है।[5] ताण्ड्य ब्राह्मण में भी वाणी से ही भौतिक भोगों की उत्पत्ति वर्णित है।

इसी प्रकार षड्विंश ने जिस ब्रह्म का मात्र उल्लेख किया है, छान्दोग्य उपनिषद् में उसका साङ्गोपाङ्ग समुपबृंहण प्राप्त होता है।

आचार-दर्शन

ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर नैतिक भावना और उन्नत मनोभाव सन्निहित

---

1. (क) षड्० ब्रा०—'ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म चास्ताम् (1.1.1)
   (ख) सामविधान ब्राह्मण 1.1.1
2. सामविधान ब्राह्मण 1.1.3
3. वही (1.1.4)—'तस्य द्यौः शिर आसीद्, उरोऽन्तरिक्षं मध्यं समुद्रः पृथिवी पादौ ।'
4. वही 1.1.6
5. छा० उप० 3.19

हैं ।[1] डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार मनुष्य के कर्तव्य का भाव सबसे पहले ब्राह्मण ग्रन्थों में ही उदित होता है । जीवन एक प्रकार से कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का चक्र है ।[2]

अन्य ब्राह्मणों के समान ताण्ड्यादि सामवेदीय ब्राह्मणों में भी स्थान-स्थान पर मानवीय आचरण की दिशा को निर्दिष्ट करने वाले महत्त्वपूर्ण संकेत सुलभ होते हैं जिनके प्रवृत्ति और निवृत्तिगत विन्दुओं पर आचार-व्यवहार की सम्पूर्ण चेतना केन्द्रित की जा सकती है । इनके समन्ततः परिपालन से मनुष्य का दैनन्दिन व्यवहार और चारित्र्य ऊपर उठ सकता है ।

व्यष्टि और समष्टि के व्यवहार की सुदृढ़ आचार-संहिता के प्रस्तावक-रूप में सामवेदीय ब्राह्मणों में निहित नैतिक चेतना का स्तर अत्यन्त उच्च तथा परिष्कृत है । इनमें प्रायः उन सभी आवश्यक तथ्यों का ध्यान रखा गया है जो व्यक्ति के व्यवहार को आवश्यकतानुसार न केवल संयत बनाते हैं, अपितु उसे गरिमा से विमण्डित भी करते हैं ।

जीवन की यज्ञरूपता :

सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार मानवीय जीवन यज्ञरूप है, जिसमें वाणी होतृस्थानीय है, चक्षु अध्वर्यु हैं, मन ब्रह्मा है, श्रोत्र उद्गाता हैं, अन्य अंग चमसाध्वर्यु (सहायक ऋत्विक्) हैं और चक्षुओं के मध्य विद्यमान आकाश ही सदस्य है[3] ।

---

1. That life is a duty and a responsibilty is the central ethical teaching of the Brāhmanas. Man has a debt to pay to the gods, to the Rishis, to the manes, to men, and to the lower creatures...Thus, there is no lack of high moral sense and noble sentiments...Prayer and good works constitute godliness, which is the first requisite of a good life. Truthfulness in utterance and action is the foundation of moral life.

   —Apte, V. M. : Religion and Philosophy (The Vedic Age), P. 449

2. Indian Philosophy (1) (हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 119-20., राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, 1966

3. षड्विंश ब्राह्मण 2.6.2-3

षड्विंश में ही एक अन्य स्थान पर प्राणादि को होतृ-अध्वर्यु आदि कहा गया है । यज्ञमय जीवन बिताने का अभिप्राय है समस्त जागतिक प्रलोभनों से विरत रहकर त्याग का निरन्तर अभ्यास; वैयक्तिक सुख-सुविधाओं के आकर्षण का परिहार ही इसकी प्रक्रिया है और लक्ष्यबिन्दु है सामूहिक हितों का अनुष्ठान । जीवन के प्रत्येक कर्तव्य को एक यागगत क्रतु मानकर उसके विधिवत् सम्पादन से ही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त हो सकती है—

'ते देवाः प्रजापतिमुपाधावन्—'कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम' इति ।

तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून प्रायच्छत्—'एतैः लोकमेष्यथ ।'[1]

ताण्ड्य ब्राह्मण का वचन है—'विहाय दौष्कृत्यम्'[2]—अर्थात् जैसे सभी प्रकार के कुकृत्यों को त्यागने के अनन्तर ही यजमान और ऋत्विक् देवयजन (यज्ञशाला) में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जीवन-यज्ञ के अनुष्ठाताओं को भी दुष्कर्मों से विरत होने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए ।

सत्य, ज्ञान और तपस् का अनुष्ठान :

इन ब्राह्मणग्रन्थों की पंक्ति-पंक्ति में सत्य, ज्ञान और तपस्या पर बल दिया गया है । ताण्ड्य में कहा गया है—'ऋतपात्रमसि' (1.2.3)– सत्य-धारण के पात्र बनो; ऋतस्य सदने सीदामि' (1.2.2)—मैं सत्य के आगार में आसीन होता हूँ,. ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः'– सत्य के धाम बनो, वह स्वर्गिक सुख का प्रकाशक है । षड्विंश का वचन है—'त्रिषत्या हि देवाः—(1.1.9)—उन लोगों ने ही देवत्व को प्राप्त किया, जिनके मन, वाणी और कर्म—तीनों ही सत्ययुक्त रहे हैं । यज्ञ की देवी स्वाहा सत्य से ही उत्पन्न हुई है—'स्वाहा वै सत्यसम्भूता' (षड्० ब्रा० 5.7.2) ।

एक आख्यायिका के अनुसार जब देवगण असुरों से भयभीत हुए तो प्रजापति के समीप गये । प्रजापति ने उनके भय के अपनयन का उपाय मुख्यरूप से ऋत, सत्य, ज्ञान, ओङ्कारोपासना और त्रिपदा गायत्री के जप को बतलाया 'तस्य प्रजापतिरेतद् भेषजमपश्यत् ऋतं च सत्यं च ब्रह्म च ओङ्कारं च त्रिपदां च गायत्रीं ब्रह्मणो मुखमपश्यत् (षड्० ब्रा० 5.5.3) ।

सामविधान ब्राह्मण में कहा गया है कि सत्य बोलना चाहिए तथा अनार्यों के साथ सम्भाषण से बचना चाहिए—'सत्यं वदेत्, अनार्यैर्न सम्भाषेत' (1.2.7) ।

---

1. षड्० ब्रा० 1.1.15
2. तां० ब्रा० 1.1.3

देवताध्याय ब्राह्मण में प्रार्थना की गई है—'ब्रह्म सत्यं च पातु माम्' (1.4.5) —ज्ञान और सत्य मेरी रक्षा करें।

ताण्ड्य ब्राह्मणगत एक मन्त्र में मन को तेज, ज्ञान, कल्याणभाव और सत्य से संयुक्त करने की प्रार्थना देवों से की गई है, जिससे हम चारुतम वाणी बोल सकें—'संवर्चसा पयसा सन्तपोभिरगन्म हि मनसा संशिवेन संविज्ञानेन मनसश्च सत्यैर्यथा वोऽहं चारुतमं वदानीन्द्रो वो दृशे भूयासं सूर्य्यश्चक्षुषे वातः प्राणाय सोमो गन्धाय ब्रह्मक्षत्राय' (1.3.9)।

वाणी की शुद्धि के लिए किसी के पापपूर्ण कृत्य का कथन भी नहीं करना चाहिए—'यो वै पापं कीर्त्तयति तृतीयमेवांशं पाप्मनो हरति' (5.6.10)।

वाणी की यह शुद्धि तभी संभव है, जब मानसिक ध्यान कर उसका प्रयोग किया जाये, अर्थात् सोच विचार कर बोला जाये, जैसा कि ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है—'वाचं मनसा ध्यायेत्' (6.7.8) तथा 'मनस्तत्पूर्वं वाचो युज्यते मनो हि यद्धि मनसाऽभिगच्छति तद्वाचा वदति' (11.1.3)। वाणी और मन की एकता पर विचार करते हुए षड्विंश ब्राह्मण में कहा गया है कि ये दोनों उसी प्रकार परस्पराश्रित हैं, जैसे रथ के दो पहिए—एक पहिए के अभाव में रथ गमन नहीं कर सकता—

'वाचि तन्मनः प्रतिष्ठापयति। तद्यथैकवर्तनिना रथेन न काञ्चन दिशं तादृगेतत्' (1.5.5)

जिस पर मिथ्या-भाषण का आरोप लग जाता है, उसका मनुष्य ही नहीं, देवगण भी परित्याग कर देते हैं और उसके द्वारा प्रदत्त यज्ञाहुति को स्वीकार नहीं करते—

'देवता वा एतं परित्यजन्ति यमनृतमभिशसन्ति' (तां० ब्रा० 18.1.11)। इसीलिए ताण्ड्यकार ने ऋतपेय नामक एकाह के सन्दर्भ में ऋत्विकों के, सदोमण्डप में सत्यवचनों के उच्चारणपूर्वक ही प्रसर्पण का विधान किया है—

'ऋतमुक्त्वा प्रसर्पन्त्यृतेनैवेनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति' (18.2.9)

सत्य के साथ ही ज्ञान की महत्ता भी निरूपित है। षड्विंश का कथन है कि ज्ञान के गौरव से मनुष्य देवत्व की कोटि में पहुंच जाता है—

"अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः"
— (1.1.29)।

ज्ञानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करने वालों का यज्ञ निर्दोष होता है—'एवं विदुषो ह वै यज्ञो न व्यथते' (2.7.9)।

सामविधान ब्राह्मण की एक आख्यायिका के अनुसार मनुष्यों ने जब प्रजापति से पूछा कि हम स्वर्गलोक कैसे पहुँच सकते हैं ?—तो प्रजापति ने उन्हें वेदानुशीलन (स्वाध्याय) और तपस्या का मार्ग बतलाया।(1.1.17)।

स्वाध्याय की ही श्रेणी में सावित्री की उपासना भी सम्मिलित है, जिसके द्वारा मन के राग-द्वेषादि समस्त कलुषों का विनाश हो जाता है–

'दुष्टतादुरुपयुक्तान्न्यूनाधिकाच्च सर्वस्मात् स्वस्ति'।
(देवताध्याय ब्राह्मण 1.4.3)।

सामवेदीय ब्राह्मणों में आचार्य और विद्यार्थी के विषय में जिस विशिष्ट आचार–संहिता का विधान है, उसका सांस्कृतिक शेवधि के अन्तर्गत उल्लेख हो चुका है।

सत्य और ज्ञान के साथ ही ब्राह्मणों में तपस्या का गौरव भी भूयोभूयः प्रदर्शित है। तपोऽनुष्ठान से मानवीय चारित्र्य अत्यन्त समुज्ज्वल हो उठता है; क्योंकि इस भूतल पर जो कुछ है वह सब तपस्या से ही प्रादुर्भूत है, जैसा कि षड्विंश ब्राह्मण में कहा गया है–

'देवा वै तपोऽतप्यन्त। तेषां तप्यमानां रसोऽजायत। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति। तेऽभ्यतपन्। तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत' (5.1.2)।

—अर्थात् देवों की तपोमयी साधना से ही समस्त सारभूत तत्त्व (Ingredients) गार्हपत्याग्नि प्रभृति अग्नियाँ तथा अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। सत्य ही इस वसुन्धरा के अंक में जो कुछ भी श्रेष्ठ तथा प्रेष्ठ है, रमणीय और कमनीय है, शिव और सुन्दर है वह सब उन्हीं तपस्वियों का अवदान है, जिन्होंने स्वेच्छया पीड़ा के पथ का वरण किया। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार इसीलिए समस्त समृद्धियाँ तपोरत व्यक्तियों को ही प्राप्त हुईं—

"तपश्चितो देवाः सर्वामृद्धिमार्ध्नुवन्"– (15.5.3)

सामविधान ब्राह्मण के अनुसार भृत्यातिथि शेष भोजन करने, अपनी पत्नी से ही ऋतुकाल के समय शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्ति का अग्निहोत्र कभी लुप्त नहीं होता और उन्हें दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान का फल प्राप्त होता है।

इन आचारघटक तत्त्वों के निरूपण के साथ ही सामवेदीय ब्राह्मणों में उन दुर्बलताओं और विकृतियों का विवेचन भी हुआ है, जो मानवीय गरिमा के स्खलन की प्रतीक है।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि स्वर्ण-तस्कर, मद्यप, गुरु-स्त्रीगामी और किसी की हत्या करने वाले तो पतित हैं ही, इनसे सम्बन्ध रखने वाला भी पतित

हो जाता है—

'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति
चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरति" (4.10.9)

ताण्ड्य ब्राह्मण में चोर को समाज का शत्रु बतलाया गया है–
"ये वै स्तेना रिपवस्ते' (4.7.5)।

ताण्ड्य में ही उन लोगों को निकृष्टतम कहा गया है जो कृषि अथवा वाणिज्य प्रभृति जीविका प्रशस्त साधन को नहीं अपनाते (17.1.2)। इसी ब्राह्मण में एक स्थान पर साधु के वेश में रहने वाले भ्रष्ट और असामाजिक तत्त्वों का भी उल्लेख है (19.4.7)।

सामविधानब्राह्मणगत आचारपतन के द्योतक विभिन्न दोषों और उनके प्रायश्चित्तों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, जिनका प्रयोजन मनुष्य की सर्वथा शुद्धि और उसे मानसिक ग्लानि से मुक्त करना है।

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में मानव और उसकी सहज दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर पतित और निकृष्ट जनों को भी ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रकृत अचार-दर्शन के गम्भीर अनुशीलन के अनन्तर सामवेदीय सोमप्रवाक प्रभृति ऋत्विकों के स्वर में स्वर मिलाकर विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यह हमारे लिए परम आदरणीय, पापप्रणाशक, यशस्करस्तुति और भोग का साधक तथा सर्वस्व की प्राप्ति कराने वाला है। यह हमारी रक्षा करे; हममें प्रवेश करे तथा हम इसके परिपालन से अशेष भोगों की उपलब्धि करें।

ओ३म् महन्मे वोचो भर्गो मे वोचो यशो मे वोचः स्तोमं मे वोचो
भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्मावतु तन्माविशतु तेनभ्युक्षिषीय।
—(तां० ब्रा० 1.1.1)

ओ३म् पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

●

परिशिष्ट—१

ताण्ड्य ब्राह्मण में उल्लिखित सामों की सूची

क्रम	साम (साम संहितागत सन्दर्भ सहित)	तां० ब्रा० गत सन्दर्भ
1.	अङ्गिरसां संक्रोश (सा० सं० 1.525)	12.3.22
2.	अङ्गिरसां गोष्ठ (सा० सं 1.512)	13.9.24
3.	अच्छिद्र (सा० सं० 1.253)	14.9.35
4.	अदारसृत (1.1.32)	15.3.6
5.	अनुश्लोक (1.440)	5.4.10
6.	अन्तरिक्ष (1.239)	12.3.18
7.	अपान (1.318)	5.4.2
8.	अभीवर्त (1.236)	4.3.1 इत्यादि
9.	अरिष्ट (1.565)	12.5.22
10.	अर्कपुष्प (1.565)	15.3.22
11.	आकूपार (सा० सं 1.67)	9.2.13
12.	आकूपार (सा० सं० 1.345)	15.5.29
13.	अक्षार (1.391)	11.5.7
14.	आग्नेय त्रिणिधन (1.514)	13.3.21
15.	आङ्गिरस (1.518)	12.9.18
16.	आजिग (1.468)	15.9.6
17.	आज्यदोह (1.67)	21.2.1
18.	आतीषादीय (1.572)	12.11.15
19.	आथर्वण (1.33)	8.2.5
20.	आनूर (1.277)	13.3.16
21.	आन्धीगव (1.545)	8.5.12
22.	आभीक (1.467)	15.9.8
23.	आभीशव (सा० सं 1.512) (ग्रामेगेय 14.2.6)	12.9.15
24.	आभीशव (ग्रामेगेय) 14.2.5)	15.3.27
25.	आभ्राज	14.6.14
26.	आमहीयव (सा० सं 1.467; ग्रामेगेय-12.1.3)	7.5.1
27.	आमहीयव (साम सं० 1.232; ग्रामेगेय 6.1.25)	11.11.7

28.	आयास्य (सा० सं 1.511; ग्रामेगेय 14,1.25 तथा 28	11.8.9
29.	आयास्य (सा० सं 1.509; ग्रामेगेय 14.1.18)	14.12-5
30.	आयास्य तिरश्चीन निधन (ग्रामेगेय, 14.1.30; साम० सं० 1.5.11)	14.3.21
31.	आयु: (1.437)	5.4.12
32.	आर्षभ (1.161)	9.2.15
33.	आशु भार्गव (1.469)	14.9.9
34.	आश्वसाम (1.116)	10.3.4
35.	आश्वसूक्त (1.122)	15.5.8
36.	आष्टादंष्ट्र (1.343)	8.9.20
37.	आसित (सा० सं० 1.107)	14.11.18
38.	आसित (सा० सं० 1.93)	15.5.27
39.	इडानां संक्षार (1.119)	15.3.14
40.	इलान्द (आरण्य० 3.12)	5.3,1
41.	इषोवृधीय (1.472)	13.9.8,17
42.	इहवद् वामदेव्य (1.22)	13.9.26
43.	उत्सेध (1. 514)	15.9.10
44.	उद्वंशपुत्र (सा० सं० 1.446)	13.12.9
45.	उद्वंशीय (सा० सं 1.342)	4.2.10
46.	उद्वद्भार्गव (1.555)	14.9.39
47.	ऋष्यस्यसाम	5.4.13
48.	ऋषभ रैवत (1.160)	13.10.10
49.	ऋषभ शाक्वर (1.160)	8.5.17
50.	ऐटत (1.117)	14.9.15
51.	ऐध्मवाह (1.133)	15.6.2
52.	ऐषिर (1.406)	14.11.20
53.	ओकोनिधन (1.382)	5.8.7
54.	औक्ष्णोरन्ध्र (1.517)	13.9.18
55.	औदल (सा० सं० 1.160)	14.11.32
56.	और्णायव (1.476)	12.11.9
57.	और्ध्वसद्मन (1.545)	9,1.12
58.	औशन (सा० सं 1.523; ग्रामेगेय 15.1.32)	7.5.16

59.	औशन (सा० सं० 1.5; ग्रामेगेय 1.1.9)	14.3.15
60.	काण्वरथनन्तर (1.51)	14.11.16
61.	काक्षीवत (1.139)	9.2.5
62.	काण्व (1.157)	8.2.1
63.	अक्षरनिधन काण्व (1.261)	8.1.1
64.	अभिनिधन काण्व (1.261)	13.11.13
65.	कार्णश्रवस (1.169)	14.5.21
66.	कार्तयश (1.545)	8.3.1
67.	कालेय (1.408)	8.5.14
68.	काव (1.554)	9.2.21
69.	कौत्स (सा० सं० 1.381); ग्रामे० 10.1.26)	14.11.25
70.	कौत्स (सा० सं 1.162; ग्रामेगेय 5.1.4)	15.3.20
71.	कौल्मलबर्हिष (1·240)	13.5.14
72.	क्रोश (1.381)	11.10.18
73.	क्रौञ्च (सा० सं 1.546, 549; ग्रामेगेय 16.1.13)	9.7.1
74.	गायत्रसाम	14.9.25
75.	गायत्रपार्श्व (1.584)	9.2.16
76.	गार (1.214)	13.12.4
77.	गूर्द (1.448)	4.9.3
78.	गोराङ्गिरस (1.458)	14.3.18
79.	गौङ्गव (1.247)	11.5.21
80.	गौतम (सा० सं० 1.344, ग्रामेगेय 9.1.25	12.3.15
81.	गौतम (सा० सं० 1.42; ग्रामेगेय 2.1.1)	13.12.6
82.	गौतमस्य भद्र	5.7.1
83.	गौरीवित (सा० सं 1.168)	9.2.2
84.	गौरीवित शाक्त्य (सा० सं 1.156)	19.4.9
85.	गौषूक्त (1.122)	9.1.16
86.	धृतश्चुत्निधन (1.165)	13.5.11
87.	च्यावन (1.473)	4.2.19
88.	जराबोधीय	14.5.27
89.	जराबोधीय (सा० सं 1.15; ग्रामेगेय 1.1.26)	12.6.11
90	तैरश्च्य (1.346)	9.4.9
91.	तौरश्रवस (1.298)	4.2.10
92.	त्रैककुभ (1.389)	

93.	त्रैत (1.384)	14.11-21
94.	त्रैशोक (1.370)	8.1.8
95.	त्वाष्ट्र साम (1.547)	12.5.18
96.	दक्षनिधन (1.141)	14.5.12
97.	दावसुनिधन (1.119)	15.5.12
98.	दाशपत्य (1.540)	13.5.26
99.	दिवाकीर्त्यं (अनेक सामों का समूह)	4.6.13
100.	दीर्घतमसोऽर्कं (1.558)	15.3.34
101.	देवस्थान (1.164)	15.3.28
102.	दैर्घश्रवस (1.44)	15.3.24
103.	दैवातिथ (1.164)	9.2.18
104.	दैवोदास (1.159)	9.2.8
105.	द्वैगत (1.264)	14.9.31
106.	धर्मन (1.429)	14.11.34
107.	नवस्तोभ (1.437)	5.4.12
108.	नानद (1.352)	12.11.18
109.	नार्मेध (1.36)	8.8.21
110.	निधनकाम (1.152)	12.9.11
111.	निषेध (1.514)	15.9.11
112.	निहव (1.313)	5.8.2
113.	नौधस (1.236)	7.10.2
114.	पदस्तोभ (1.558)	13.5.21
115.	पार्थ (1.316)	13.5.19
116.	पार्थुरश्म (1.409)	13.4.18
117.	पावमान ऋषभ (1.467)	15.3.16
118.	षष्ठौह (1.471)	12.5.10
119.	पृष्ठसाम (1.239)	15.3.18
120.	पौरुमद्ग (1.39)	12.3.12
121.	पौरुहन्मन (1.273)	14.9.28
122.	पौष्कल (1.566)	8.5.6
123.	प्रजापतेर्हृदय (स्तोभाश्रित)	5.4.4
124.	प्रमंहिष्ठीय (1.107)	12.6.5
125.	प्राण (1.318)	5.21.1

126.	प्लव (1.511)	5.8.4
127.	बाभ्रव्य (1.467)	15.3.12
128.	बार्हदुक्थ (1.411)	14.9.37
129.	बृहत् (सा० सं० 1.233)	4.8.12
130.	बृहत्क (सा० सं० 1.401)	12.11·13
131.	भद्र (1.452)	5.1.19
132.	भरद्वाजस्य पृश्नि (सा० सं० 1.37)	12.10.23
133.	भरद्वाजस्य लोम (सा० सं 1.582)	13.11.11
134.	भर्ग (सा० सं० 1.258)	19.8.4
135.	भार्गव (प्रवत) (सा० सं० 1.557)	14.3.23
136.	भास (अरण्येगेय 6.1.8 की योनि पर आधृत)	4.6.14
137.	भास (ग्रामेगेय 13.1.5 पर तथा सा० सं० 1.4.70 पर आधृत)	6.6.8
138.	भ्राज	4.6.14
139.	मधुश्चुत् निधन (1.305)	13.11.16
140.	महादिवाकीर्त्य	4.6.14
141.	महानाम्नी	13.4.1
142.	महावैष्टम्भ (1.261)	12.4.19
143.	माधुच्छन्दस (सा० सं 1.165; ग्रामेगेय 5.1.12)	9.2.17
144.	माधुच्छन्दस (सा० सं० 1.302; ग्रामेगेय 8.1.23)	11.9.6
145.	मानव (1.54)	13.3.14
146.	मारुत (1.359)	14.12.8
147.	मार्गीयव (1.115)	14.9.11
148.	मैधातिथ (1.242)	15.10.10
149.	मौक्ष (पूर्वोल्लिखित दक्षनिधन)	
150.	यज्ञायज्ञीय (1.35)	4.2.20
151.	यण्व (1.198)	13.3.6
152.	यद्वाहिष्ठीय (1.86)	15.5.25
153.	यशस् (1.270)	19.8.4
154.	याम (सा० सं० 1.320)	5.4.11
155.	याम (आर्चिकगत आरण्यकाण्ड 3.4)	9.8.4
156.	याम (सा० सं 1.559)	11.10.20
157.	यौक्ताश्व (1.469)	11.8.7

158.	यौधाजय (1.511)	7.5.12
159.	रथन्तर (सा० सं० 1.233)	4.8.18
160.	रयिष्ठ (1.512)	14.11.30
161.	राजन (1.318)	5.2.6
162.	रायोवाजीय (1.409)	12.4.16
163.	रैवत (1.153)	5.8.12
164.	रोहितकूलीय (1.129)	14.3.11
165.	रौरव (सा० सं० 1.511)	7.5.11
166.	वारुण साम (सा० सं० 1.255)	13.9.22
167.	वषट्कारनिधन (सा० सं० 1.256)	8.1.1
168.	वसिष्ठस्य जनित्र (सा० सं० 1.241)	8.2.3
169.	वसिष्ठस्य निह्व (सा० सं० 1.313)	5.4.5
170.	वसिष्ठस्य प्रिय (सा० सं० 1.344)	12.12.9
171.	वाचस्साम (सा० सं० 1.580)	12.5.12
172.	वाजजित् (सा० सं० 1.517)	13.9.20
173.	वाजजित् (सा० सं० 1.554)	15.11.11
174.	वाजदावरी (सा० सं० 1.153)	13.9.12
175.	वात्स (सा० सं० 1.8)	14.6.5
176.	वात्सप्र (सा० सं० 1.317)	12.11.23
177.	वामदेव्य पंचनिधन (सा० सं० 1.169)	5.2.10
178.	वामदेव्य द्विहिङ्कार (सा० सं० 1.514)	14.9.22
179.	वाभ्र (सा० सं० 1.268)	13.3.18
180.	वारवन्तीय (सा० सं 1.17)	5.3.8
181.	वार्शं (सा० सं० 1.498)	13.3.11
182.	वासिष्ठ (सा० सं० 1.498)	11.8.13
183.	वासिष्ठ (सा० सं० 1.259)	15.3.33
184.	विकर्ण (आरण्यकाण्ड 5.2)	4.6.15
185.	विधर्म (सा० सं० 1.430)	15.5.31
186.	विलम्बसौपर्ण (सा० सं० 1.125)	14.9.19
187.	विशोविशीय (सा० सं० 1.87)	14.11.36
188.	विङ्क (सा० सं० 1.345)	14.6.9
189.	वैखानस (सा० सं० 1.243)	14.4.6
190,	वैतहव्य (सा० सं० 1.155)	9.1.8

191.	वैदन्वतानि (सा० सं० 1.475)	13.11.9
192.	वैयश्व (सा० सं 1.269)	15.3.26
193.	वैराज (सा० सं० 1.398)	7.8.11
194.	वैरूप (सा० सं 1.499)	7.8.10
195.	वैश्वमनस (सा० सं० 1.387)	15.5.19
196.	वैष्टम्भ (सा० सं० 1.471)	12.3.9
197.	व्रतपुत्र (सा० सं० 1.318)	5.4.3
198.	शङ्कु (सा० सं० 1.581)	11.10.12
199.	शाकल (सा० सं० 1.126)	13.3.9
200.	शाक्वर (महानाम्नी)	7.8.12
201.	साम्मद (सा० सं० 1.483)	15.8.10
202.	शार्कर (सा० सं० 1.400)	14.5.14
203.	शुद्धाशुद्धीय (सा० सं० 1.350)	14.11.27
204.	शैशव (सा० सं 1.467)	13.3.23
205.	श्येन (सा० सं० 1.379)	13.10.12
206.	श्यैत (सा० सं 1.235)	7.10.2
207.	श्रायन्तीय (सा० सं० 1.267)	8.2.9
208.	श्रुध्य (सा० सं० 1.99)	9.1.32
209.	श्रौतकक्ष (सा० सं० 1. 158)	9.2.7
210.	श्लोक (सा० सं० 1.439)	5.4.10
211.	संहित (सा० सं० 1.468)	8.4.8
212.	संकृति (सा० सं० 1. 239)	15.3.28
213.	सञ्जय (सा० सं० 1.419)	13.6.6
214.	सत्रासाहीय (सा० सं० 1.170)	5.4.7
215.	सत्रस्यर्द्धि (स्तोभाश्रित)	5.4.7
216.	सदोविशीय (सा० सं० 1.511)	18.4.8
217.	सन्तनि (सा० सं० 1.584तथा 585)	13.5.9
218.	सफ (सा० सं० 1.578)	8.5.6
219.	समन्त (सा० सं० 1.61)	15.4.6
220.	संवर्त (सा० सं० 1.393)	14.12.6
221.	साकमश्व (सा० सं० 1.7)	8.8.4
222.	साकमश्व (सा० सं० 1.193)	14.9.17
223.	साध्र (सा० सं० 1.248)	15.5.28

224.	साम्राज (सा० सं० 1.555)	15.3.35
225.	सीदन्तीय (सा० सं० 1.581)	11.10.12
226.	सुज्ञान (सा० सं० 1.572)	5.7.7
227.	सुरूप (सा० सं० 1.468)	14.11.10
228.	सैन्धुक्षित (सा० सं० 1.21)	12.12.5
229.	सोमसाम (सा० सं० 1.470)	10.3.8
230.	सौपर्ण (सा० सं० 1.125)	14.3.9
231.	सौभर (सा० सं० 1.408)	8.8.9
232.	सौमित्र (सा० सं० 1.388)	13.6.8
233.	सौमेध (सा० सं० 1.163)	9.2.20
234.	सौश्रवस (सा० सं० 1.145)	14.6.7
235.	सौहविष (सा० सं० 1.427)	14.5.24
236.	सौहविष (सा० सं० 1.427)	15.11.10
237.	स्वरसामानि (सा० सं० आरण्यकाण्ड 2.17)	4.4
238.	स्वाशिरामर्क (सा० सं० 1.468)	14.11.8
239.	हरिश्रीनिधन (सा० सं० 1.195)	15.3.9
240.	हारायण (सा० सं० 1.253)	14.9.33
241.	हारिवर्ण (सा० सं० 1.383)	8.9.1
242.	हाविष्कृत (सा० सं० 1.138)	15.5.17
243.	हाविष्मत (सा० सं० 1.138)	11.10.8

सहायक ग्रन्थ-सूची (BIBLIOGRAPHY)

वैदिक एवं संस्कृत ग्रन्थ

1. अथर्ववेद संहिता : (सायण-भाष्य सहित)— विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर (1960-64)
2. अर्थसंग्रह : मेरठ, सं० 2028 वि०
3. अथर्वप्रातिशाख्यम् : सं० डॉ० सूर्यकान्त, लाहौर, 1939
4. आश्वलायन श्रौतसूत्रम् : आनन्दाश्रम, पूना, 1917
5. आश्वलायन गृह्यसूत्रम् : आनन्दाश्रम, पूना, 1930
6. आपस्तम्ब श्रौतसूत्रम् : कलकत्ता, 1902
7. आपस्तम्ब गृह्यसूत्रम् : चौखम्बा, 1928
8. आर्षेयकल्पः (वरदराजकृत विवृति सहितः) : (1) सं० बे० रा० शर्मा, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, 1976
(2) सं० डब्ल्यू० कालन्द, लीपजिग, 1908
9. आर्षेय ब्राह्मण : (1) सं० बे० रा० शर्मा, के० सं० वि०, तिरुपति, 1967
(2) ed. by A.C. Burnell, 1876.
10. ईशादि नौ उपनिषद् : सं० गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2033
11. उपनिदानसूत्रम् : सं० मंगलदेवशास्त्री, सरस्वती भवन, बनारस, 1931
12. ऊहगानम्-ऊह्यगानम् : सं० पं० रामनाथ दीक्षित, काशी हि० वि० वि० बनारस, 1967
13. ऋक्तन्त्रम् : सं० सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1970
14. ऋक् प्रातिशाख्यम् (उव्वटभाष्यसहितम्) : सं० मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1931
15. ऋग्वेदसंहिता : वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1941
16. ऐतरेय आरण्यक : सं० ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, 1969
17. ऐतरेय ब्राह्मणम् : (सायण-भाष्य सहितम्), आनन्दाश्रम, पूना, 1931

18. ऐतरेयालोचनम् : सत्यव्रतसामश्रमी, कलकत्ता, 1906
19. काठक संहिता : सं० सातवलेकर, पारडी
20. कात्यायन श्रौतसूत्रम् : चौखम्बा, 1908
21. काव्यप्रकाश: : सं० आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल, काशी
22. कूर्मपुराणम् : सं० डॉ० गुप्त, काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी
23. कौषीतकि ब्राह्मणम् : आनन्दाश्रम, पूना
24. केन उपनिषद् (शांकरभाष्य सहित) : आनन्दाश्रम, पूना
25. कौथुमगृह्यम् : सं० सूर्यकान्त, ए०सो० कलकत्ता, 1956
26. कौथुमशाखीय प्रकृतिगानात्मक: प्रथमोभाग: कौथुमशाखीय प्रकृतिगानात्मको द्वितीयोभाग: } सं० रा० श० नारायण श्रौती, कांचीकामकोटिपीठाधिपति जगद्गुरुशंकराचार्य के द्वारा प्रकाशित, 1976
27. क्षुद्रकल्पसूत्रम् (श्रीनिवास-भाष्यसहितम्) : सं० बे० रा० शर्मा, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियापुर, 1974
28. खादिर गृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दवृत्तिसहितम्) : सं० महादेव शास्त्री, मैसूर, 1983
29. गायत्रविधानसूत्रम् : सं० बे० रा० शर्मा, विश्वेश्वरान्द संस्थान, होशियारपुर, 1971
30. गोपथब्राह्मणम् : सं० राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, 1872
31. गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका :
32. गोभिलगृह्यसूत्रम् : कलकत्ता, 1926
33. गौतमधर्मसूत्रम् : चौखम्बा, वाराणसी
34. चरणव्यूह: : चौखम्बा, 1938
35 चित्रमीमांसा : वाणी विहार, वाराणसी, 65
36. छान्दोग्य उपनिषद् : (शांकर भाष्य सहित), गीताप्रेस, सं० 2019
37. छान्दोग्य ब्राह्मण : (गुणविष्णु भाष्य सहित) — सं० दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता
38. जैमिनीयार्षेय-जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण : (1) सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1967
(2) सं० रामदेव, लाहौर, 1921
39. जैमिनीय ब्राह्मणम् : सं० डा० रघुवीर एवं लोकेश चन्द्र, सरस्वती विहार, 1954

40. जैमिनीयं सामगानम् : सं० वि० भू० भट्टाचार्य, संस्कृत वि० वि०, वाराणसी, 76

41. जैमिनीयं गृह्यसूत्रम् : (श्रीनिवासाध्वरिकृत सुबोधिनी व्याख्या सहितम्)—सं० कस्तूरि रंगाचार्य, मद्रास, 1898

42. जैमिनीय श्रौतसूत्र-वृत्ति : सं० प्रेमनिधि शास्त्री, दिल्ली, 1966

43. तंत्रवार्तिकम् : (शाबर भाष्य सहितम्)

44. ताण्ड्य महाब्राह्मणम् : (1) सं० पं० चिन्नस्वामिशास्त्री तथा पट्टाभिराम शास्त्री, दो भाग (1934 एवं 1936) चौखम्भा।

(2) सं० आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश, कलकत्ता 1870-74

(3) W. Caland : English Translation (पंचविंश ब्राह्मण or-The Brahmana of Twenty Five Chapters, Calcutta, 1931)

45. तैत्तिरीय संहिता : आनन्दाश्रम, पूना, 1934

46. तैत्तिरीय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम, पूना,

47. देवताध्याय ब्राह्मणम् : (1) सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1965

(2) A.C. Burnell; 1873, Basel Mission Press Mangalore.

(3) सत्यव्रतसामश्रमि, कलकत्ता।

48. द्राह्यायण श्रौतसूत्रम् : (धन्विन् के भाष्य सहित)— सं० बे० रा० शर्मा, गंगानाथ झा विद्यापीठ, प्रयाग।

49. नाट्यशास्त्रम् : ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1956

50. नारदीया शिक्षा : (भट्ट शोभाकर रचित भाष्य सहिता) पीताम्बरापीठ, दतिया, सं 2021 वि०

51. निरुक्तम् (दुर्ग वृत्ति सहितम्) : मनसुखरायमोर, कलकत्ता

52. निदानसूत्रम् : सं० कैलासनाथ भटनागर, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1971

53. पंचविधसूत्रम् : सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1970

54. पारस्करगृह्यसूत्रम् : (पञ्चभाष्यसहितम्)—गुजराती प्रेस, बम्बई।

55. पुष्पसूत्रम् : (1) सं० बे० रा० शर्मा (प्रथम एवं द्वितीय प्रपाठकमात्र), नेपाल रिसर्च सेंटर, काठमाण्डू, 1979
(2) अजातशत्रुकृत भाष्यसहितम्, चौखम्भा, 1929

56. प्रतिहारसूत्रम् : (वरदराजकृतदशतयीवृत्तिसमन्वितम्)—
(1) सं० बे० रा० शर्मा, 1973, तिरुपति
(2) सत्यव्रतसामश्रमी, उषा पत्रिका में 1897, कलकत्ता।

57. बृहद्देवता : चौखम्बा, 1963।

58. बृहदारण्यक उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर।

59. बौधायनगृह्यसूत्रम् : मैसूर, 1920

60. बौधायन श्रौतसूत्रम् : कलकत्ता, 1904

61. भागवतपुराणम् : गीताप्रेस, गोरखपुर।

62. भगवद्गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर।

63. महाभारतम् : सं० सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी।

64. मत्स्यपुराणम् : काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी

65. मन्त्रब्राह्मणम् : सं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता

66. मात्रालक्षणम् (विवरण सहितम्) : सं० वे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1970

67. मीमांसासूत्रम्

68. मैत्रायणी संहिता : सं० सातवलेकर, 1942

69. याज्ञवल्क्यस्मृति : चौखम्बा।

70. वंशब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : (1) सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1965
(2) A. Weber. Indische Studies
(3) A. C. Burnell, Mangalore.
(4) सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता।

71. वाजसनेयि संहिता : (उव्वट महीधर भाष्य सहिता)— मोतीलाल बनासीदास, 1971

72. व्याकरणमहाभाष्यम् : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

73. वेद-भाष्यभूमिका संग्रह (सायण-कृत) : सं० पं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, 1958

74. लाट्यायन श्रौतसूत्रम् : कलकत्ता, 1902
75. शतपथ ब्राह्मणम् : सं० ए० वेबर, चौखम्बा, (पुनर्मुद्रण)।
76. शाङ्खायनब्राह्मणम् : आनन्दाश्रम, पूना, 1911
77. श्रौतपदार्थनिर्वचनम् : सं० विश्वनाथ शास्त्री, Medical Hall Press, Benaras, 1919.
78. षड्विंश ब्राह्मणम् : (सायण भाष्य सहितम्)
(1) सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1967
(2) सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1873
(3) जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1881
(4) H. F. Eelsingh, Leiden, 1908
(5) English Translation by W. B. Bollee, 1956,
79. संहितोपनिषद् ब्राह्मणम् : (द्विजराज भट्ट तथा सायण-भाष्यों सहित), सं०—बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1965
80. संगीतरत्नाकर : शार्ङ्गदेवकृत
81. सामतन्त्रम् : सं० पं० रामनाथ दीक्षित, का० हि० वि० वि०, वाराणसी।
82. सामविधान ब्राह्मणम् : (1) सायण तथा भरतस्वामिकृत भाष्यों सहित, सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1965
83. सामवेद संहिता : (1) सं० पं० सातवलेकर, पारडी, 1939
(2) पं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता।
74. सामवेदार्षेय दीप (भट्ट-भास्कराध्वरीन्द्र प्रणीत) : सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, 1967

आधुनिक ग्रन्थ (हिन्दी) :

1. अथर्ववेद : एक साहित्यिक अध्ययन : त्रिवेदी, डॉ० मातृदत्त, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, 1973
2. धर्मशास्त्र का इतिहास : काणे, म० म० पी० वी०, हिन्दी समिति, लखनऊ
3. भारतीय दर्शन (प्रथम भाग) : मूल—डॉ० राधाकृष्णन, हिन्दी अनु०—न० कि० गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1966
4. भारतीय दर्शन : मिश्र, डॉ० उमेश 1975, उ० प्र० हिन्दी समिति, लखनऊ

5. भारतीय संस्कृति का विकास (दो भाग—वैदिक धारा, औपनिषद् धारा) : शास्त्री, डॉ० मंगल देव, वाराणसी, 1966

6. भारतीय ज्योतिष : (मूल मराठी—शंकर बालकृष्ण दीक्षित) हिन्दी अनु०—शिवनाथ, उ० प्र० हिन्दी समिति, लखनऊ

7. वेदत्रयी परिचय : मूल—सामश्रमी, सत्यव्रत, अनु० पाण्डेय, डॉ० ओमप्रकाश, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1975

8. वेदरहस्य (दो भाग) : श्री अरविन्द, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 1971

9. वेदान्त दर्शन : मूल—डायसन, पाल, अनु०–पाण्डेय, संगमलाल; उ० प्र० हि० ग्र० अ०, लखनऊ 1971

10. वैदिक व्याकरण (दो भाग) : डॉ० रामगोपाल, नेशनल–दिल्ली, 1965 तथा 1969

11. वैदिक वाङ्मय का इतिहास : (ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ) भगवद्दत्त तथा सत्यश्रवा, प्रणव प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974 तथा 1976

12. वैदिक धर्म एवं दर्शन (दो भाग) : (दि रिलीजन एण्ड फिलासफी वेद एण्ड उपनिषद्स) मूल—कीथ, आ० बे०, अनु०—सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965

13. वैदिक साहित्य और संस्कृति : उपाध्याय, आ० बलदेव, (तृ० सं०), काशी, 1967

14. वैदिक कोश : सूर्यकान्त, ब० हि० यू०, 1963

15. वैदिक माइथॉलाजी : मूल—मैक्डॉनेल, आर्थर एंथोनी, अनु०—रामकुमार राय, चौखम्बा, 1961

16. वैदिक व्याकरण : मूल—मैक्डॉनेल, आ० ए०, अनु० शास्त्री डॉ० सत्यव्रत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1971

17. वैदिक ऐतिह्य सामगान : (बंगला)—राज्येश्वर मित्र, जिज्ञासा, कलकत्ता, 1978

18. संगीतशास्त्र : शास्त्री, के० वासुदेव, हिन्दी समिति, लखनऊ 1958

19. संस्कृत साहित्य में नीति-कथा का उद्भव और विकास : कवठेकर, डॉ० प्रभाकर नारायण, चौखम्बा, 1969

20. संस्कृत व्याकरण : मूल—ह्विटनी, विलियम ड्वाइट, अनु० झा, मुनीश्वर, उ० प्र० हि० ग्र० अ० लखनऊ 1971

21. हिन्दू राजतन्त्र : मूल—जायसवाल, डा० काशी प्रसाद अनु०—वर्मा, रामचन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

ENGLISH-WORKS

1. A History of Sanskrit Literature
Macdonell. A. A., London, 1913.

2. A History of Indian Literature
winternitz. M. Vol. I. 1927. Calcutta.

3. Cassell's Encyclopaedia of Literature
ed. by Steinburg, S. N., London, 1953.

4. Chamber's Encyclopaedia

5. Collection of Fragments of the lost Brāhmanas
Ghosh, B, K., Calcutta, 1935,

6. Custom and Myth : Lang, Andrew. 1884,

7. Ethnology in Folk-lore : Gomme, G. L. 1892

8. History of Sanskrit Poetics
Kane, P. V., Motilal Banarsidass, 1961

9. Historical Development of Indian Music
PraJnānānand, Swāmy; Calcutta, 1960,

10. History of Musical Instrumemts : Clements, E.

11. Horward Classics : Popular Prose Fictions-by Robinson, F. N., ed. by Eliot Charles W.

12. India of Vedic Kalpa Sutras
Dr. Rām Gopāl, National publishing House, Delhi.

13. Introduction to the Study of Indian Music
Clements, E., London, 1913.

14. Regional Geography of India
Saxena, D. P., Grantham Kanpur, 1976

15. Ritual Literature : Hillebrandt.

16. Sacred Books of East (Vol. XII) : Eggling; Delhi.

17. Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit
Sankaran, A., Delhi.

18. State and Law in Vedic Period : Zimmer

19. Studies in the Brahmanas
Banerjee. A. C., Motilal Banarsidass. Delhi. 1963.

20. Studies in the Sāmaveda
Barend Faddegon; North Holland Publishing Company, Amsterdam, 1951.

21. The Vedic Age (History and Culture of Indian People, Vol. I ed. by Majumdar, R. C, Pusalkar. A. D., Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1965.

22. The Imperial Gazetteer of India (Vol. XXXI).

23. The Science of Folk-lore : Krappe, A. N., 1930.

ARTICLES

1. ऋक्सामसम्बन्ध विचार :
त्रिवेदी, डॉ॰ मातृदत्त, अजस्रा, लखनऊ, जुलाई, 1977

2. Jaiminiyn Brāhmana (1.53) on the Kāleya Sāman
Bodewitz, H. W. (Surabhi, Sreekrishna Sharma Felicitatioa Volume).

3. Music in the Vedic Age
Kshiti Mohan Sen Shastry (The Four Arts, Annual, Calcutta, 1935).

4. Notes on the Jaiminiya Brāhmana
Bodewitz, H.W. (Journal of the Royal Asiatic Society No. 2, 1977).

5. The Literature and Study of the Jaiminiya Sāmaveda (in Retrospect and Prospect)
Parpola, Asko, Studia Orientalia, XLIII : 6, Helsinki 1973.

6. The Practice of Sāmaveda

Bake, A. A.; 1935; Proceedings of the Seventh All India Oriental Conference, Baroda, Page 143–155.

7. The Fourth Priest in Vedic Ritual

Bodewitz, H.W. (Studies in the History of Religions, Leiden, E. J. Brill).

8, Sound Records of Samagānas : A Prospect and Retrospect

Apte, V.M., 1942–4, Bulletin of the Deccan College Rescarch Institute, Pages 296–314

9. Sāmagāna

Aiyar, M. S. Ramaswamy

(Journal of The Music Academy of Madras Vcl. V. 1934).

अभिमत

डॉ० ओम्प्रकाश पाण्डेय अनेक वर्षों से वेदसम्बन्धी शोध के क्षेत्र में परिश्रम कर रहे हैं। उनका प्रस्तुत ग्रन्थ वेद के अबतक ईषत्स्पृष्ट क्षेत्र को विद्वत्समाज के सम्मुख प्रस्तुत करता है। सामवेद और उससे सम्बद्ध पूर्ण वाङ्मय का साङ्गोपाङ्ग आलोचनात्मक विवेचन वेद के अध्येताओं के सम्मुख प्रथम बार एकत्र प्रकट हो रहा है। यह ग्रन्थ वैज्ञानिक शोधप्रविधि से लिखा गया है और इसमें समस्त विद्यमान शोधों का पूर्ण उपयोग किया गया है। पूर्वशोधों की यथोचित आलोचना भी की गई है। प्रथम बार सामवेद के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में इतनी व्यापक, सुव्यवस्थित सामग्री देखने का अवसर इस शोधग्रन्थ से प्राप्त हुआ है।

निःसन्देह इस ग्रन्थ के माध्यम से डॉ० ओम्प्रकाश पाण्डेय ने वेद के एक महत्त्वपूर्ण विषय को आलोकित किया है। इससे वैदिक शोध के क्षेत्र में एक चिरप्रतीक्षित कार्य सम्पन्न हुआ है। विद्वान् लेखक एतदर्थ बधाई के पात्र हैं।

- प्रो० कृष्णलाल

दिल्ली।